Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

Managerial Economics

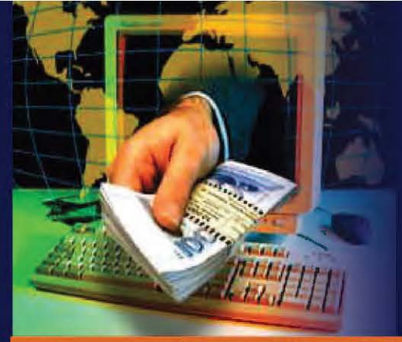

Institute of **Open** and **Distance Education**

Faculty of Commerce

Managerial Economics

1MCOM2

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY

Chhattisgarh, Bilaspur — A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

1MCOM2

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र

[MANAGERIAL ECONOMICS]

1MCOM2, Managerial Economics

Edition: March 2024

Compiled, reviewed and edited by Subject Expert team of University

1. Dr. Anshul Shrivastava

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

2. Dr. Abhinav Awasthi

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

3.Dr. Supriya Singh

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

Warning:

All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher.

Published by:

Dr. C.V. Raman University

Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.),

Ph. +07753-253801, 07753-253872

E-mail: info@cvru.ac.in

Website: www.cvru.ac.in

विषय सूची

इकाई - I

1. प्रवन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र 01
   (Nature and Scope of Managerial Economics)

इकाई - II

2. माँग की लोच 24
   (Elasticity of Demand)

इकाई - III

3. उत्पादन प्रकार्य (फलन) 55
   (Production function)

इकाई - IV

4. व्यापार चक्र 89
   (Business Cycles)

इकाई - V

5. लाभ प्रबन्ध 119
   (Profit Management)

क्र.	अध्याय	पृ.क्र.
	इकाई–I	
1.	प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र *(Nature and Scope of Managerial Economics)*	01
2.	आधारभूत आर्थिक अवधारणाएँ *(Fundamental Economic Concepts)*	12
	इकाई–II	
3.	माँग विश्लेषण *(Demand Analysis)*	24
4.	माँग की लोच *(Elasticity of Demand)*	36
5.	माँग की लोच की माप *(Measurement of Elasticity of Demand)*	51
6.	पूर्ति के नियम एवं पूर्ति की लोच *(Law of Supply and Elasticity of Supply)*	60
7.	उपभोक्ता पसंद सिद्धान्त *(Theory of Consumers Choice)*	70
8.	उदासीनता विश्लेषण *(Indifference Approach)*	78
9.	प्रकट अधिमान सिद्धान्त *(Revealed Preference Theory)*	106
	इकाई–III	
10.	उत्पादन प्रकार्य (फलन) *(Production function)*	115
11.	परिवर्तनशील अनुपात का नियम *(Law of Variable Proportion)*	123
12.	पैमाने का प्रतिफलन *(Returns to Scale)*	141
13.	स्थिर एवं परिवर्तनशील लागतें *(Fixed and Variable Costs)*	148
	इकाई–IV	
14.	व्यापार चक्र *(Business Cycles)*	159
	इकाई–V	
15.	लाभ प्रबन्ध *(Profit Management)*	190

●●●

अध्याय–1 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र

(NATURE AND SCOPE OF MANAGERIAL ECONOMICS)

NOTES

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 परिभाषाएँ एवं प्रकृति

1.3 प्रबंधकीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र

1.4 प्रबंधकीय अर्थशास्त्री के कर्तव्यों एवं उत्तदायित्वों की विवेचना

1.5 आधारभूत आर्थिक अवधारणायें

1.6 लाभ अधिकतमकरण सिद्धांत

1.7 सारांश

1.8 शब्दावली

1.9 अभ्यास प्रश्न

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है–

1. प्रबंधकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र को समझते हुए इसकी विवेचना करना।
2. आधारभूत आर्थिक अवधारणाओं को विभिन्न अवधारणाओं से अवगत कराना।
3. प्रबंधकीय अर्थशास्त्री के कार्यों को समझना।

1.1 प्रस्तावना

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एक नवीन विचारधारा है, जिसमें अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रयोग व्यावसायिक निर्णयों एवं भविष्य की आयोजनाओं में किया जाता है। चूँकि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के विश्लेषण का स्वभाव व्यक्तिगत होता है, क्योंकि इसमें समग्र का अध्ययन न करके केवल व्यावसायिक फर्म का अध्ययन किया जाता है। फर्म की माँग पूर्ति, लागत एवं आगम, कीमत निर्धारण, लाभ नीति आदि विषयों का समावेश होता है। इसी प्रकार प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति तुलनात्मक स्थैतिक होती है, क्योंकि इसमें विभिन्न सन्तुलन स्तरों की परस्पर तुलना की जाती है। समष्टि अर्थशास्त्र का अध्ययन व्यावसायिक प्रबन्धकों को उन बाह्य शक्तियों के साथ अपने व्यवसाय का यथा सम्भव सर्वोत्तम ढंग से समायोजन करने के योग्य बनाता है।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक है:-

1.2 परिभाषाएँ (Definitions)

(1) **मैकनेयर एवं मेरियम** के अनुसार, "प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र व्यावसायिक परिस्थितियों का विश्लेषण करने के लिए आर्थिक विचारों के प्रारूपों का उपयोग है।"

(2) **स्पेन्सर तथा सीगलमैन** के अनुसार, "व्यावसायिक अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र के सिद्धान्त तथा व्यापार पद्धति का इस उद्देश्य के साथ किया गया समन्वय है प्रबन्धकों को निर्णय लेने तथा भावी नियोजन करने की सुविधा है।"

NOTES

(3) जोलडीन के अनुसार, "व्यावसायिक अर्थशास्त्र फर्मों के आचरण का व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक अध्ययन है।"

(4) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र निर्णय लेने में प्रयोग होने वाले अर्थशास्त्र है। यह अर्थशास्त्र की एक विशिष्ट शाखा है जो निरपेक्ष सिद्धान्त तथा प्रबन्धकीय व्यवहार के बीच की घाटी के माध्यम सेतु बन्धन का कार्य करता है। यह समस्याओं के स्पष्टीकरण, सूचनाओं के संगठन एवं मूल्यांकन तथा वैकल्किक व्यवहारों की तुलना में आर्थिक विश्लेषण के उपकरणों के प्रयोग को अधिक महत्व दिया जाता है।

1.3 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की विशेषताएँ (Main Characteristics of Managerial Economics)

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र अपेक्षाकृत एवं नवीन विषय है। जिसमें प्रबन्धकीय निर्णयों एवं व्यावसायिक जटिलताओं के समाधान के लिए आर्थिक सिद्धान्तों एवं व्यवहारों का प्रयोग किया जाता है।

1. **सूक्ष्म अर्थशास्त्रीय स्वभाव** (Micro economic nature)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अध्ययन की विषय वस्तु व्यक्तिगत फर्म होती है इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत फर्मों की घटनाओं, समस्याओं एवं क्रियाओं का विश्लेषण करके उनकी नीतियों का निर्धारण किया जाता है। इस रूप में व्यावसायिक अर्थशास्त्र की प्रकृति सूक्ष्म अर्थशास्त्र की होती है इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का नहीं व्यक्तिगत फर्मों का अध्ययन किया जाता है।

2. **व्यापक अर्थशास्त्र का प्रयोग** (Use of Macro Economics)- यद्यपि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति सूक्ष्म अर्थशास्त्र की होती है। तथापि इसके अध्ययन में व्यापक अर्थशास्त्र भी समान रूप से उपयोगी है। व्यक्तिगत फर्मों की समस्याओं के अध्ययन में व्यापक अर्थशास्त्र भी समान रूप से उपयोगी है। व्यक्तिगत फर्मों की समस्याओं का अध्ययन करने में अनेक समाधान करने के लिए वातावरण का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक होता है जिसमें फर्में कार्य करती हैं। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक अर्थशास्त्री को सामान्य आर्थिक परिस्थितियों, औद्योगिक नीति, कर नीति विदेशी व्यापार नीति, राष्ट्रीय आय विश्लेषण आदि का भी ज्ञान किया जाता है। सभी व्यापक अर्थशास्त्र का विषय वस्तु है जिसमें अर्थशास्त्र भी समान रूप से उपयोगी रहता है।

3. **फर्म के सिद्धान्त का प्रयोग** (Use of theory firm)- व्यावसायिक अर्थशास्त्र का अध्ययन मुख्यतः कार्य फर्म के सिद्धान्त पर केन्द्रित है। इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत फर्म की माँग पूर्ति, उत्पादन लागत, मूल्य, पूँजी प्रबन्ध आदि समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। इसमें मुख्यतः इस तत्व पर जोर दिया जाता है।

4. **निर्देशात्मक प्रकृति** (Prospective nature)- व्यावसायिक अर्थशास्त्र की प्रकृति वर्णनात्मक न होकर निर्देशात्मक होती है इसके अन्तर्गत आर्थिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं किया जाता। यह अध्ययन किया जाता है कि इन सिद्धान्तों का प्रयोग व्यावसायिक अर्थशास्त्र आर्थिक सिद्धान्तों एवं व्यावसायिक समस्याओं के मध्य एक सेतु का कार्य करता है।

5. **व्यावहारिक दृष्टिकोण** (Practical approach)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र आर्थिक सिद्धान्तों एवं नियमों का केवल सैद्धान्तिक विवेचन ही नहीं करत वरन् उनका व्यावहारिक उपयोग भी करता है। व्यावसायिक अर्थशास्त्र के अन्तर्गत व्यावसायिक एवं प्रबन्धकीय समस्याओं के समाधान के लिए इन सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है।

6. **प्रबन्धकीय स्तर पर निर्णयन** (Decision making at managerial level)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र निर्णय लेने तथा नीति निर्धारण के कार्यों में विशेष रूप से उपयोगी होते हैं। इसके अध्ययन का मुख्य उद्देश्य ही व्यावसायिक फर्म की आर्थिक परिस्थितियों एवं समस्याओं को ध्यान में रखते हुए निर्णय लेने चाहिए।

7. **आदर्श अर्थशास्त्र** (Normative economics)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान की अपेक्षा आदर्श विज्ञान के रूप में अधिक उपयुक्त है। यह कहा जाता है कि उपेक्षा क्या होनी चाहिए पर अधिक जोर देता है। इसके अन्तर्गत यह निर्धारित किया जाता है कि वर्तमान परिस्थितियों में क्या किया जाना चाहिए।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति (Nature of business economics)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति को निम्न तीन भागों में विभाजित कर स्पष्ट किया जा सकता है:-

(I) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र विज्ञान है (Managerial Economics is Science)

विज्ञान ज्ञान की वह शाखा है जिसमें क्रमबद्ध तरीके से किसी तथ्य के कारण एवं परिणाम के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। विज्ञान में निम्न तत्वों का समावेश होना अत्यन्त आवश्यक है

(i) तथ्यों का क्रमबद्ध परिणामों पर आधारित होना।

(ii) निश्चित नियम एवं सिद्धान्त।

(iii) नियमों एवं सिद्धान्तों का कारण एवं परिणाम पर आधारित होना।

(iv) नियमों एवं सिद्धान्तों का सर्वव्यापक होना।

जो विद्वान प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को एक विज्ञान मानते हैं वे इसके पक्ष में निम्न तर्क देते हैं-

(i) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आर्थिक तथ्य क्रमबद्ध तरीके से एकत्र किये जाते हैं तथा उनका वर्गीकरण एवं विश्लेषण भी किया जाता है।

(ii) इसमें आर्थिक नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है तथा इनके आधार पर ही आर्थिक तथ्यों का विश्लेषण किया जाता है।

(iii) व्यावसायिक अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आर्थिक घटनाओं के कारणों एवं परिणामों के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

(iv) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के नियम एवं सिद्धान्त प्रायः सार्वभौमिक एवं सर्वव्यापक होते हैं।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एक विज्ञान है-विपक्ष में तर्क (Managerial Economic is a Science)

जो विज्ञान प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को विज्ञान मानने के पक्ष में नहीं है उनके तर्क निम्न प्रकार हैं-

(i) विभिन्न अर्थशास्त्रियों के विचारों में तीव्र मतभेद पाया जाता है।

(ii) निश्चित नियमों एवं सिद्धान्तों का अभाव है तथा भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न नियमों एवं सिद्धान्तों की आवश्यकता पड़ती है।

(iii) भावी घटनाओं का विश्वसनीय पूर्वानुमान नहीं लगाया जा सकता है।

(iv) विश्वसनीय आर्थिक तथ्यों एवं आँकड़ों का अभाव बना रहता है।

इसे विज्ञान न मानने के पक्ष में जो भी तर्क दिये गये हैं उनका कोई ठोस आधार नहीं है, इतना अवश्य है कि व्यावसायिक अर्थशास्त्र दिये गये। इसका भी मूल कारण यह है कि प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एक सामाजिक विज्ञान है और इसकी सामग्री उपभोक्ताओं एवं फर्म के व्यवहार का अध्ययन करती है।

(II) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र कला है (Managerial Economics is an Art)

कला से आशय किसी कार्य को ठीक प्रकार से करने की तकनीक, प्रो. कीन्स के शब्दों में कलावांछित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये नियमों की एक प्रणाली है। इस प्रकार कला यह सिखाती है कि पूर्व निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किसी कार्य को किस प्रकार किया जाना चाहिए। विज्ञान एक कला का अन्तर स्पष्ट करते हुए प्रोकोसा ने कहा है कि विज्ञान का काम खोज तथा व्याख्या करना है।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एक कला है

जो विद्वान प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को एक कला मानते हैं उनके तर्क निम्न प्रकार हैं-

(i) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र आर्थिक समस्याओं को एक कला मानता हैं, की हल का महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

(ii) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र विशुद्ध आर्थिक सिद्धान्तों के स्थान पर व्यावहारिक नीतियों के निर्माण पर अधिक जोर देता है।

(iii) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र यह भी निर्धारित करने में सहायता करता है कि फर्में अपने पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को किस प्रकार प्रभावशाली तरीके से प्राप्त कर सकती हैं।

(iv) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र इस सम्बन्ध में भी दिशा- निर्देश करता है कि फर्में अपने सीमित साधनों का किस प्रकार सर्वश्रेष्ठ उपयोग कर सकती हैं।

NOTES

(v) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को कला मान लेना, इसके वैज्ञानिक पक्ष कमजोर नहीं होता।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एक कला है-विपक्ष में तर्क
(Managerial Economic is an Art)

जो विद्वान प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को कला नहीं मानते हैं, उनके तर्क निम्न प्रकार हैं-

(i) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एवं कला दोनों अलग-अलग क्षेत्र एवं प्रकृति के विषय हैं अतः प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को कला मानना उचित नहीं है।

(ii) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का कार्य केवल निष्कर्ष निकालना है, नीति निर्धारित करना नहीं।

(iii) व्यवसाय की प्रत्येक समस्या के राजनीतिक एवं सामाजिक पहलू भी होते हैं।

(III) प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एक वास्तविक विज्ञान है या आदर्श विज्ञान
(Managerial economic is a positive science or variative science)

वास्तविक विज्ञान विज्ञान की वह शाखा है जो केवल वास्तविक स्थिति का अध्ययन करती है। समस्या के समाधान के लिये कोई सुझाव नहीं देता। वास्तविक विज्ञान केवल यह अध्ययन करता है कि वास्तविक विज्ञान क्या है?

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान
(Managerial economic is a Positive Science)

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का वास्तविक विज्ञान से सम्बन्ध तो है, परन्तु इसे निरपेक्ष रूप से वास्तविक विज्ञान नहीं कहा जा सकता है।

वास्तविक स्थिति का अध्ययन तो किया जाता है, परन्तु यह आर्थिक समस्याओं के समाधान से अलग नहीं रह सकता है।

आदर्श विज्ञान का अर्थ
(Normative Science)

आदर्श विज्ञान से आशय विज्ञान की एक ऐसी शाखा से है जिसका सम्बन्ध नीति-निर्धारण एवं दिशा- निर्देशों से है। इसके अन्तर्गत क्या होना चाहिये तथा क्या नहीं होना चाहिये, का अध्ययन किया जाता है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र निश्चित रूप से एक आदर्श विज्ञान है। इसके अन्तर्गत व्यावसायिक फर्म की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन एवं विश्लेषण किया जाता है। इन समस्याओं के हल के लिये प्रतियोगिता जैसे तत्वों का विश्लेषण करके आवश्यक नीतियों का निर्धारण किया जाता है। इसके अन्तर्गत यह निर्धारित करने का प्रयास किया जाता है।

1.4 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का क्षेत्र (Scope of Managerial Economics)

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र अपेक्षाकृत एक नवीन विषय है। इसके क्षेत्र के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। इतना तो सुनिश्चित है कि इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसके अन्तर्गत प्रबन्धकीय जगत की सभी क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है तथा आर्थिक समस्याओं को खोजने का प्रयास किया जाता है।

(1) **माँग विश्लेषण एवं पूर्वानुमान** (Demand analysis and forecasting)- माँग विश्लेषण व्यावसायिक अर्थशास्त्र के अध्ययन का एक प्रमुख आधार है। इसके अन्तर्गत माँग से सम्बन्धित निम्न विषयों का अध्ययन किया जाता है-

(i) माँग की प्रकृति, (ii) माँग का निर्माण, (iii) माँग का नियम,
(iv) माँग विभेद, (v) माँग का पूर्वानुमान।

(2) **उत्पादन विश्लेषण** (Production analysis)- माँग एवं पूर्ति के मध्य प्रभावी सामंजस्य स्थापित करने के लिए उत्पादन विश्लेषण की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में उत्पादन निम्न विषयों से सम्बन्धित अध्ययन किया जा सकता है-

(i) उत्पादन की मात्रा एवं किस्म, (ii) उत्पादन फलन,

(iii) उत्पादन का नियम, (iv) पैमाने के प्रतिफल।

(3) **लागत विश्लेषण** (Cost analysis)- प्रबन्धकीय सफलता का एक प्रमुख आधार लागत नियंत्रण है। लागत पर प्रभावी नियन्त्रण रखने के उद्देश्य से व्यावसायिक अर्थशास्त्र के अन्तर्गत निम्न विषयों का अध्ययन किया जाता है-

(i) लागत के अंग, (ii) लागत के निर्धारण तत्व,

(iii) लागत-उत्पादन सम्बन्ध, (iv) रेखीय कार्यक्रम आदि।

(4) **मूल्य निर्णय एवं नीति** (Pricing decision and policies)- मूल्य सम्बन्धी निर्णय एवं नीतियाँ व्यावसायिक सफलता का एक अन्य महत्वपूर्ण आधार हैं। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत निम्न विषयों का अध्ययन किया जाता है-

(i) विषय नीतियाँ, (ii) मूल्य के निर्धारक तत्व,

(iii) बाजार की विभिन्न अवस्थाओं के अन्तर्गत मूल्य निर्धारण,

(iv) मूल्य प्रतियोगिता, (v) मूल्य विभेद,

(vi) उत्पादक श्रेणी-मूल्य निर्धारण।

(5) **उपभोक्ता व्यवहार का अध्ययन** (Study of consumer behaviour)- प्रत्येक व्यावसायिक फर्मे की सभी आर्थिक क्रियाओं का केन्द बिन्दु उपभोक्ता व्यवहार होता है। उपभोक्ताओं की सन्तुष्टि ही फर्म की सफलता का मार्ग प्रशस्त करती है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत उपभोक्ता व्यवहार से सम्बन्धित निम्न पहलुओं का अध्ययन किया जाता है-

(i) उपभोक्ताओं की आदत एवं रुचि, (ii) उपभोक्ताओं का प्राथमिकता अधिमान,

(iii) उपभोक्ताओं की आय, (iv) समाज से आय एवं धन का वितरण,

(v) उपभोक्ता व्यवहार को प्रभावित करने वाले तत्व।

(6) **पूँजी प्रबन्ध** (Capital Management)- व्यवसाय की आर्थिक सफलता का एक महत्वपूर्ण आधार पूँजी प्रबन्ध की प्रभावशीलता है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत पूँजी प्रबन्ध से सम्बन्धित निम्न पहलुओं का अध्ययन किया जाता है -

(i) पूँजी नियोजन, (ii) पूँजी की प्राप्ति के विभिन्न स्रोतों का विकास,

(iii) पूँजी की प्राप्ति के सर्वश्रेष्ठ साधन का चयन, (iv) पूँजीगत बजटन,

(v) स्थायी एवं कार्यशील पूँजी का प्रबन्ध।

(7) **लाभ प्रबन्ध** (Profit Management)- लाभ को व्यावसायिक सफलता की कसौटी एवं मापदण्ड माना जाता है। जटिल समस्याओं की परिस्थितियों एवं अनिश्चित आर्थिक वातावरण में लाभ का नियोजन एवं प्रबन्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण, लेकिन कठिन कार्य है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत लाभ से सम्बन्धित निम्न पहलुओं का अध्ययन किया जाता है-

(i) लाभ पूर्वानुमान, (ii) लाभनीति, (iii) लाभ-दर, (iv) लाभ स्थायित्व।

(8) **प्रतियोगिता एवं बाजार विश्लेषण** (Completion and market analysis)- प्रत्येक फर्म के जटिल आर्थिक वातावरण एवं प्रतियोगितात्मक वातावरण में कार्य करना पड़ता है। प्रतियोगिता एवं बाजार विश्लेषण के अभाव में व्यावसायिक सफलता की कल्पना निरर्थक है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र से इन विषयों से सम्बन्धित निम्न विषयों का अध्ययन किया जाता है- देश के सामान्य आर्थिक वातावरण का अध्ययन।

(9) **व्यापक अर्थशास्त्र का अध्ययन** (Study of macro economics)- प्रत्येक व्यक्तिगत फर्म सम्पूर्ण उद्योग एवं अर्थव्यवस्था का एक भाग होता है। फर्म की सफलता के लिए सम्पूर्ण आर्थिक वातावरण का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक होता है-

(i) औद्योगिक नीति, (ii) लाइसेंसिंग नीति, (iii) आयात-निर्यात नीति,
(iv) श्रम नीति, (v) करारोपण नीति, (vi) मूल्य स्तर आदि।

NOTES

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का महत्व
(Importance of Managerial Economics)

प्रत्येक व्यावसायिक फर्म के पास जो संसाधन उपलब्ध होते हैं वे सीमित मात्रा में होते हैं तथा उनके वैकल्पिक उपभोग संभव होते हैं। आर्थिक एवं व्यावसायिक जगत् में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की विशिष्ट भूमिका है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत फर्मों की क्रियाओं का अध्ययन एवं विश्लेषण करके इनकी आर्थिक समस्याओं का समाधान करने के लिए आर्थिक नियम एवं सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है। इन सीमित संसाधनों की सहायता से ही फर्म निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रयास करती है। इनका प्रभावपूर्ण एवं मितव्ययी उपयोग किया जाता है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र इसी सम्बन्ध में फर्म को दिशा-निर्देश करती है।

(1) **नियोजन में सहायक** (Helpful planning)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र फर्म की भूतकालीन घटनाओं एवं परिणामों का विश्लेषण करके नियोजन के लिए आधार तैयार करता है तथा भविष्य के सम्बन्ध में पूर्वानुमान लगाता है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र फर्म की योजनायें बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह विभिन्न वैकल्पिक योजनाओं में से सर्वश्रेष्ठ योजना का चयन भी करता है।

(2) **संगठन में सहायक** (Helpful is organising)- फर्म की निर्धारित योजना के अनुरूप विभिन्न विभाग एवं पक्षों के मध्य अधिकारों एवं दायित्वों का समुचित विभाजन करके प्रबन्धकीय आशास्त्र संगठन में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के अन्तर्गत इन विभागों एवं पक्षों की कार्यकुशलता की माप भी की जाती है।

(3) **संवाहन में सहायक** (Helpful is communication)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र फर्म के सम्बन्ध में आवश्यक निर्णय लेने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसके अन्तर्गत निर्णयन का आधार तैयार किया जाता है। विभिन्न विकल्पों का विकास किया जाता है तथा इन विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चुनाव किया जाता है। फर्म के लिये माँग उत्पादन, लागत।

(4) **निर्णयन में सहायक** (Helpful in decision making)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र फर्म के सम्बन्ध में आवश्यक निर्णय लेने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसके अन्तर्गत निर्णयन का आधार तैयार किया जाता है। विभिन्न विकल्पों का विकास किया जाता है तथा इन विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चुनाव किया जाता है। फर्म के लिये माँग, उत्पादन लागत, मूल निर्धारण जैसे महत्वपूर्ण निर्णय प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की सहायता से ही लिये जाते हैं।

(5) **पूर्वानुमान में सहायक** (Helpful in forecasting)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र आर्थिक पूर्वानुमान लगाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इसके अन्तर्गत भूतकालीन परिणामों का विश्लेषण करके वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों में भविष्य के लिए पूर्वानुमान लगाना।

(6) **नियन्त्रण में सहायक** (Helpful in controlling)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र समय-समय पर यह भी देखता है कि फर्म के कार्य पूर्व निर्धारित योजनाओं के अनुरूप रहे हैं अथवा नहीं। इसके अन्तर्गत विभिन्न विभागों एवं अधिकारियों के कार्यों का मूल्यांकन करके उनमें पाये जाने वाले दोषों को दूर किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में लागत नियन्त्रण मूल्य नियन्त्रण तथा प्रबन्धकीय नियन्त्रण आदि तकनीकों पर जोर दिया जाता है।

(7) **अनिश्चितता में निश्चितता** (Certainity in uncertainity)- वर्तमान आर्थिक युग अनेक अनिश्चितताओं एवं जोखिमों में भरा हुआ होता है। यद्यपि इन अनिश्चितताओं एवं जोखिम को समाप्त तो नहीं किया जा सकता। तथापि इन्हें न्यूनतम करके सफलता की सभावना को बढ़ाया अवश्य जा सकता है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र इन अनिश्चितताओं एवं जोखिम को न्यूनतम करने में सराहनीय भूमिका निभाता है।

(8) **सिद्धान्त एवं व्यवहार के मध्य समन्वय** (Coordination betwcen theory and practice)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र आर्थिक सिद्धान्तों को व्यावहारिक रूप प्रदान करता है। इसके अन्तर्गत फर्म की आर्थिक समस्याओं एवं प्रबन्धकीय समस्याओं को सुलझाने के लिए आर्थिक नियमों एवं सिद्धान्तों को अपनाया जाता है। व्यापार एवं वाणिज्य जगत को जटिल आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिए होता है।

(9) **बाह्य आर्थिक जगत को समझने में सहायक** (Helpful in understanding external factors)- यद्यपि प्रत्येक व्यावसायिक फर्म व्यक्तिगत रूप में कार्य करती है तथापि उस पर बाह्य आर्थिक जगत का भी महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। कोई भी फर्म औद्योगिक नीति, करारोपण नीति, श्रम नीति, आयात-निर्यात नीति तथा सामान्य आर्थिक वातावरण से प्रभावित नहीं कर सकता। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र इन सभी का अध्ययन एवं विश्लेषण करता है।

(10) **प्रबन्ध के सामाजिक उत्तरदायित्व को प्रेरित करना** (To induce the social responsibility of management)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र ने केवल आर्थिक क्षेत्र में ही प्रबन्ध का दिशा- निर्देश करता है बल्कि उसे सामाजिक उत्तरदायित्व का बोध भी करता है। इन नाते फर्म की आर्थिक नीतियाँ इस प्रकार निर्धारित की जाती हैं कि राष्ट्र के उपलब्ध संसाधनों का अधिकतम उपयोग हो सके। श्रमिकों को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो सके।

बोध प्रश्न

1. प्रबंधकीय अर्थशास्त्र को परिभाषित कीजिए।

.....

.....

.....

2. प्रबंधकीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र को समझाइये।

.....

.....

.....

1.5 प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री के कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों की विवेचना (Duties and responsibilities of managerial economist.)

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के ज्ञाता को ही प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र कहा जाता है। आधुनिक युग में व्यापार एवं वाणिज्य के प्रगतिशील आकार एवं जटिल आर्थिक समस्याओं के परम्परागत अर्थशास्त्र के एक नये रूप को जन्म दिया है। इस नये रूप को प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र कहा जाता है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र परम्परागत अर्थशास्त्र का वह रूप है जिसके अन्तर्गत व्यावसायिक संस्थाओं की समस्याओं के समाधान, भावी नियोजन एवं निर्णयन के लिए आर्थिक नियमों, सिद्धान्तों एवं तकनीकी का प्रयोग किया जाता है जिसकी नियुक्ति सर्वोच्च उच्चाधिकारियों को आर्थिक नियोजन, निर्णयन एवं नियन्त्रण में सहायता प्रदान करता है।

वह विकल्पों की खोज करता है। सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चुनाव करता है तथा नियन्त्रण प्रक्रिया को प्रभावी बनाता है। व्यावसायिक प्रगति के इस युग में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के महत्व को पर्याप्त रूप से स्वीकार किया जाता है। विश्व के सभी विकसित एवं विकासशील देशों में बड़ी-बड़ी व्यावसायिक फर्में एक या अधिक अर्थशास्त्र की नियुक्ति करती हैं। हमारे देश में धीरे-धीरे प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के महत्व एवं आवश्यकता को स्वीकार किया जाने लगा।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री (कार्य अथवा भूमिका) [Managerial Economist (Function or Role)]

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र आर्थिक नियोजन, निर्णयन एवं नियन्त्रण में उच्च प्रबन्ध की सहायता करता है। वह आर्थिक अनिश्चितताओं एवं जोखिमों को न्यूनतम करने का प्रयास करता है। आधुनिक व्यावसायिक युग में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यही कारण है कि वर्तमान समय में प्रत्येक बड़ी व्यावसायिक फर्म एक या अधिक प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री की नियुक्ति करती है।

(1) **आन्तरिक तत्वों का विश्लेषण** (Analysis of internal factor)- प्रत्येक व्यावसायिक फर्म का संचालन एवं नियन्त्रण दो प्रकार के तत्वों से प्रभावित होता है- आन्तरिक तत्व एवं बाह्य तत्व।

आन्तरिक तत्वों से आशय उन तत्वों से है जो किसी फर्म के अन्दर ही उत्पन्न होते हैं तथा जिन पर फर्म का प्रभावी नियन्त्रण होता है जैसे उत्पादन की मात्रा, उत्पादनों के साधनों का आबंटन, व्यापार का विस्तार एवं संकुचन, पूँजी प्रबन्ध, लाभ प्रबन्ध आदि। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को इन सभी तत्वों का विश्लेषण करके उच्च प्रबन्धकों को इनके

NOTES

सम्बन्ध में आवश्यक परामर्श देना होता है तथा आवश्यक निर्णय लेने होते हैं। इस सम्बन्ध में प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की भूमिका को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जाता है-

(i) आगामी वर्ष के लिए विक्रय बजट का निर्धारण।

(ii) आगामी वर्ष के लिये उत्पादन कार्यक्रम का निर्धारण।

(iii) स्कन्ध नीति का निर्धारण एवं स्कन्ध के स्तरों का निर्धारण।

(iv) श्रम योजना तैयार करना तथा मजदूरी नीति निर्धारित करना।

(v) मूल्य नीति का निर्धारण।

(vi) विक्रय नीति, वितरण नीति एवं भण्डारण नीति निर्धारित करना।

(vii) साख नीति का निर्धारण।

(viii) व्यापार के विस्तार एवं संकुचन के सम्बन्ध में निर्णय लेना।

(ix) लागत को न्यूनतम करने के सम्बन्ध में आवश्यक कदम उठाना।

(x) विज्ञान एवं विक्रय संवर्द्धन कार्यक्रम निर्धारित करना।

(2) **बाह्य तत्वों का विश्लेषण** (Analysis of external factor)- बाह्य तत्व से आशय ऐसे तत्वों से है जो न तो फर्म के कार्यक्षेत्र में आते हैं तथा न ही फर्म का इन पर कोई नियन्त्रण होता है। जैसे व्यापार चक्र, औद्योगिक नीति, श्रम नीति, आयात-निर्यात नीति, मूल्य स्तर नीति आदि। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को इन सभी तत्वों का निरन्तर अध्ययन करना होता है तथा इसका विश्लेषण करके उच्च प्रबन्धकों, को इसके सम्बन्ध में आवश्यक परामर्श देना होता है।इसे निम्न प्रकार से स्पष्ट की किया जा सकता है-

(i) सरकार की औद्योगिक नीति, लाइसेंसिंग नीति आदि में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करना एवं इनके प्रभावों से अवगत कराना।

(ii) राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में व्यापार-चक्रों की सम्भावनाओं से अवगत कराना।

(iii) सरकार की करारोपण नीति, मौद्रिक नीति, राजकोषीय नीति, आयात-निर्यात नीति आदि में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करना एवं इनके प्रभावों से अवगत कराना।

(iv) संस्था से सम्बन्धित नियमों एवं अधिनियमों में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करना एवं इनके प्रभावों से अवगत कराना।

(v) बाजार की गतिविधियों के सम्पर्क में रहना तथा उनमें होने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तनों से अवगत कराना।

(vi) प्रतियोगिताओं की नीतियों एवं क्रियाओं के सम्पर्क में रहना तथा उनमें होने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तनों से अवगत कराना।

(vii) राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में होने वाले महत्वपूर्ण परिवर्तनों का अध्ययन करना तथा इनके प्रभावों से अवगत कराना।

(viii) संस्था की माँग, पूर्ति, लागत तथा मूल्य की स्थिति में होने वाले सम्भावित परिवर्तनों का अनुमान लगाना एवं इस सम्बन्ध में आवश्यक कदम उठाना।

(3) **प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री के विशिष्ट कार्य** (Specific function of Managerial Economist)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री संस्था के आन्तरिक एवं बाह्य तत्वों का विश्लेषण करके उनके सम्बन्धों में उच्च प्रबन्धकों को परामर्श देने के अतिरिक्त अनेक अन्य महत्वपूर्ण कार्य भी करता है। श्री के.जे. डब्ल्यू एलेक्जेण्डर एवं जे. केम्प एलेक्जेण्डर ने प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का निम्न वर्णन किया है-

(i) विक्रय पूर्वानुमान लगाना।

(ii) बाजार शोधकार्य कराना।

(iii) प्रतियोगी फर्मों की आर्थिक गतिविधियों का विश्लेषण करना।

(iv) मूल्य सम्बन्धी समस्याओं का विश्लेषण करना एवं उनका समाधान खोजना।

(v) पूँजीगत योजनायें तैयार करना एवं पूँजी की व्यवस्था करना।

(vi) प्रतिभूति एवं विनियोग का विश्लेषण करना।

(vii) व्यापार एवं जनसम्पर्क के सम्बन्ध में आवश्यक परामर्श देना।

(viii) कच्ची सामग्री के सम्बन्ध में परामर्श देना।

(ix) विदेशी विनिमय के सम्बन्ध में परामर्श देना।

(x) अल्प विकसित अर्थव्यवस्थाओं का विश्लेषण करना।

(xi) आर्थिक वातावरण सम्बन्धी पूर्वानुमान लगाना।

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के कर्त्तव्य
(Duties of Managerial Economist)

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र एक फर्म का अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उत्तरदायी अधिकारी होता है। वह आर्थिक नियोजन एवं नियन्त्रण में उच्च प्रबन्ध की सहायता करता है। वह बाह्य आर्थिक जगत् एवं फर्म के आन्तरिक आर्थिक वातावरण के मध्य सेतु का कार्य करता है।उसके उत्तरदायित्वों अथवा कर्त्तव्यों को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

(1) **प्रबन्ध के प्रति दायित्व अथवा कर्त्तव्य** (Responsibilities or duties towards management)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र आर्थिक नियोजन, निर्णयन एवं नियन्त्रण में प्रबन्धकों की सहायता करता है। प्रबन्धकों के प्रति उसके प्रमुख दायित्व अथवा कर्त्तव्य निम्न प्रकार हैं-

(i) भावी नियोजन में सहायता प्रदान करना।

(ii) संगठनात्मक कार्यों में सहायता प्रदान करना।

(iii) माँग का पूर्वानुमान लगाना।

(iv) उत्पादन कार्यक्रम निर्धारित करना।

(v) मूल्यनीति एवं साख नीति निर्धारित करना।

(vi) विभिन्न विकल्पों में से सर्वश्रेष्ठ विकल्प का चुनाव करना।

(vii) विकास एवं सुधार कार्यक्रम में सहायता करना।

(viii) प्रतियोगिता का सफलतापूर्वक सामना करने के लिये आवश्यक नीति निर्धारित करना।

(2) **समाज एवं राष्ट्र के प्रति दायित्व अथवा कर्त्तव्य** (Responsibilities or duties toward society and nation)- प्रत्येक फर्म अर्थव्यवस्था एवं समाज की एक इकाई के रूप में कार्य करती है। इस नाते फर्म अपने आर्थिक हितों के नाम पर राष्ट्रीय एवं सामाजिक हितों की अवहेलना नहीं कर सकती। उसे समाज एवं राष्ट्र के प्रति भी अनेक कर्त्तव्यों को पूरा करना होता है। फर्म के इन कर्त्तव्यों को पूरा करने में भी व्यावसायिक अर्थशास्त्री महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है-

(i) राष्ट्र के संसाधनों के समुचित उपयोग कराने में सहायता।

(ii) रोजगार के अवसरों को बढ़ाने में सहायता।

(iii) आर्थिक विकास की गति को तीव्र करने में सहायता।

(iv) राष्ट्र की आर्थिक समस्याओं के समाधान में सहायता।

(v) बाजार में माल की नियमित पूर्ति बनाये रखने एवं काला बाजारी को रोकने में सहायता।

(vi) प्रेरणात्मक मजदूरी प्रणाली अपनाने में सहायता।

(vii) कर्मचारियों के लाभ एवं कल्याण की योजनायें बनाने में सहायता।

(viii) उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर अच्छी वस्तुयें एवं सेवायें उपलब्ध कराने में सहायता।

(3) **अन्य दायित्व अथवा कर्त्तव्य** (Other responsibilities or duties)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को प्रबन्ध, समाज एवं राष्ट्र के प्रति उपरोक्त कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के साथ-साथ अनेक अन्य कर्त्तव्यों का भी निर्वाह करना पड़ता है। इनमें से कुछ प्रमुख कर्त्तव्य निम्न प्रकार हैं-

NOTES

(i) **पूर्वानुमान** (Forecasting)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की योग्यता एवं कुशलता उसके द्वारा लगाये गये पूर्वानुमानों की शुद्धता पर निर्भर करती है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को माँग, उत्पादन, लागत, रोकड़ एवं लाभ आदि के सम्बन्ध में अनेक पूर्वानुमान लगाने होते हैं। फर्म की विभिन्न क्रियाओं से सम्बन्धित आन्तरिक एवं बाह्य तत्वों का अध्ययन एवं विश्लेषण करके ही पूर्वानुमान लगाने चाहिए।

(ii) **उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए साधन जुटाना** (Acquiring resources of the attainment of objective)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री को पूर्व निर्धारित उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक साधन जुटाने होते हैं। अत: व्यावसायिक अर्थशास्त्री का यह कर्त्तव्य है कि वह संस्था के उद्देश्यों को ध्यान में रखकर आवश्यक साधन बढ़ाता है।

(iii) **निर्णयन प्रक्रिया निर्धारित करना** (Decission making process)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को फर्म के लिये आर्थिक निर्णय लेने के लिये उपयुक्त प्रक्रिया का विकास करने के लिए भी उत्तरदायी होता है। उसे ऐसे निर्णयन प्रक्रिया का विकास करना चाहिये कि प्रबन्ध स्वयं शीघ्र एवं प्रभावी निर्णय ले सके।

(iv) **आर्थिक सूचनाओं के स्रोतों का ज्ञान एवं विशेषज्ञों से सम्पर्क** (Knowledge of source economic information and contact with experts)- प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को बाह्य आर्थिक जगत् एवं आन्तरिक आर्थिक वातावरण के मध्य सेतु का कार्य करना होता है उसे सभी आर्थिक घटनाओं एवं परिवर्तन का पूर्ण ज्ञान रहता है। संस्था की आर्थिक क्रियाओं एवं निर्णयों को प्रभावित कर सकती है। इस नाते उसे उन सभी स्रोतों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए जहाँ से आर्थिक सूचनायें उपलब्ध हो सकती हैं।

(v) **प्रभावपूर्ण समन्वय** (Effective coordination)- व्यावसायिक अर्थशास्त्री को फर्म की विभिन्न योजनाओं, नीतियों एवं क्रियाओं में प्रभावी समन्वय स्थापित करना चाहता है ताकि संस्था अपने पूर्व निर्धारित लक्ष्यों को प्राप्त कर सके। उसे विभिन्न विभागों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों की क्रियाओं के मध्य समन्वय स्थापित करना होता है।

(vi) **प्रभावी नियन्त्रण** (Effective control)- व्यावसायिक अर्थशास्त्री को फर्म की क्रियाओं पर प्रभावी नियन्त्रण भी रखना होता है। उसे यह देखना होता है कि संस्था की सभी क्रियायें पूर्व निर्धारित योजनाओं के अनुरूप चल रही हैं अथवा नहीं। यदि वह इनमें कहीं त्रुटि पाता है तो उसे प्रबन्ध का ध्यान इस ओर दिलाकर इन त्रुटियों को दूर करने का प्रयास करना चाहिए ताकि संस्था अपने पूर्व निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त कर सके तथा विनियोजित पूँजी पर उचित प्रत्याय प्राप्त कर सके।

निष्कर्ष (Conclusion)- व्यावसायिक अर्थशास्त्री व्यावसायिक फर्म का एक महत्वपूर्ण एवं उत्तरदायी अधिकारी होता है। वह आर्थिक नियोजन, पूर्वानुमान निर्णयन एवं नियन्त्रण में उच्च प्रबन्ध की सहायता करता है। वह बाह्य आर्थिक वातावरण एवं फर्म की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करता है।

आर्थिक सिद्धान्तों का प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में उपयोग
(Application of Economic Principles in Managerial Economics)

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में व्यावसायिक फर्मों के कार्यों एवं घटनाओं के विश्लेषण तथा समस्याओं के समाधान के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों, धारणाओं एवं विश्लेषण की पद्धतियों का व्यापक प्रयोग किया जाता है। इसी कारण इसे आर्थिक सिद्धान्त का व्यावसायिक व्यवहार के साथ एकीकरण की संज्ञा दी है। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में अर्थशास्त्र के उपयोग के निम्न पहलू होते हैं-

(1) **व्यवसाय के आर्थिक सम्बन्धों की जानकारी** (Knowledge of Economic Relations of Business)- व्यावसायिक प्रबन्ध में अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के प्रयोग से व्यवसाय के आर्थिक सम्बन्धों, जैसे- लागत और उत्पादन का सम्बन्ध, मूल्य व माँग का सम्बन्ध, उत्पादन का मूल्य से सम्बन्ध, माँग की लोच का आय से सम्बन्ध, स्थानापन्न वस्तुओं के मूल्य से सम्बन्ध, लागत एवं मूल्य लाभ का सम्बन्ध आदि की जानकारी होने पर उचित निर्णयों में सुविधा रहती है।

(2) **आर्थिक मात्राओं की भविष्यवाणी** (Predicting of Economic Quantities)- आर्थिक मात्राओं के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने के लिए भी आर्थिक नियमों का प्रयोग किया जाता है, जैसे- भविष्य में क्या माँग होगी, उत्पादन की किसी विशिष्ट मात्रा पर क्या लाभ होगा, व्यापार प्रारम्भ में कितनी पूँजी की आवश्यकता होगी, मजदूरों की कौन-सी समस्याएँ उठ सकती हैं और उनका प्रभाव व्यापार पर क्या होगा आदि के सम्बन्ध में निश्चय किया जाता है, ताकि इनके आधार पर भविष्य में उठाये जाने वाले कदमों पर विचार किया जा सके।

(3) **आर्थिक लागतों एवं लेखा लागतों की धारणाओं में समन्वय** (Reconcilation between Economic Costs and Accounting Costs)- कुछ पारिभाषिक शब्दों, जैसे- लागत व लाभ आदि का अर्थ जो व्यापार के बहीखाते में लिया जाता है, वही अर्थशास्त्र में नहीं होता। बहीखाते में सिर्फ वही लागत प्रदर्शित की जाती है जो दी गयी हो या दी जाने वाली हो, किन्तु अर्थशास्त्र में इस प्रकार की लागत के साथ-साथ वह लागत भी चर्चा का विषय होती है जो वास्तव में होती है। जैसे- यदि कोई व्यापारी अपना व्यापार एक किराये के भवन में करता है और उसका किराया 100 रु. देता है तो उस लागत का लेखा बहीखाते में होगा किन्तु यदि वह स्वयं के भवन में व्यापार करता है तो उसका जिक्र बहीखाते में नहीं होगा किन्तु अर्थशास्त्र में दोनों परिस्थितियों में इस लागत की गणना होगी। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में इस प्रकार के शब्दों की बहीखाता सम्बन्धी धारणाओं और अर्थशास्त्र सम्बन्धी धारणाओं में समन्वय स्थापित किया जाता है। इससे लेखा पुस्तकों या बहीखातों में लाभ और लागत के जो आँकड़े मिलते हैं, उनका उपयोग निर्णय लेने एवं भविष्य में नियोजन के लिए सही प्रकार से किया जा सकता है।

(4) **बाह्य शक्तियों को समझना** (Understanding External Forces)- सरकारी आर्थिक नीतियों, व्यापार चक्र, श्रमिक सम्बन्ध, राष्ट्रीय आय में परिवर्तन, एकाधिकार विरोधी कानून आदि का अध्ययन आर्थिक सिद्धान्तों के माध्यम से किया जाता है। इन बाह्य परिस्थितियों का व्यापार पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है, इसलिए व्यापार के व्यवस्थापक को इनसे सतर्क रहना पड़ता है, ताकि इनसे होने वाले दुष्परिणामों से वह अपने व्यापार को बचा सके अथवा अच्छे प्रभाव से लाभान्वित हो सके। इन बाह्य परिस्थितियों को समझने के लिए आर्थिक सिद्धान्तों को समझना और प्रयोग करना आवश्यक है।

(5) **आर्थिक सिद्धान्तों के प्रयोग से व्यवसाय संचालन में सुविधा** (Convenience in Operation of Business with Use of Economic Principles)- जब भविष्य सम्बन्धी आर्थिक मात्राओं का ज्ञान हो जाता है तो आर्थिक सिद्धान्तों के उपयोग से ही यह निर्णय लिया जाता है कि व्यापार को किस प्रकार संचालित किया जाये जिससे भविष्य में किसी प्रकार के अवरोध उपस्थित न हो सकें।

बोध प्रश्न

1. प्रबंधकीय अर्थशास्त्री के कार्यों का वर्णन कीजिए।

.....

.....

.....

1.6 आधारभूत आर्थिक अवधारणायें (Fundamental Economic Concepts)

वृद्धिशील सिद्धान्त
(Incremental Principle)

वृद्धिशील सिद्धान्त के अन्तर्गत इकाई की लागत या आगम न निकालकर किसी उत्पादित वस्तु की एक निश्चित मात्रा के अतिरिक्त दो से अधिक इकाइयों की दशा में उनकी सामूहिक लागत अथवा उनके विक्रय से प्राप्त आगम की गणना की जाती है। इस प्रकार वृद्धिशील विश्लेषण की अवधारणा अधिक व्यावहारिक है क्योंकि अधिकांश व्यवसाय अपने उत्पादों का उत्पादन व विक्रय एक-एक इकाई के रूप में करके बड़ी मात्राओं में करते हैं जिसके कारण इनकी लागतों व आगमों के सीमान्त विश्लेषण की तुलना में वृद्धिशील सिद्धान्त की गणना अधिक सरल होती है।

किसी आर्थिक निर्णय के फलस्वरूप किसी वस्तु, प्रक्रिया, विनियोग या अन्य पहलुओं में होने वाले परिवर्तनों के कारण, कुल लागत तथा कुल आगम में जो परिवर्तन होता है, वही वृद्धिशील सिद्धान्त अथवा वृद्धिशील धारणा

NOTES

(Incremental Reasoning) कहलाती है। इस सिद्धान्त के आधार पर लिया गया ऐसा प्रत्येक व्यावसायिक निर्णय लाभदायक होगा यदि :-

(i) आगमों की तुलना में लागत में अधिक कमी आती हो।

(ii) कुछ आगमों में वृद्धि अधिक होती हो जबकि अन्य आगमों में उतनी कमी नहीं आती हो।

(iii) कुछ लागतों में कमी अधिक आती हो जबकि अन्य लागतों में उतनी अधिक वृद्धि न होती हो।

(iv) लागतों की तुलना में आगमों में अधिक वृद्धि होती हो।

वृद्धिशील सिद्धान्त का प्रयोग उन व्यावसायिक निर्णयों में किया जाता है जिनमें कुल लागत तथा कुल आगम में काफी वृद्धि होती है। कुल लागत की यह वृद्धि 'वृद्धिशील लागत' तथा कुल आगम की यह वृद्धि 'वृद्धिशील आगम' कहलाती है। किसी व्यावसायिक निर्णय के फलस्वरूप उत्पादन की कुल लागत में होने वाली वृद्धि को वृद्धिशील लागत (Incremental Cost) कहा जाता है। इस लागत में स्थायी तथा परिवर्तनशील दोनों लागतें सम्मिलित रहती हैं।

वृद्धिशील लागत के तीन प्रमुख अंग हैं:- **प्रथम,** वर्तमान प्रत्यक्ष लागतें, **द्वितीय,** अवसर लागतें एवं तृतीय, भावी लागतें। **वर्तमान प्रत्यक्ष लागतों में** (i) स्थायी लागतें, यथा- भूमि, भवन, प्लाण्ट, मशीनरी फर्नीचर व फिक्सचर्स इत्यादि, (ii) परिवर्तनशील लागतें, यथा- प्रत्यक्ष श्रमिक, सामग्री एवं अन्य उपरिव्यय, जैसे- अप्रत्यक्ष श्रमिक, बिजली, पानी आदि पर व्यय को शामिल किया जाता है। **अवसर लागत** में, किसी व्यावसायिक निर्णय के फलस्वरूप, दूसरे श्रेष्ठ विकल्प (Second Best Alternative) के प्रयोग के परित्याग के कारण उत्पन्न प्रत्याशित आय को सम्मिलित किया जाता है। भावी लागतों के अन्तर्गत उन लागतों को शामिल किया जाता है जो कि उत्पादन के आशातीत विक्रय के अभाव में ह्रास के समायोजन हेतु करने पड़ते हैं।

वृद्धिशील आगम से अभिप्राय किसी व्यावसायिक निर्णय के फलस्वरूप कुल आगम में होने वाली वृद्धि से है। वृद्धिशील लागत एवं वृद्धिशील आगम दोनों ही अवधारणाओं को इस उदाहरण के द्वारा स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। माना कि कोई फर्म अपने उत्पादन को बढ़ाने के लिए या तो अपनी वर्तमान उत्पादन क्षमता में एक नया प्लाण्ट लगाकर अथवा उत्पादन की एक नयी इकाई की स्थापना का निर्णय लेती है। इस निर्णय के परिणामस्वरूप फर्म की उत्पादन लागत एक करोड़ से बढ़कर एक करोड़ तीस लाख हो जाती है, जबकि इसके विपरीत फर्म की उत्पादों की बिक्री से प्राप्त होने वाला आगम 2 करोड़ से बढ़कर 2 करोड़ 50 लाख हो गया तो ऐसी स्थिति में इस वर्तमान व्यावसायिक निर्णय के फलस्वरूप वृद्धिशील लागत = 1.30 करोड़ - 1 करोड़ अर्थात् 30 लाख होगी तथा वृद्धिशील आगम = 2.35 करोड़ - 2 करोड़ अर्थात् 35 लाख होगा।

वृद्धिशील अवधारणा के व्यावसायिक अनुप्रयोग को **'वृद्धिशील तार्किकता'** की संज्ञा दी जाती है। यह तार्किकता व्यवसाय के किसी विकल्प की स्वीकृति या अस्वीकृति के लिए प्रयोग की जाती है। यदि यहाँ पर इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए हम उपर्युक्त उदाहरण को आधारस्वरूप लें तो उक्त व्यावसायिक निर्णय या विकल्प की स्वीकृति या अस्वीकृति की जानकारी इसकी वृद्धिशील लागत तथा आगम की पारस्परिक तुलना के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। इस निर्णय के फलस्वरूप वृद्धिशील लागत 30 लाख रुपये तथा वृद्धिशील आगम 35 लाख रुपये उत्पन्न हुआ। चूँकि वृद्धिशील लागत की तुलना में वृद्धिशील आगम 5 लाख रुपये अधिक है अतएव उत्पादन वृद्धि हेतु लिया जाने वाला यह निर्णय लाभकारी होने के कारण स्वीकृति योग्य है क्योंकि इस निर्णय से फर्म को नये प्लाण्ट के विनियोग की राशि 30 लाख रु. पर 16.67% की प्रत्याय (Return) प्राप्त हो रही है तथा इसके साथ ही साथ फर्म के सामने इससे श्रेष्ठ कोई अन्य वैकल्पिक प्रस्ताव भी नहीं है परन्तु यदि फर्म को ऐसा प्रतीत होता है कि उसे इस नये प्लाण्ट द्वारा उत्पादित वस्तु के विक्रय के लिए 2 लाख रुपये विज्ञापन पर अतिरिक्त रूप से व्यय करना पड़ेगा, तो इस स्थिति में फर्म को इस नये प्लाण्ट की स्थापना के विकल्प/निर्णय को छोड़ना पड़ेगा क्योंकि ऐसा होने पर प्रत्याय की दर 16.67% से घटकर मात्र 10% हो जायेगी। फलतः अब इस नये प्लाण्ट की स्थापना पर विनियोग के स्थान पर फर्म को इस राशि को अन्य वैकल्पिक विनियोगों में लगाये जाने का निर्णय अधिक श्रेष्ठ होगा।

अवसर लागत
(Opportunity Cost)

आधुनिक युग में वास्तविक लागत (Real Cost) को 'अवसर लागत' या 'हस्तान्तरण आय' (Transfer earnings) के रूप में व्यक्त किया जा सकता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि सामाजिक दृष्टि से वास्तविक

व्यय को कष्ट एवं त्याग के रूप में मापना कठिन होता है। इसी प्रकार उपयोगिता एवं अनुपयोगिता तथा दुःख व सुख एक-दूसरे के विपरीत सदैव नहीं होते हैं। श्रम को सदैव कष्टदायक भी नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि बचत करने में सदैव त्याग करना पड़े, अतः वास्तविक व्यय को कष्ट एवं त्याग के रूप में मानना सम्भव नहीं हो पाता। इसी कारण आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अवसर लागत के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जिसे हस्तान्तरण आय, विस्थापित लागत तथा हस्तान्तरण लागत आदि वैकल्पिक नामों से भी पुकारते हैं।

अवसर लागत का अर्थ (Meaning of Opportunity cost)- मानव की इच्छाएँ अनन्त होती हैं, परन्तु देश में उत्पादन के साधन सीमित एवं बहु-प्रयोगात्मक होते हैं। किसी समय विशेष में किसी एक साधन का उपयोग एक ही काम में किया जा सकता है और उसे अन्य उपयोगों से वंचित रहना पड़ता है। यह वंचित रहना या खोया हुआ अवसर ही किसी वस्तु की वास्तविक उत्पादन लागत है। किसी वस्तु का वास्तविक उत्पादन व्यय उत्पादन के उस साधन के बराबर होता है, जो उसे किसी अन्य देशों में अधिक से अधिक अर्जित कर सकता हो। उदाहरणार्थ यदि एक दर्जी 8 घण्टे में 6 कमीजें या 12 पाजामा बना सकता है तो यह कहा जा सकता है कि 1 कमीज का वास्तविक उत्पादन व्यय 2 पाजामा है, जो एक कमीज के बदले में तैयार किए जा सकते हैं, जिसे अवसर-व्यय कहते हैं।

परिभाषाएँ- अवसर लागत की मुख्य परिभाषाएँ निम्न हैं:-

(1) **प्रो. बेन्हम**- "द्रव्य की वह मात्रा जो किसी विशेष इकाई द्वारा अपने सर्वोत्तम वैकल्पिक प्रयोग में प्राप्त कर सकती है, वही कभी हस्तान्तरण आय कहलाती है।"

(2) **प्रो. स्टिगलर**- "किसी वस्तु के उत्पादन में किसी भी उत्पादक सेवा X की लागत वह अधिकतम मात्रा है जो कि X किसी अन्य वस्तु को उत्पादित कर सकता हो।"

(3) **श्रीमती जॉन राबिन्सन**- "किसी एक उद्योग की दृष्टि से किसी भी साधन की किसी एक इकाई की लागत वह पुरस्कार है जो कि उस इकाई द्वारा किसी अन्य उद्योग से प्राप्त की जा सकती है।"

(4) **प्रो. मेयर्स**- "किसी भी वस्तु की एक इकाई की उत्पादन लागत उत्पत्ति के साधन का वह मूल्य है जो कि उस इकाई के उत्पादन में उपयोग किया जाता है।"

सर्वप्रथम अवसर लागत की कल्पना डी. एल. ग्रीन नामक अर्थशास्त्री ने की थी और बाद में हैवरलर, राबिन्स, डेपनपोर्ट एवं वाइजर आदि अर्थशास्त्रियों ने इसे विभिन्न दिशाओं में प्रयोग किया। अवसर लागत को निम्न दो प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है:-

(अ) वास्तविक लागत के रूप में (In the form of real cost)

प्रत्येक साधन के अनेक सम्भावित प्रयोग होते हैं। प्रत्येक साधन सीमित होता है, इसीलिए उसे सभी प्रयोगों में पूर्णरूप से प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। समाज की दृष्टि से उसे किसी एक उद्देश्य के लिए प्रयोग करने का अर्थ है कि उसे अन्य उद्देश्यों में प्रयोग करने के अवसर का त्याग करना पड़ता है। किसी भी वस्तु के उत्पादन की वास्तविक लागत वह वस्तु मानी जाती है जिसका त्याग सम्भव हो सकता है। अतः किसी वस्तु की उत्पादन लागत का अर्थ उसके दूसरे सर्वश्रेष्ठ विकल्प के त्याग से है। दूसरे शब्दों में किसी वस्तु X की एक इकाई की वास्तविक लागत, वस्तु Y की त्यागी गयी मात्रा के बराबर है। इसे अवसर लागत इस कारण कहा जाता है कि समाज की दृष्टि से एक वस्तु के उत्पादन का अर्थ है किसी दूसरी वस्तु के उत्पादन के अवसरों का त्याग करना।

इसे निम्न चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है:-

चित्र-1 में X एवं Y वस्तु के उत्पादन के विभिन्न संयोगों को AB रेखा द्वारा प्रदर्शित किया गया है। AB रेखा पर C बिन्दु यह प्रदर्शित करती है कि एक निश्चित समयावधि में X वस्तु की OP मात्रा तथा Y वस्तु की OQ मात्रा का उत्पादन किया जाता है। इसी प्रकार से AB रेखा पर D बिन्दु यह बताता है कि X वस्तु की OR मात्रा तथा Y वस्तु की OS मात्रा का उत्पादन किया जाता है। यदि अर्थव्यवस्था C बिन्दु से हटकर D बिन्दु पर आती है तो इसका अर्थ यह होगा कि X वस्तु की TD अतिरिक्त मात्रा उत्पादित करने हेतु Y वस्तु की QS मात्रा का परित्याग करना होगा। अतः X वस्तु की TD मात्रा की अवसर लागत दूसरी वस्तु Y की QS मात्रा है, जिसके उत्पादन में अवसर का त्याग समाज को करना पड़ता है।

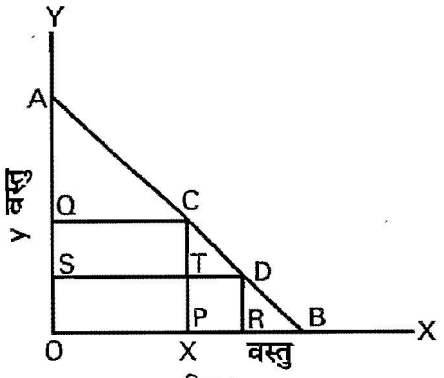

चित्र-1

NOTES

इस चित्र में निम्न मान्यताओं को लेकर चला गया है- (i) अर्थव्यवस्था में केवल X एवं Y दो ही वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, (ii) देश में पूर्ण रोजगार एवं पूर्ण प्रतियोगिता की स्थिति विद्यमान है। (iii) अर्थव्यवस्था में एक निश्चित दी हुई अवधि में साधनों की कुल मात्रा स्थिर पायी जाती है।

(ब) मौद्रिक लागत के रूप में (In the form of money cost)

किसी वस्तु के उत्पादन की द्राव्यिक लागत, त्याग की गयी वैकल्पिक वस्तुओं का मूल्य है। किसी वस्तु की उत्पादन लागत द्रव्य की वह मात्रा है जो कि उत्पत्ति के साधनों को दूसरे वैकल्पिक प्रयोगों से हटाकर उस वस्तु के उत्पादन हेतु आवश्यक हो। इसकी गणना एवं माप मुद्रा के रूप में किया जाता है। मौद्रिक लागत के रूप में अवसर लागत वैकल्पिक वस्तुओं एवं विभिन्न प्रयोग की भौतिक उत्पादकता पर निर्भर करती है।

अवसर लागत में 'स्पष्ट लागतें' एवं 'अस्पष्ट लागतें' दोनों को ही सम्मिलित करते हैं, जबकि व्यावहारिक जीवन में व्यापारी, लेखापाल तथा उद्योगपति 'अस्पष्ट लागत' को द्राव्यिक लागत निकालते समय नहीं जोड़ते हैं।

प्रो. बेनहम के अनुसार "द्रव्य की वह मात्रा जो कि कोई एक इकाई सर्वश्रेष्ठ वैकल्पिक प्रयोग में प्राप्त कर सकती है, उसे हस्तान्तरण आय कहते हैं।"

अवसर लागत का महत्व (Importance of opportunity cost)

अवसर लागत के सिद्धान्त का महत्व निम्न प्रकार है:-

(1) **अवसर व्यय एवं लगान-** अवसर व्यय के सिद्धान्त से लगान के सच्चे स्वरूप की झाँकी प्रकट हो जाती है। साधन का लगान वह राशि है जो कि उससे प्राप्त मूल्य में से उसकी लागत को घटाने के उपरान्त प्राप्त होती है। लागत साधन का वह भाग होता है जो कि उस साधन को किसी व्यवसाय में रोककर रखने हेतु आवश्यक हो। इससे अधिक प्रतिफल प्राप्त होने पर वह लगान कहलाता है। अतः किसी भी साधन का लगान उसकी वास्तविक आय एवं अवसर लागत का अन्तर माना जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी साधन की अवसर-लागत 100 रु. है और उसके लिए 130 रु. देकर उसे किसी उद्योग में रखा जाये तो उस साधन का लगान 30 रु. हुआ, क्योंकि उस साधन के लिए 100 रु. के स्थान पर 130 रु. देने पड़े, जिससे 30 रु. जो अतिरिक्त दिया गया, वही उस साधन का लगान होगा।

(2) **लागत में परिवर्तन पर प्रकाश-** यह सिद्धान्त लागत में परिवर्तन पर प्रकाश डालता है तथा बताता है कि किसी उद्योग की लागत किस सीमा तक उत्पादन के साथ-साथ परिवर्तित हो सकती है।

(3) **साधनों के वितरण में सहायक-** सीमित साधनों के कारण प्रतियोगी प्रयोगों के वितरण में अवसर लागत की धारणा पर्याप्त सहायता देती है। इस सिद्धान्त के अनुसार उत्पत्ति के प्रत्येक साधन को किसी एक प्रयोग से न्यूनतम इतना धन अवश्य प्राप्त होना चाहिए जितना कि उसके वैकल्पिक प्रयोगों से सम्भव है। मूल्य प्रक्रिया का कार्य सीमित साधनों का प्रतियोगी प्रयोगों में वितरण करना है। इस कार्य में अवसर लागत के सिद्धान्त से पर्याप्त सहायता प्राप्त होती है। अतः **प्रो. बाई (Bye)** का मत है कि "यह सिद्धान्त मूल्य पद्धति का मुख्य केन्द्र है तथा अर्थशास्त्र के अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्धान्तों में से एक है।"

(4) **लागत ज्ञात करने में सहायता-** लगान का आधुनिक सिद्धान्त सिद्ध करना है कि लगान अवसर लागत के ऊपर अतिरेक है। यदि किसी साधन का पुरस्कार 70 रु. हो और उसकी अवसर लागत 50 रु. हो तो इन दोनों का अन्तर ही लगान होगा। अतः लगान ज्ञात करने में अवसर लागत सहायक सिद्ध होती है।

अवसर लागत की आलोचनाएँ (Criticism of opportunity cost)- अवसर लागत की प्रमुख सीमाएँ या आलोचनाएँ निम्न प्रकार हैं:-

(1) **गलत मान्यता पर आधारित-** अवसर लागत की धारणा इस गलत मान्यता पर आधारित है कि उत्पत्ति के साधनों का विभिन्न कार्यों के मध्य कोई अधिमान नहीं होता। वास्तव में कोई उत्पत्ति का साधन किसी विशेष रूप से पसन्द करता है और किसी अन्य कार्य में उसे हस्तान्तरण करने की लागत उसकी वास्तविक अवसर लागत से अधिक होगी।

(2) **पूर्ण रोजगार में लागू-** अवसर लागत की धारणा केवल पूर्ण रोजगार में ही लागू होती है, क्योंकि उत्पत्ति के साधन बेकार होने पर उनकी नियुक्ति का कोई अवसर लागत नहीं होगी।

(3) **पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता-** यह धारणा पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित है, परन्तु व्यावहारिक जीवन में पूर्ण प्रतियोगिता नहीं पायी जाती है।

कटौती सिद्धान्त
(Discounting Principle)

NOTES

कटौती एक तरह से काल विचार की अवधारणा का ही एक विस्तार मात्र है। चूँकि भविष्य के अज्ञात एवं अगणनीय होने के कारण इसमें काफी जोखिम एवं अनिश्चितताओं की सम्भावना विद्यमान होती है। इसके अतिरिक्त प्रायः किसी निर्णय या प्रस्ताव की वर्तमान की प्रत्याय उसकी भावी प्रत्याय की तुलना में अधिक आकर्षक होती है। अतः भविष्य या भावी समयावधि को काल विलम्बना (Delay) तथा भविष्य के जोखिम दोनों ही कारकों के कारण बट्टाकृत या कटौतीकृत (Discounted) किया जाना आवश्यक है।

कटौती का सिद्धान्त इस बुनियादी तथ्य पर आधारित है कि आज के एक वर्ष बाद या किसी आगामी अवधि के बाद प्राप्त होने वाला एक रुपया वर्तमान में प्राप्त होने वाले एक रुपये से कम मूल्यवान होता है। इस तथ्य को उदाहरण की सहायता से आसानी से समझा जा सकता है। माना, किसी व्यवसाय का प्रबन्धक अपने श्रमिकों को बोनस के रूप में 500 रुपये प्रति श्रमिक बोनस देना चाहता है और इसके लिए वह अपने श्रमिकों को दो विकल्प देता है कि यदि वे चाहें तो उक्त बोनस आज अथवा इस पर प्रचलित ब्याज दर जोड़कर एक वर्ष बाद आज के ही दिन ले सकते हैं तो इस स्थिति में सभी श्रमिक पहले विकल्प यानि आज ही बोनस प्राप्त करने का ही चुनाव करेंगे। उनके इस चुनाव के पीछे दो कारण हैं- प्रथम तो यह कि भविष्य पूर्णतः अनिश्चित होता है अतः श्रमिकों को इस बात की आशंका होना स्वाभाविक है भविष्य में उक्त बोनस मिले या ना मिले, द्वितीय यदि वे यह मान भी लें कि उक्त बोनस उन्हें मिल ही जायेगा तो भी आज के दिन मिलने वाला भविष्य में ब्याज सहित मिलने वाले भावी बोनस की तुलना में अधिक निरापद एवं गैर-जोखिमपूर्ण होगा। अतः इन दोनों कारणों से प्रत्येक श्रमिक पहले विकल्प को ही चुनने का निर्णय लेता है। इस स्थिति में दूसरा विकल्प श्रमिकों के द्वारा केवल उसी अवस्था में चुना जा सकता है, जबकि प्रचलित ब्याज दर की एक वर्ष बाद मूलधन पर प्राप्त होने वाली राशि को जोड़कर कुल बोनस दिया जाए। इस प्रकार यह कुल बोनस की राशि जो एक वर्ष बाद प्राप्त होने वाली है यदि बट्टाकृत करके वर्तमान बोनस की राशि के रूप में समायोजित की जाये तो इसके वर्तमान बोनस के बराबर या अधिक होने की दशा में ही दूसरा विकल्प श्रमिकों को स्वीकार्य हो सकेगा क्योंकि तभी यह वर्तमान बोनस के बराबर या उससे अधिक लाभदायक होगा।

कटौती की प्रासंगिक (Relevant) या संगतिपूर्ण (Consistent) दर का निर्धारण किस प्रकार किया जाये, ताकि इससे बट्टाकृत करने पर भावी प्रत्यायों को वर्तमान प्रत्यायों के बराबर समायोजित किया जा सके। इसे विनियोग पर अर्जित ब्याज दर की वैकल्पित मात्रा के आधार पर निकाला जाता है जिसका सूत्र इस प्रकार है-

$$PV = \frac{C}{(1+i)^n}$$

यहाँ पर, PV = वर्तमान मूल्य, C = रोकड़ अन्तर्वाह या प्रत्याय, i = ब्याज की दर या वांछित ब्याज दर एवं n = वर्षों की संख्या।

एक व्यावहारिक उदाहरण लेकर उपरोक्त सूत्र को आसानी से समझा जा सकता है। माना किसी भी विनियोग पर वांछित अर्जन दर या ब्याज दर 10% है तो इसके आधार पर आज की प्रत्येक 100 रुपये की प्रत्याय या रोकड़ अन्तर्वाह की बराबरी एक वर्ष बाद की 110 रुपये की भावी राशि, दो वर्ष बाद की 121 रुपये की भावी राशि तथा 3 वर्ष बाद की 133.1 रुपये की राशि कर पायेगी। निष्कर्षस्वरूप इन तीनों समयावधियों की भावी राशियों से कम प्रत्याय की दशा में इनके वर्तमान मूल्य वर्तमान की विनियोग राशि से कम होने के कारण विवेकशील आचरण की शर्त के कारण किसी भी व्यक्ति को स्वीकार्य नहीं होगी। उपर्युक्त सूत्र का प्रयोग करके 10% ब्याज की दर की दशा में अलग-अलग भावी समयावधियों के लिए 100 रुपये की विनियोग राशि में कटौती होती चली जायेगी अर्थात वर्तमान मूल्य 100 रुपये की तुलना में हर अगले वर्ष में इसके भावी मूल्यों में कितनी कमी आयेगी, भावी मूल्यों के वर्तमान मूल्य का आकलन आसानी से किया जा सकता है। गणना विधि इस प्रकार है-

प्रथम वर्ष अर्थात् एक वर्ष के पश्चात् आज का 100 रुपये $\frac{100}{(1+10)^1} = \frac{100}{1.10} = 90.90$ अर्थात् 90 रुपये 90 पैसे रह जायेगा और यदि उल्टे रूप में कहें तो 1 वर्ष के पश्चात् भी यदि 100 रु. वर्तमान मूल्य की प्राप्ति करनी हो तो एक वर्ष के पश्चात् 110 रु. की भावी प्रत्याय आवश्यक होगी, तभी बट्टाकृत करने पर यह $110 \times 90.90 = 100$ वर्तमान मूल्य के बराबर होगी। द्वितीय वर्ष अर्थात् दो वर्ष के पश्चात् आज का 100 रुपये $\frac{100}{(1+.10)^2} = \frac{100}{1.21} = 82.64$ रुपये रह जायेगा और यदि उल्टे रूप में कहा जाए। तो दो वर्ष पश्चात् भी यदि 100 रुपये वर्तमान मूल्य को प्राप्त करना हो तो दो वर्ष के पश्चात् 121 रुपये की भावी प्रत्याय आवश्यक होगी, तभी बट्टाकृत करने पर

NOTES

यह 121 × 82.64 = 100 वर्तमान मूल्य के बराबर होगी। इसी प्रकार तीसरे वर्ष अर्थात् तीन वर्ष पश्चात् आज का 100 रुपये $\frac{100}{(1+.10)^3} = \frac{100}{1.331} = 75.10$ रुपये रह जायेगा। अर्थात् यदि इसे उल्टे रूप में कहा जाए तो 3 वर्ष के बाद भी यदि 100 रु. वर्तमान मूल्य के रूप में प्राप्त करना हो तो 3 वर्ष बाद भावी मूल्य के रूप में 133.1 रुपये का अर्जन आवश्यक होगा, तभी बट्टाकृत करने पर यह 133.1 × 75.1 = 100 वर्तमान मूल्य के बराबर शेष बच पायेगी। इसी प्रकार विभिन्न ब्याज दरों पर विभिन्न समयावधियों के लिए बट्टे की दर निकालकर भावी मूल्यों को उनके वर्तमान मूल्य के अनूरूप समायोजित किया जा सकता है। इस प्रक्रिया के मूल में जो सिद्धान्त अन्तर्निहित है, उसे बट्टा या कटौती का सिद्धान्त या अवधारणा कहा जाता है। इसका प्रमुख प्रतिपाद्य यह है कि "यदि भावी तिथियों पर कोई व्यावसायिक निर्णय लागतों एवं आगमों को प्रभावित करता है तो यह जरूरी हो जाता है कि विकल्पों की सम्भव यथोचित तुलना हेतु उन भावी लागतों एवं आगामों का उनके वर्तमान मूल्यों से बट्टा या अवमूल्यन कर लें।"

प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में विनियोग अथवा पूँजी बजटन से सम्बन्धित निर्णय की समस्याओं के निदान में कटौती या बट्टे की इस अवधारणा का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। परियोजनाओं के विनियोगों की गर्भावधि भी अलग-अलग होती है, प्रत्यायों को अर्जित करने की समयावधि भी विभिन्न परियोजनाओं में भिन्न-भिन्न होती है, इसके साथ ही साथ प्रत्याय के खाके या संरचना (Profiles) तथा लागतें भी एक परियोजना से दूसरी परियोजना में अलग-अलग हो जाती है। अतः इन परिस्थितियों में यदि कटौती की जाती है।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम या प्रतिस्थापन का नियम
(Law of Equi-marginal Utility or the Law of Substitution)

प्रारम्भिक – इस नियम का सर्वप्रथम उल्लेख जर्मन अर्थशास्त्री **एच. एच. गोसेन** ने किया था। यह नियम दैनिक जीवन के अनुभव पर आधारित है। प्रत्येक मनुष्य अपने सीमित साधनों से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु वह सर्वप्रथम अधिक जरूरी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा तथा बाद में कम जरूरी आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। यदि एक ही आवश्यकता की पूर्ति की जाए तो उपयोगिता ह्रास नियम के कारण उसकी उपयोगिता कम होती जाएगी। अतः उपभोक्ता को दूसरी आवश्यकता अधिक प्रतीत होने लगती है और वह अपने साधनों को कम लाभदायक स्थान से हटाकर अधिक लाभदायक कार्यों में प्रयोग करने लगता है और ऐसा वह तब तक करता रहेगा जब तक कि दोनों वस्तुओं से सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर न हो जायें। इसी प्रकार के क्षेत्र में भी उत्पादक महँगे साधन के स्थान पर सस्ते साधनों का प्रतिस्थापन करता जायेगा। जब तक की उसे दोनों से सीमान्त उत्पादकता, बराबर प्राप्त न हो जाए। इस नियम को **'गोसेन का दूसरा नियम'** भी कहते हैं। सम-सीमान्त उपयोगिता नियम उपभोक्ता के व्यवहार को समझता है, जिसमें सीमित साधनों को व्यय करने हेतु अनेक वस्तुओं में से चुनाव करना होता है। कम उपयोगी वस्तु के स्थान पर अधिक उपयोगी वस्तु तथा महँगे साधन के स्थान पर कम महँगे साधन का प्रतिस्थापन करना ही प्रतिस्थापन का नियम कहलाता है। प्रत्येक उपभोक्ता उत्पादक तथा व्यक्ति प्रतिस्थापन की सहायता से ही अधिकतम लाभ प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार प्रतिस्थापन का सिद्धान्त अर्थशास्त्र के सभी क्षेत्रों में लागू होता है। यह नियम 'उपभोक्ता के सन्तुलन' को बताता है।प्रत्येक दिशा में बराबर होने पर उपभोक्ता को अधिकतम सन्तोष प्राप्त होता है, जिससे उपभोक्ता सन्तुलन की स्थिति में रहता है।

परिभाषाएँ – इस नियम की मुख्य परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं:

(1) **गोसेन** –"यदि समस्त आवश्यकताओं को पूर्ण सन्तुष्टि के बिन्दु तक सन्तुष्ट करना सम्भव न हो, तो अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने हेतु यह आवश्यक है कि विभिन्न आवश्यकताओं की सन्तुष्टि उस बिन्दु पर रोक दी जाए जहाँ उनकी तीव्रता लगभग समान हो।"

(2) **मार्शल** – "यदि किसी व्यक्ति के पास एक ऐसी वस्तु है जो अनेक प्रयोगों में लायी जा सकती है, तो वह उसको विभिन्न प्रयोगों में इस प्रकार वितरित करेगा कि सभी प्रयोगों में उसकी सीमान्त उपयोगिता समान रहे।"

(3) **प्रो. मेहता** –"एक दी हुई समयावधि में एक वस्तु अनेक आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकती है, तो इसकी एक दी हुई मात्रा से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने हेतु इसकी मात्रा को विभिन्न आवश्यकताओं के मध्य इस ढंग से विभाजित करना होगा कि उस निश्चित काल में इसकी सीमान्त उपयोगिता लगभग समान रहे।"

(4) **प्रो. हिक्स** – "यदि प्रत्येक अवस्था में व्यय की सीमान्त इकाइयों से उपयोगिता में समान वृद्धि प्राप्त होती है, तो उससे अधिकतम उपयोगिता प्राप्त होगी।"

यह नियम उपभोक्ता के सन्तुलन को बताता है। जब प्रत्येक दिशा से उपयोगिता बराबर हो तो उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होती है। अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होने के कारण उपभोक्ता सन्तुलन की स्थिति में रहता है।

NOTES

नियम की व्याख्या
(Statement of the Law)

मनुष्य की आवश्यकताएँ अनन्त होती हैं, जबकि उसके पास साधन सीमित हैं। व्यक्ति इन सीमित साधनों से ही अपनी असीमित आवश्यकताओं को पूरा करने के प्रयास करता है। वह समस्त आवश्यकताओं को पूर्ण करने में असमर्थ रहता है। अतः उसे यह निश्चित करना होता है कि कौन-कौन सी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करे और कौन-सी आवश्यकताओं को छोड़ दे। विवेकशील व्यक्ति समस्त आवश्यकताओं में से इस ढंग से चुनाव करता है कि उसे सीमित साधनों से भी अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो। इसके लिए वह अपनी आवश्यकताओं को उनकी-तीव्रता के अनुसार क्रम में रखता है। इस प्रकार सबसे तीव्र आवश्यकता को सबसे पहले सन्तुष्ट किया जाता है और जो आवश्यकता सबसे कम तीव्र होती है, उसकी सन्तुष्टि वह सबसे अन्त में करता है। उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि उसी समय प्राप्त होती है, जबकि धन के सभी प्रयोगों से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता बराबर हो।

यह नियम क्रमागत उपयोगिता ह्रास नियम पर आधारित है। उपयोगिता ह्रास नियम में वस्तु की अधिक इकाई खरीदने पर उससे प्राप्त होने वाली उपयोगित कम हो जाती है। अतः उपभोक्ता वस्तु का उपभोग करते समय विभिन्न वस्तुओं की विभिन्न इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता की तुलना दूसरी वस्तुओं की इकाइयों से करता है। इसमें उपभोक्ता ऐसी वस्तु की इकाई को पहले क्रय करेगा, जिसमें उसे अधिक उपयोगिता प्राप्त हो और कम उपयोगिता वाली वस्तु को बाद में क्रय करेगा। उपभोक्ता अपने समस्त व्यय को इस ढंग से व्यवस्थित करेगा कि सभी वस्तुओं की सीमान्त इकाइयों से समान उपयोगिता प्राप्त हो। इसी बिन्दु पर व्यक्ति को सन्तुष्टि अधिकतम प्राप्त होगी।

नियम की मान्यतायें (Assumptions of the law)

अर्थशास्त्र के अन्य नियमों की ही भाँति, यह नियम भी कुछ मान्यताओं पर आधारित है। इस नियम की मुख्य मान्यताएँ निम्न प्रकार हैं :

(1) उपयोगिता को द्रव्य रूपी पैमाने से मापा जा सकता है।

(2) द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता समान रहती है और द्रव्य के कम या अधिक होने से सीमान्त उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं आता।

(3) मनुष्य विवेकशील प्राणी है और अपनी सीमित आय को सोच समझकर ही व्यय करता है। सीमित वस्तुओं पर व्यय करते समय उनसे प्राप्त उपयोगिताओं की तुलना भी यह करता है।

(4) उपभोक्ता की आय, रुचि व फैशन आदि में कोई परिवर्तन नहीं होता।

(5) उपभोक्ता अपने द्रव्य को बहुत थोड़ी-थोड़ी मात्रा में ही व्यय करता है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण – उदाहरण के लिए एक व्यक्ति के पास 8 रुपये हैं जिन्हें वह कॉफी व दूध पर व्यय करना चाहता है और प्रत्येक वस्तु पर एक-एक रुपये करके व्यय करता है। इन वस्तुओं पर एक-एक रुपये व्यय करने से प्राप्त उपयोगिता को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है :-

मुद्रा की इकाइयाँ	कॉफी से उपयोगिता	दूध से उपयोगिता
1	20 (1)	14 (4)
2	18 (2)	12 (6)
3	16 (3)	10 (8)
4	14 (5)	8
5	10 (7)	6
6	8	4
7	6	2
8	5	0

NOTES

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि उपभोक्ता सर्वप्रथम रुपये की पहली इकाई को कॉफी (20 उपयोगिता), पर दूसरी इकाई कॉफी पर (68 उपयोगिता), तीसरी इकाई कॉफी पर (16 उपयोगिता), चौथी इकाई दूध पर (14 उपयोगिता), पाँचवीं इकाई कॉफी पर (14 उपयोगिता), छठवीं इकाई दूध पर (12 उपयोगिता), सातवीं इकाई कॉफी पर (10 उपयोगिता), आठवीं इकाई दूध पर (10 उपयोगिता) व्यय करेगा। इस प्रकार उपभोक्ता कॉफी पर रुपये की 5 इकाइयाँ तथा दूध पर 3 इकाइयों को व्यय करके अधिकतम उपयोगिता प्राप्त करेगा। उपभोक्ता को प्राप्त होने वाली कुल उपयोगिता को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है।

कॉफी से प्राप्त उपयोगिता	= 20 + 18 + 16 + 14 + 10	= 78
दूध से प्राप्त उपयोगिता	= 14 + 12 + 10	= 36
		114

इसके अतिरिक्त यदि किसी अन्य प्रकार से उपभोक्ता धन व्यय करता है तो उसे इतनी भी उपयोगिता प्राप्त नहीं होगी। इसको निम्न चित्र द्वारा दिखाया जा सकता है :-

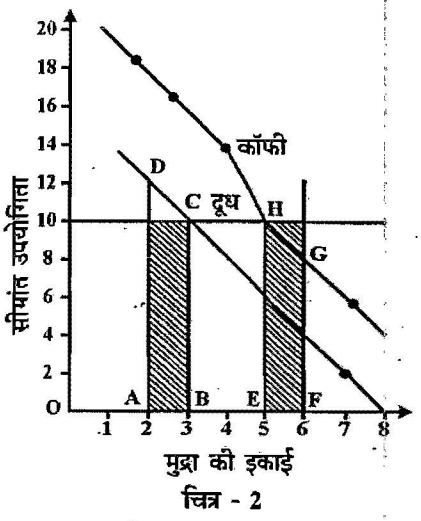

चित्र - 2

चित्र में दो रेखाएँ खींची गयी हैं जो दो वस्तुओं पर धन व्यय करने से प्राप्त सीमान्त उपयोगिताओं को बताती हैं। दूध पर 3 इकाई धन व्यय करने से BC उपयोगिता तथा कॉफी पर 5 इकाई धन व्यय करने से EH उपयोगिता प्राप्त होती है और यह दोनों सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर हैं। इस विन्दु पर ही उपभोक्ता को अधिकतम लाभ प्राप्त होगा। यदि वह व्यय के इस क्रम को बदलता है और दूध पर 3 के स्थान पर 2 इकाई तथा कॉफी पर 5 के स्थान पर 6 इकाई धन व्यय करता है तो EFGH के बराबर कुल उपयोगिता में वृद्धि होगी, परन्तु ABCD कुल उपयोगिता के बराबर हानि होगी। इसमें हानि की मात्रा लाभ की अपेक्षा अधिक है। अतः उसे प्रथम ढंग से व्यय करने में ही अधिकतम लाभ प्राप्त होगा। द्रव्य की सीमान्त उपयोगिताएँ बराबर होने पर ही उसे अधिकतम लाभ प्राप्त होगा। यदि उपभोक्ता व्यय करने के क्रम को बदल देता है तो उसे एक ओर कुल उपयोगिता में थोड़ी- सी वृद्धि होगी तो दूसरी ओर उसे कुल उपयोगिता में भी हानि होगी जो कि लाभ की अपेक्षा अधिक है। अतः उपभोक्ता को अधिकतम लाभ तभी होगा जबकि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिताएँ दोनों दिशाओं में बराबर हों।

नियम की आधुनिक व्याख्या–आनुपातिकता का नियम
(Modern Interpretation of the Law– Law of Proportionality)

आधुनिक अर्थशास्त्री सम-सीमान्त उपयोगिता नियम की व्याख्या अन्य ढंग से करते हैं जिससे इस नियम को आनुपातिकता का नियम कहते हैं।

उपभोक्ता सन्तुलन (Consumer's Equilibrium)

उपभोक्ता अपनी सन्तुष्टि को अधिकतम करने हेतु सभी वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता समान करने का प्रयास करता है व साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रखा जाता है कि व्यय इस ढंग से किया जाए कि विभिन्न वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता उसके मूल्यों के अनुपात में हो। कोई भी विवेकशील व्यक्ति धन की सीमान्त उपयोगिता से कम वस्तु की उपयोगिता प्राप्त नहीं करेगा और हानि सहन नहीं करेगा। अतः निम्न सम्बन्ध स्थापित करके उपभोक्ता सन्तुलन की स्थिति को प्राप्त कर लेगा।

$$\text{प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिता} = \frac{\text{x वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{x वस्तु का मूल्य}}$$

$$= \frac{y \text{ वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{y \text{ वस्तु का मूल्य}} = \frac{z \text{ वस्तु की सीमान्त उपयोगिता}}{z \text{ वस्तु का मूल्य}}$$

$$\frac{MU_x}{P_x} = \frac{MU_y}{P_y} = \frac{MU_z}{P_z} = \text{MU प्रति आय रुपए}$$

NOTES

वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता को उनके सम्बद्ध मूल्यों से विभाजित करके सीमान्त उपयोगिता प्रति इकाई निकाल ली जाती है। उपभोक्ता की सन्तुलन की स्थिति उस समय होगी, जबकि सभी वस्तुओं से एक-समान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त हो। यदि x वस्तु y वस्तु की अपेक्षा अधिक सीमान्त उपयोगिता प्रदान करती है तो वह x वस्तु की अधिक इकाइयाँ तथा y वस्तु की कम इकाइयाँ खरीदेगा और अपनी कुल सन्तुष्टि को बढ़ाकर अधिकतम सुख प्राप्त करेगा। यदि सभी वस्तुओं से प्रति रुपया सीमान्त उपयोगिता समान प्राप्त हो, तो वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन करना हानिकारक होगा, क्योंकि इसमें हानि, उपयोगिता के लाभ से अधिक है। अतः एक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता एवं उसकी कीमत का अनुपात दूसरी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता तथा कीमत के अनुपात के बराबर होना चाहिए, क्योंकि दोनों ही अनुपात इकाई के बराबर माने जाते हैं। यही तर्क दो से अधिक वस्तुओं के बारे में भी लागू होगा। **उपभोक्ता उस समय सन्तुलन की अवस्था में होगा जब उपभोक्ता को एक वस्तु के बदले दूसरी वस्तु परिवर्तन करने की आवश्यकता न हो। यह तभी सम्भव होगा, जबकि व्यय की समस्त मदों से प्राप्त होने वाली सीमान्त उपयोगिता समान हो।**

उपभोक्ता अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करके सन्तुलन व्यवस्था में आने का विचार करता है। इस बात को अग्र सारणी के रूप में रखा जा सकता है।

इकाइयाँ	दूध (120 पैसे प्रति लीटर)	सेव (60 पैसे प्रति 100 ग्राम)	कॉफी (40 पैसे प्रति कॉफी)
1	300	150	95
2	290	140	90
3	280	130	85
4	270	120	80
5	260	110	75
6	250	100	70
7	240	90	65

माना उपभोक्ता के पास केवल 15 रुपये हैं, जिनसे वह दूध-सेव व कॉफी खरीदना चाहता है। उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने हेतु उक्त तीन वस्तुओं पर उचित ढंग से व्यय करेगा। अतः उपभोक्ता अपने व्यय को इस ढंग से वितरित करेगा कि प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता एवं उनके मूल्य के बीच के सम्बन्ध बराबर हों। इसे निम्न प्रकार रखा जा सकता है।

$$\text{दूध} = \frac{240}{120} = 2$$

$$\text{सेव} = \frac{120}{40} = 2$$

$$\text{कॉफी} = \frac{80}{40} = 2$$

15 रु. में से 7 रु. दूध पर, 4 रु. सेव पर तथा 4 रु. कॉफी पर व्यय करके उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सकता है।

$$\text{दूध} = 120 \times 7 = 840$$

$$\text{सेव} = 60 \times 4 = 240$$

$$\text{कॉफी} = 40 \times 4 = \frac{160}{1240}$$

इससे स्पष्ट है कि उपभोक्ता अपने धन में से 7 रु. दूध पर, 4 रु. सेव पर तथा 4 रु. कॉफी पर व्यय करेगा। यदि वह इस व्यवस्था के अतिरिक्त किसी अन्य ढंग से धन व्यय करता है तो उसे सदैव इससे कम ही उपयोगिता प्राप्त होगी। उपभोक्ता कभी भी उस नवीन व्यवस्था को स्वीकार नहीं करेगा जिसमें उसे पहले से कम उपयोगिता प्राप्त होती हो। चूँकि एक वस्तु की उपयोगिता तथा मूल्य का अनुपात दूसरी वस्तु की उपयोगिता तथा मूल्य के अनुपात के बराबर रहता है। अतः सम-सीमान्त उपयोगिता नियम को आनुपातिकता का नियम भी कहा जाता है।

NOTES

माँग का नियम
(Law of Demand)

सम सीमान्त उपयोगिता नियम माँग के नियम की भी व्याख्या करता है। माँग के नियम के अनुरूप ही अधिक मूल्य पर उपभोक्ता कम वस्तुएँ क्रय करता है और कम मूल्य पर अधिक वस्तुएँ क्रय करेगा। यदि उदाहरण में दूध का मूल्य बढ़ जाता है और वह उतनी ही इकाइयाँ दूध पर व्यय करे तो उसे पूर्व की भाँति उतनी उपयोगिता प्राप्त नहीं होगी, क्योंकि सीमान्त उपयोगिता एवं मूल्य का अनुपात पहले जैसा नहीं होता। अतः जब तक बढ़े हुए मूल्यों पर उपभोक्ता दूध की मात्रा में कमी नहीं करता, उसे अपने व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त नहीं होगी।

बोध प्रश्न

1. अवसर लागत सिद्धान्त को समझाइए।

.....

.....

.....

1.7 लाभ अधिकतमकरण सिद्धांत (Profit Maximisation Theory)

फर्म के नव-क्लासिकी सिद्धांत में एक व्यावसायिक फर्म का मुख्य उद्देश्य लाभ अधिकतमकरण है। फर्म अपने लाभों को अधिकतम करती है जब वह दो नियमों को संतुष्ट करती है : (1) $MC = MR$ और (2) MR वक्र को MC वक्र नीचे से काटता है। अधिकतम लाभों का अभिप्राय शुद्ध लाभों से है जो उत्पादन की औसत लागत से ऊपर आधिक्य होते हैं। दूसरे शब्दों में, यह उसके सामान्य लाभों से ऊपर अवशिष्ट आय है। फर्म की लाभ अधिकतमकरण की शर्त को इस प्रकार भी व्यक्त किया जा सकता है :

Maximise $\pi (Q)$

जहाँ $\pi (Q) = R (Q) - C (Q)$

जहाँ $\pi (Q)$ लाभ है, $R (Q)$ आगम, $C (Q)$ लागतें, और Q उत्पादन की बेची गई इकाइयाँ।

ऊपर वर्णित दोनों सीमान्त नियम और लाभ अधिकतमकरण शर्त पूर्ण प्रतियोगिता फर्म और एकाधिकार फर्म दोनों पर लागू होते हैं।

मान्यताएँ (Assumptions) : लाभ अधिकतमकरण का सिद्धांत निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है :

1. अल्पकाल और दीर्घकाल दोनों में फर्म अपने लाभों का अधिकतमकरण करती है।
2. फर्म अपने लाभों को अधिकतमकरण कुछ काल-क्षितिज (time horizon) में करती है।
3. नयी फर्में केवल दीर्घकाल में ही उद्योग में प्रवेश कर सकती हैं। अल्पकाल में फर्मों का प्रवेश संभव नहीं है।
4. फर्म को अपनी माँग और लागतों के बारे में निश्चितता से मालूम है।
5. प्रत्येक कीमत पर वस्तु की कितनी मात्रा बेची जा सकती है इसका फर्म को पूर्ण ज्ञान होता है।
6. फर्म एक अकेली, पूर्णतया विभाज्य और स्टैंडर्ड वस्तु का उत्पादन करती है।
7. उत्पादन की तकनीकें दी हुई हैं।
8. उपभोक्ताओं की रुचियाँ और आदतें दी हुई और स्थिर हैं।
9. उद्यमी स्वयं ही फर्म का मालिक है।
10. फर्म का उद्देश्य लाभों को अधिकतम करना है जहाँ फर्म के आगम और लागतों का अन्तर लाभ हैं।

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत लाभ अधिकतमकरण
(Profit Maximisation under Perfect Competition)

पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म अनेक उत्पादकों में से एक होती है। वह वस्तु की मार्किट कीमत को प्रभावित नहीं कर सकती है। वह केवल बेचे जाने वाली वस्तु के बारे में निर्णय ले सकती है, जिसे वह मार्किट कीमत पर बेच सकती है। इसलिए पूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत फर्म का MR वक्र बराबर होता है AR वक्र। MR वक्र X-अक्ष के

NOTES

समानांतर होता है क्योंकि कीमत मार्किट द्वारा निश्चित की जाती है और फर्म उस कीमत पर अपनी वस्तु की मात्रा बेचती है। इस प्रकार फर्म संतुलन में होती है जब $MC = MR = AR$ (कीमत)। लाभ अधिकतमकरण वाली फर्म का संतुलन चित्र 1 में दर्शाया गया है जहाँ MR वक्र को MC वक्र पहले बिन्दु A पर काटता है। यह $MC = MR$ की शर्त को पूरा करता है परन्तु यह अधिकतम लाभ का बिन्दु नहीं है क्योंकि A व बाद MC वक्र नीचे रहता है। MR वक्र के। फर्म के लिए न्यूनतम उत्पादन OM लाभदायक नहीं है, क्योंकि OM से अधिक उत्पादन करके फर्म अपेक्षाकृत अधिक लाभ उठा सकती है, परन्तु OM_1 पर पहुँचकर फर्म आगे उत्पादन बंद कर देगी। OM_1 उत्पादन का वक्र वह स्तर है जहाँ सन्तुलन की दोनों शर्तें पूरी हो जाती हैं। यदि फर्म OM_1 से अधिक उत्पादन करना चाहती है तो उसे हानि उठानी पड़ेगी क्योंकि संतुलन बिन्दु B के बाद सीमाँत आगम से सीमांत लागत बढ़ जाती है।

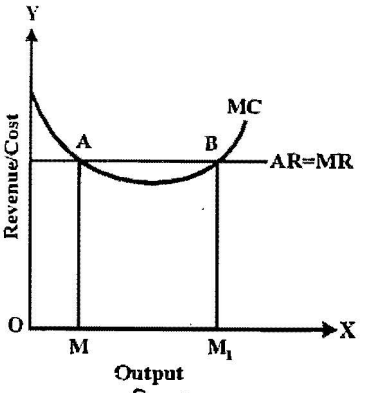

चित्र-3

एकाधिकार के अन्तर्गत लाभ अधिकतमकरण
(Profit Maximisation under Monopoly)

एकाधिकार में एक वस्तु का एक विक्रेता होने पर, एकाधिकार फर्म स्वयं उद्योग होती है। इसलिए इसका माँग वक्र दाईं ओर नीचे ढालू होता है, यह मानकर कि इसके ग्राहकों की रुचियाँ और आमदनियाँ दी हुई हैं। वह कीमत बनाने वाली होती है जो अपने अधिकतम लाभ के लिए कीमत निश्चित कर सकती है। यह दोनों में से एक बात कर सकती है। यदि फर्म अपने उत्पादन स्तर को चुन लेती है, तो उसकी कीमत को वस्तु की मार्किट माँग निर्धारित करती है अथवा, यदि वह अपनी वस्तु की कीमत निश्चित करती है, तो उसके उत्पादन का स्तर इस बात से निर्धारित होता है कि उपभोक्ता उस कीमत पर वस्तु की कितनी मात्राएँ खरीदेंगे। (1) $MC = MR < AR$ (कीमत), और (2) MR वक्र को MC वक्र नीचे से काटता है।

चित्र 4 में लाभ अधिकतम करने का उत्पादन स्तर OQ है और लाभ अधिकतम करने की कीमत OP है। यदि OQ से अधिक उत्पादन किया जाता है तो MR से MC अधिक होगी तथा लाभ का स्तर गिरेगा।

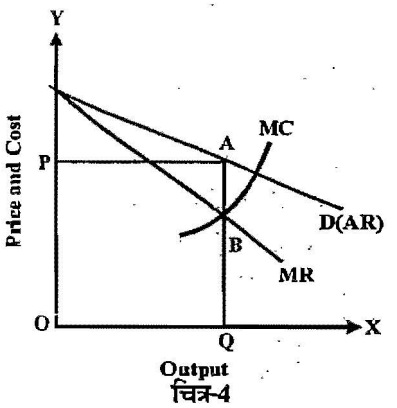

चित्र-4

लाभ अधिकतमकरण सिद्धांत की आलोचनाएँ
(Criticisms of Profit Maximisation Theory)

(1) **विभिन्न उद्देश्य** (Varied objectives) – नव-क्लासिकी फर्मों और आधुनिक निगमों के उद्देश्यों के मध्य भिन्नता का आधार इस तथ्य से उत्पन्न होता है कि अधिकतम लाभ का उद्देश्य उद्यमी के व्यवहार से संबंधित है जबकि आधुनिक निगम शेयरधारकों और प्रबन्धकों की अलग-अलग भूमिका के कारण भिन्न उद्देश्यों से प्रेरित होते हैं। इसमें शेयरधारक व्यावहारिक रूप से प्रबन्धकों की कार्यवाही पर कोई प्रभाव नहीं डालते।

(2) **अल्प-एकाधिकार फर्म पर लागू नहीं** (Not applicable to oligopoly firm) – वास्तव में आर्थिक सिद्धांत में अधिकतमकरण का उद्देश्य पूर्णतया प्रतियोगी या एकाधिकारी या एकाधिकारी प्रतियोगात्मक फर्मों के लिए है, परन्तु अल्प-एकाधिकार फर्म के मामले में इसकी आलोचना के कारण इसे छोड़ दिया गया है। इस प्रकार इस सिद्धांत में अर्थशास्त्रियों द्वारा जो विभिन्न उद्देश्य लाए गए हैं वे अल्प-एकाधिकार या द्वि-एकाधिकार से ही संबंधित हैं।

(3) **स्थैतिक सिद्धांत** (Static theory) – फर्म का नव-क्लासिकी सिद्धांत स्थैतिक प्रकृति का है। यह अल्प अवधि अथवा दीर्घ अवधि की मियाद (duration) के बारे में नहीं बताता है। नव-क्लासिकी फर्म का समय-अंतराल समान और स्वतंत्र समय अवधियों का होता है। निर्णयों का कालगत तौर से स्वतंत्र लिया जाता है। यह लाभ अधिकतमकरण सिद्धांत की बड़ी कमी है। वास्तव में निर्णय "कालगत तौर से परस्पर निर्भर" होते हैं।

(4) **औसत लागत का नियम लाभों को अधिकतम करता है** (Principle of average cost maximises profits) – हाल और हिच ने यह जाना कि फर्में अपनी अल्पकालीन लाभों को अधिकतम करने के लिए MC और

NOTES

MR की समानता का नियम लागू नहीं करती हैं। इस नियम के अनुसार, कीमत $= AVC + AFC +$ profit margin (जो सामान्य तौर से 10% होता है) इस प्रकार, लाभ अधिकतमकरण फर्म का मुख्य उद्देश्य औसत लागत नियम के आधार पर कीमत निश्चित करना और उसी कीमत पर अपना उत्पादन बेचना है।

(5) **फर्में *MC* और *MR* के बारे में नहीं जानती** (Firms do not know about MC and MR)– वास्तविक व्यावसायिक जगत में फर्में सीमांत लागत और सीमांत आगम के आगणन की चिंता नहीं करती हैं। बहुत-सी तो इन शब्दों से परिचित नहीं होती हैं। अन्य अपने माँग और आगम वक्रों के बारे में नहीं जानती हैं। हाल और हिच (Hall and Hitch) का प्रयोग सिद्ध प्रमाण यह दर्शाता है कि फर्मों के प्रबंधकों को सीमान्त लागत और सीमान्त आगम का ज्ञान नहीं है।

(6) **आनुभविक प्रमाण अस्पष्ट** (Empirical evidence vague) – लाभ अधिकतमकरण पर आनुभविक प्रमाण अस्पष्ट है। बहुत सी फर्में लाभों को एक मुख्य उद्देश्य नहीं मानती हैं। आधुनिक फर्मों का कार्य इतना जटिल होता है कि वे केवल लाभ अधिकतमकरण के बारे में ही नहीं सोचती हैं।

(7) **पूर्ण ज्ञान नहीं** (No perfect knowledge) – अधिकतम लाभ की परिकल्पना इस मान्यता पर आधारित है कि सभी फर्मों को न केवल उनकी अपनी अपितु अन्य फर्मों की लागतों और आगमों का भी पूर्ण ज्ञान होता है, परन्तु वास्तव में फर्मों को उन परिस्थितियों का पर्याप्त ज्ञान नहीं होता जिसके अन्तर्गत वे कार्य करती हैं।

(8) **आंतरिक संगठन से कोई संबद्धता नहीं** (No relevance to internal organisation) – फर्म के इस उद्देश्य की फर्म के आन्तरिक संगठन से थोड़ी या सीधे रूप में कोई संबद्धता नहीं है। निगमों के प्रबन्धकों को प्रबन्धकीय कार्रवाइयों के उद्देश्यों के रूप में फर्म की कुल परिसम्पत्तियों की बढ़ोत्तरी और बिक्री पर बल देते देखा गया है। इसके अलावा फर्मों के प्रबन्धक माँग कम होने पर लागत कम करने और कार्यकुशलता बढ़ाने के अभियान शुरू करते हैं।

(9) **लाभ अनिश्चित** (Profits uncertain) – अधिकतम लाभ के सिद्धांत में यह माना गया है कि फर्में अपने अधिकतम लाभ के स्तर के बारे में निश्चित हैं, परन्तु लाभ सबसे अधिक अनिश्चित हैं क्योंकि ये आय-प्राप्ति और भविष्य में होने वाली लागतों के अन्तर से प्राप्त होते हैं।

1.7 सारांश

प्रबंधकीय अर्थशास्त्र अपेक्षाकृत एक नवीन विषय है जिसमें अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रयोग निर्णयों एवं भविष्य की आयोजनाओं में किया जाता है। चूँकि प्रबंधकीय अर्थशास्त्र के विश्लेषण का स्वभाव व्यक्तिगत होता है, क्योंकि इसमें समग्र का अध्ययन न करके केवल व्यावसायिक फर्म का अध्ययन किया जाता है। व्यावसायिक अर्थशास्त्री व्यावसायिक फर्म का एक महत्वपूर्ण एवं उत्तरदायी अधिकारी होता है। वह आर्थिक नियोजन, पूर्वानुमान निर्णयन एवं नियंत्रण में उच्च प्रबंध की सहायता करता है।

1.8 शब्दावली

अवधारणायें, प्रबंधकीय अर्थशास्त्र, पूँजी, लागत।

बोध प्रश्न

1. प्रबंधकीय अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिए तथा इसकी मुख्य विशेषताएँ बताइए।

.....

.....

.....

2. प्रबंधकीय अर्थशास्त्री का महत्व और उत्तरदायित्व बताइये।

.....

.....

.....

3. प्रबंधकीय अर्थशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त कौन-कौन से हैं।

.....

.....

.....

NOTES

1.8 अभ्यास प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति और क्षेत्र का वर्णन कीजिए। परम्परागत अर्थशास्त्र से यह किस प्रकार भिन्न है?
2. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिए तथा इसकी मुख्य विशेषताएँ बताइए।
3. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति और क्षेत्र का वर्णन कीजिए तथा व्यावसायिक निर्णयों में आर्थिक विश्लेषण के महत्व का विवेचन कीजिए।
4. "प्रबन्ध को निर्णय लेने और भावी नियोजन में सुविधा प्रदान करने के लिए आर्थिक सिद्धान्त का व्यावसायिक व्यवहार के साथ एकीकरण प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र है।" स्पष्ट कीजिए।
5. "प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र का उद्देश्य व्यावसायिक समस्याओं के समझने और मूल्यांकन करने की प्रबन्ध की योग्यता में वृद्धि करना और प्रभावकारी निर्णय में उसकी सहायता करना है।" समझाइए।
6. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की प्रकृति और क्षेत्र का वर्णन कीजिए तथा व्यावसायिक निर्णयों में आर्थिक विश्लेषण के महत्व का विवेचन कीजिए।
7. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री कौन है? व्यवसाय प्रबन्ध में उसकी भूमिका और उत्तरदायित्व पर प्रकाश डालिए।
8. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री का महत्व और उत्तरदायित्व बताइये।
9. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री की परिभाषा दीजिए। व्यावसायिक अर्थशास्त्री के विभिन्न कार्यों की व्याख्या कीजिए।
10. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिए। यह परम्परागत अर्थशास्त्र से किस प्रकार भिन्न है? एक प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री के विभिन्न कार्यों को समझाइये।
11. प्रबन्धकीय निर्णय-निर्माण से आप क्या समझते हैं? निश्चितता, जोखिम व अनिश्चितता की स्थितियों में निर्णय किस प्रकार लिये जाते हैं?
12. अनिश्चितता व जोखिम में अन्तर लिखिए। प्रबन्धकीय अनिश्चितता के क्षेत्र स्पष्ट कीजिए।
13. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र की परिभाषा दीजिए। प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के आधारभूत सिद्धान्त कौन-कौन से हैं?
14. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र में फर्म का आर्थिक सिद्धान्त लागू क्यों नहीं होता है?

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र को परिभाषित कीजिए?
2. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र व परम्परागत अर्थशास्त्र में भेद कीजिए।
3. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्र के क्षेत्र को समझाइए?
4. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री के कार्यों का वर्णन कीजिए।
5. प्रबन्धकीय अर्थशास्त्री के उत्तरदायित्व का वर्णन कीजिए।
6. अवसर लागत सिद्धान्त को समझाइए।
7. अवमूल्यन सिद्धान्त क्या है?
8. सम-सीमान्त सिद्धान्त की व्याख्या करें।

अपनी प्रगति की जाँच करे
Test your Progress

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

डॉ. एस.सी. जैन, प्रबंधकीय अर्थशास्त्र–कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल

NOTES

अध्याय–2 माँग की लोच (ELASTICITY OF DEMAND)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 माँग की लोच की परिभाषा

2.3 माँग की लोच के प्रकार

2.3.1 कीमत लोच के प्रकार

2.3.2 माँग की आय लोच

2.3.3 माँग की आड़ी लोच

2.4 उपभोक्ता पसंद सिद्धान्त

2.5 उदासीनता विश्लेषण

2.5.1 उदासीनता वक्रों का इतिहास

2.5.2 उदासीनता वक्र विश्लेषण की मान्यताएँ

2.5.3 उदासीनता वक्र की विशेषताएँ या प्रकृति

2.6 उपभोक्ता का साम्य

2.7 प्रकट अधिमान सिद्धान्त

2.8 सारांश

2.9 शब्दावली

2.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य है–

1. माँग की लोच के नियम एवं प्रकारों से अवगत कराना
2. उपभोक्ता पसंद सिद्धांत एवं उदासीनता विश्लेषण को विस्तारपूर्वक समझाना।
3. प्रकट अधिमान सिद्धान्त को समझना।

2.1 प्रस्तावना

माँग का नियम केवल गुणात्मक कथन मात्र है, जो मूल्य में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप माँग के परिवर्तन की दशा को प्रदर्शित करता है, परन्तु माँग का नियम यह बताने में असमर्थ है कि मूल्य में परिवर्तन के कारण माँग में कितना परिवर्तन होता है। इसे ज्ञात करने हेतु ही अर्थशास्त्रियों ने माँग की लोच के विचार को प्रस्तुत किया है। माँग की लोच से आशय वस्तु मूल्य-मात्रा में जो परिवर्तन होते हैं उसे माँग की लोच कहा जाता है। सरल शब्दों में वस्तु के मूल्य में परिवर्तन के फलस्वरूप उसकी माँग में जो परिवर्तन होता, उसे माँग की लोच कहेंगे। व्यापक रूप से लोच से अभिप्राय स्वाधीन घटक में परिवर्तन होने के कारण परतन्त्र घटक में होने वाली प्रतिक्रिया की माप से है।

2.2 परिभाषायें

माँग की लोच की मुख्य परिभाषायें निम्न प्रकार हैं:-

(1) मेयर्स- "माँग की लोच, माँग की दी हुई वक्र-रेखा पर होने वाले अपेक्षित मूल्य परिवर्तन के परिणामस्वरूप क्रय की मात्रा में होने वाले सापेक्ष परिवर्तन की माप होती है।"

(2) **बेन्हम-** "यह विचार मूल्य में अल्प परिवर्तन के कारण माँग की मात्रा पर पड़ने वाले प्रभाव की लोच कहते हैं।"

(3) **ईस्थम-** "मूल्य में परिवर्तन के कारण माँग की मात्रा में होने वाले अन्तर की माप को माँग की लोच कहते हैं।"

NOTES

(4) **डॉ. मार्शल-** "माँग की लोच कम या अधिक होना इस बात पर निर्भर है कि मूल्य में एक निश्चित मात्रा में कमी होने से माँग अधिक बढ़ती है या कम और मूल्य में निश्चित वृद्धि होने से माँग कम घटती है या अधिक घटती है।"

(5) **श्रीमती जॉन रोबिन्सन-** "माँग की लोच मूल्य में थोड़े से परिवर्तन के कारण क्रय की कमी मात्रा के आनुपातिक परिवर्तन को मूल्य के आनुपातिक परिवर्तन से भाग देने पर प्राप्त होती है।"

(6) **सेम्युलसन-** "बाजार 'पी' में परिवर्तन से माँग Q में परिवर्तन की मात्रा को प्रदर्शित करने वाला यह एक विचार है। यह मुख्यतया प्रतिशत परिवर्तनों पर आश्रित होता है और Q एवं P को नापने में प्रयोग होने वाली इकाइयों से स्वतन्त्र रहता है।"

माँग की लोच का सूत्र-

श्रीमती जॉन रोबिन्सन- $\frac{\text{माँग में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{मूल्य में आनुपातिक परिवर्तन}}$

व्याख्या- माँग की लोच माँग के नियम पर आधारित है। माँग के नियम के अनुसार मूल्य में परिवर्तन होने से माँग में भी परिवर्तन हो जाता है, परन्तु माँग में कितना आनुपातिक परिवर्तन होगा, यह बताने में माँग का नियम असमर्थ है। मूल्य में परिवर्तन से भी वस्तुओं की माँग में एक समान परिवर्तन नहीं होता। कुछ वस्तुओं में मूल्य में थोड़ा-सा परिवर्तन हो जाता है, जबकि कुछ अन्य वस्तुओं की माँग पर मूल्य का कोई असर नहीं पड़ता है। **अर्थशास्त्र में मूल्य में परिवर्तन होने से माँग में जिस गति से परिवर्तन होता है उसी को माँग की लोच कहते हैं।** अतः माँग की लोच माँग एवं मूल्य के पारस्परिक सम्बन्ध को बताती है।

मुख्य बातें- माँग की लोच के सम्बन्ध में मुख्य बातें निम्नलिखित हैं-

(i) माँग की लोच का सम्बन्ध मूल्य और माँग की मात्रा में सापेक्षिक परिवर्तन से होता है।

(ii) माँग की लोच किसी दी हुई माँग रेखा की एक विशेषता है।

(iii) अल्प समय में माँग के उस परिवर्तन पर विचार किया जाता है जो मूल्य में थोड़े से परिवर्तन के परिणामस्वरूप होता है।

2.3 माँग की लोच के प्रकार (Types of Elasticity of Demand)

माँग की लोच मुख्यतः तीन प्रकार की होती हैं, यथा

(i) माँग की मूल्य या कीमत लोच (Price Elasticity of Demand)

(ii) माँग की आय लोच (Income Elasticity of Demand)

(iii) माँग की आड़ी लोच (Cross Elasticity of Demand)

इनका विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है:-

(अ) माँग की मूल्य या कीमत लोच
(Price Elasticity of Demand)

किसी वस्तु की कीमत में परिवर्तन होने पर माँग में होने वाले परिवर्तनों को माँग की कीमत लोच कहते हैं। प्रो. मार्शल एवं प्रो. श्रीमती जान राबिन्सन ने इस विचार को वैज्ञानिक रूप दिया।

माँग की मूल्य लोच की परिभाषा

प्रो. मार्शल – "किसी बाजार में माँग की लोच कम या अधिक होना इस बात पर निर्भर है कि मूल्य में एक निश्चित कमी होने से माँग अधिक बढ़े या कम और मूल्य में एक निश्चित वृद्धि होने से माँग कम घटती है या अधिक।"

NOTES

प्रो. श्रीमती जान राबिन्सन –"माँग की लोच, कीमत में थोड़े से परिवर्तन के परिणाम स्वरूप क्रय की गई मात्रा के आनुपातिक परिवर्तन को कीमत के आनुपातिक परिवर्तन से भाग देने पर प्राप्त होती है ।"

श्रीमती जान रोबिन्सन के उक्त विचार को निम्न सूत्र में व्यक्त किया जा सकता है–

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{माँग में आनुपातिक परिवर्तन}}{\text{कीमत में आनुपातिक परिवर्तन}}$$

2.3.1 मूल्य या कीमत लोच के प्रकार (Types of Price Elasticity)

कीमत या मूल्य लोच पाँच प्रकार की होती है, यथा (1) पूर्णतः लोचदार माँग (Perfectly Elastic Demand OR ed = ∞) ; (2) अधिक लोचदार माँग (Highly Elastic Demand OR ed > 1); (3) समलोचदार माँग (Elastic Demand OR ed = 1); (4) बेलोचदार माँग (Inelastic Demand or < ed) और (5) पूर्णतया बेलोचदार माँग (Perfectly in Elastic Demand OR ed = 0) । मूल्य लोच के विभिन्न प्रकारों की विस्तृत व्याख्या निम्न प्रकार है:–

(1) पूर्णतः लोचदार माँग (Perfectly Elastic Demand OR ed = ∞)

जब किसी वस्तु के मूल्य में बहुत कम परिवर्तन होने या कोई भी परिवर्तन न होने पर उसकी माँग में बहुत अधिक या अनन्त परिवर्तन हो जाता है, तब यह पूर्णतः लोचदार माँग कहलाती है । इसे माँग की अनन्त लोच भी कहा जाता है । पूर्णतः लोचदार माँग की धारणा अव्यावहारिक या काल्पनिक है । इसे रेखाचित्र–(1) में दर्शाया गया है ।

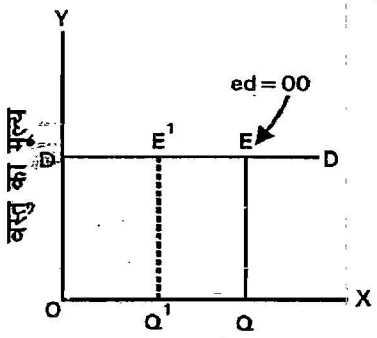

रेखाचित्र-1

रेखाचित्र–(1) में OX अक्ष पर वस्तु की मात्रा एवं OY अक्ष पर वस्तु का मूल्य दर्शाया गया है । DD पूर्णतः लोचदार माँग वक्र है । ऐसा वक्र OX अक्ष के समानान्तर होता है । यह बताता है कि OD मूल्य में बहुत कम परिवर्तन होने पर भी माँग में अनन्त परिवर्तन हो जाता है । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूर्णतः लोचदार माँग की धारणा काल्पनिक है तथा व्यावहारिक जगत में नहीं पाई जाती ।

(2) अधिक लोचदार या इकाई से अधिक लोचदार माँग
(Relatively or Highly Elastic Demand or ed > 1)

जब किसी वस्तु के मूल्य में हुए परिवर्तन की तुलना में उसकी माँग अधिक परिवर्तित हो जाती है, तब इसे इकाई से अधिक लोचदार माँग कहा जाता है । दूसरे शब्दों में, **किसी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन के अनुपात से माँग में अधिक परिवर्तन होता है, तो इसे अधिक लोचदार माँग कहा जाता है ।** उदाहरणार्थ– यदि किसी वस्तु के मूल्य में 10 प्रतिशत वृद्धि होने के परिणामस्वरूप माँग में 50 प्रतिशत की कमी हो जाती है, तो उसे अधिक लोचदार माँग कहा जाता है । रेखाचित्र–(2) में अधिक लोचदार माँग को दर्शाया गया है ।

रेखाचित्र–(2)में OX अक्ष पर वस्तु की मात्रा एवं OYअक्ष पर वस्तु के मूल्य को दर्शाया गया है । DD माँग रेखा है । यदि वस्तु का मूल्य OP रहता है, तब उसकी माँग OQ होती है, किन्तु यदि वस्तु का मूल्य OP से बढ़कर OP^1 हो जाता है, तब वस्तु की माँग OQ से घटकर OQ^1 हो जाएगी । इस स्थिति में वस्तु की माँग अधिक लोचदार है । चित्र में मूल्य में वृद्धि PP^1 (जो कि कम है) के कारण माँगी गई मात्रा में OQ^1 की कमी हुई है (जो कि अधिक है) । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अधिक लोचदार माँग वक्र 'पड़ी' हुई रेखा के समान या उसका ढाल तुलनात्मक कम होता है । प्रायः विलासिता की वस्तुओं की माँग इसी श्रेणी की होती है ।

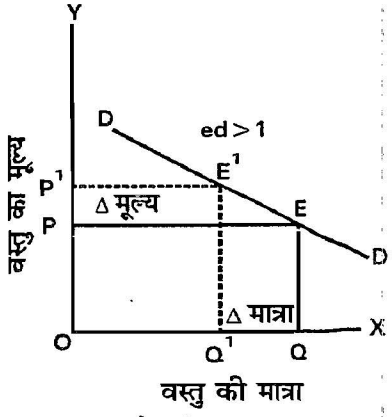

रेखाचित्र-2

(3) समलोचदार माँग या इकाई के बराबर माँग की लोच

(Elastic Demand or Unitary Elastic Demand or ed=1)

इसे लोचदार माँग भी कहा जाता है। जब किसी वस्तु के मूल्य में होने वाले परिवर्तन के अनुपात में ही उसकी माँग में परिवर्तन होता है, तो इसे इकाई के बराबर या सम लोचदार माँग कहा जाता है। उदाहरणार्थ–यदि किसी वस्तु के मूल्य में 10 प्रतिशत की वृद्धि के परिणामस्वरूप उसकी माँग भी 10 प्रतिशत ही कम होती है, तब माँग की लोच इकाई के बराबर होगी। इसे रेखाचित्र–3 द्वारा व्यक्त किया जा सकता है।

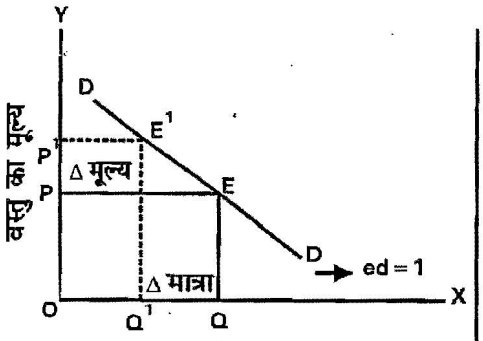

रेखाचित्र–3

रेखाचित्र–3 में OX अक्ष पर वस्तु की मात्रा एवं OY अक्ष पर वस्तु का मूल्य दर्शाया गया है। DD माँग रेखा है। जब वस्तु का मूल्य OP रहता है, तब उसकी माँग OQ रहती है। किन्तु जब मूल्य OP से बढ़कर OP^1 हो जाता है, तब वस्तु की माँगी गई मात्रा भी OQ से घटकर OQ^1 हो जाती है। चित्र में मूल्य में जिस अनुपात से परिवर्तन हुआ है, माँगी गई मात्रा भी उसी अनुपात में परिवर्तित हुई है। इसे माँग की लोच इकाई के बराबर कहा जाता है, अर्थात् ed=1. चित्र में जहाँ मूल्य 40 प्रतिशत बढ़े हैं, माँगी गई मात्रा भी 40 प्रतिशत कम हुई है।

(4) बेलोचदार माँग या इकाई से कम लोचदार माँग

(Inelastic Demand or Relatively Less Elastic Demand or ed<1)

जब किसी वस्तु के मूल्य में हुए परिवर्तन की तुलना में उसकी माँग में कम परिवर्तन होता है, तो ऐसी माँग को इकाई से कम लोचदार माँग कहा जाता है। दूसरे शब्दों में वस्तु के मूल्य में जिस अनुपात में परिवर्तन होता है, माँग उससे कम अनुपात में परिवर्तित होती है इसे बेलोचदार माँग कहते हैं। उदाहरण के लिये–यदि किसी वस्तु के मूल्य में 50% की वृद्धि होने पर उस वस्तु की माँग केवल 20 प्रतिशत ही कम हो, तब इसे बेलोचदार माँग कहा जाता। ऐसी माँग की रेखा खड़ी हुई या बहुत अधिक ढालू होती है। इसे रेखाचित्र–4 में दर्शाया गया है।

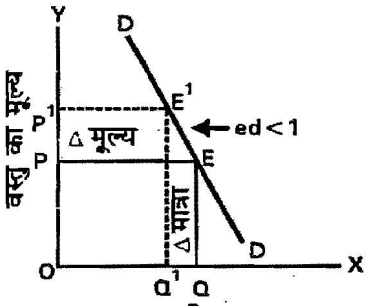

रेखाचित्र–4

रेखाचित्र–4 में OX अक्ष पर वस्तु की मात्रा और OY अक्ष पर वस्तु का मूल्य दर्शाया गया है। DD कम लोचदार माँग की रेखा है। जब वस्तु का मूल्य OP रहता है तब वस्तु की माँग OQ होती है, किन्तु जब मूल्य OP से बढ़कर OP^1 हो जाते हैं, तब वस्तु की माँगी गई मात्रा भी OQ से कम होकर OQ^1 हो जाती है। यहाँ पर मूल्य (PP^1) में वृद्धि का प्रतिशत, मात्रा (OQ^1) में प्रतिशत परिवर्तन की तुलना में अधिक है। फलतः वस्तु की माँग इकाई से कम लोचदार है।

(5) पूर्णतः बेलोचदार माँग (Perfectly Inelastic Demand or ed=O)

जब किसी वस्तु के मूल्य में बहुत अधिक परिवर्तन होने पर भी उसकी माँग में कोई परिवर्तन न हो या स्थिर रहे, तब इसे पूर्णतः बेलोचदार माँग कहते हैं। इसे शून्य लोच भी कहा जाता है। यह एक काल्पनिक धारणा है तथा इसका उदाहरण व्यावहारिक जगत में देखने को नहीं मिलता। इसे रेखाचित्र –5 में दर्शाया गया है।

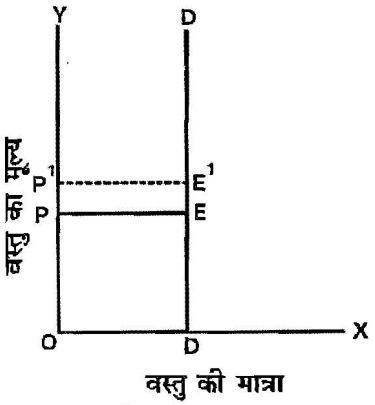

रेखाचित्र–5

रेखाचित्र–5 में OX अक्ष पर वस्तु की मात्रा एवं OY अक्ष पर वस्तु का मूल्य दर्शाया गया है। DD माँग रेखा है, जो कि पूर्णतः बेलोचदार है। जब वस्तु का मूल्य OP होता है तब वस्तु की माँग OD रहती है, किन्तु मूल्य OP से बढ़कर OP^1 होने पर भी वस्तु की माँग में कोई परिवर्तन नहीं होता अर्थात् OD ही रहती है। दूसरे शब्दों में, इस दशा में मूल्य में कोई भी वृद्धि होने पर वस्तु की माँग पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता।

NOTES

2.3.2 माँग की आय लोच (Income Elasticity of Demand)

जिस प्रकार किसी वस्तु के मूल्य एवं उसकी माँगी गई मात्रा में पारस्परिक सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार उपभोक्ता की आय एवं वस्तु की माँगी गई मात्रा में भी पारस्परिक सम्बन्ध होता है, जिसे माँग की आय लोच कहा जाता है।

माँग की आय लोच की धारणा यह बताती है कि उपभोक्ता की आय में परिवर्तन के फलस्वरूप उसके द्वारा की गयी वस्तु की खरीदी पर क्या प्रभाव पड़ता है? दूसरे शब्दों में, **"उपभोक्ता की आय में किसी दिये हुए परिवर्तन एवं वस्तु की मात्रा में हुए परिवर्तनों के बीच के अनुपात को माँग की आय लोच कहा जाता है।"**

प्रो. स्टोनियर एवं हेग (Prof Stonier & Hague) के अनुसार, "अन्य बातें समान पर क्रेता की आय लोच किसी वस्तु की खरीदी जाने वाली मात्रा में होने वाले आनुपातिक परिवर्तन एवं क्रेता की आय में होने वाले आनुपातिक परिवर्तन के मध्य के अनुपात को बताती है।" इस प्रकार सरल शब्दों में **माँग की आय लोच यह बताती है कि उपभोक्ता की आय में परिवर्तन होने पर उसके द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तु के क्रय की मात्रा पर क्या प्रभाव पड़ता है।**

माँग की आय लोच के सन्दर्भ में सामान्य धारणा यह है कि उपभोक्ता की आय में वृद्धि के परिणामस्वरूप वस्तु की माँगी गई मात्रा में वृद्धि होती है और आय के घटने पर वस्तु की माँग में कमी होती है, अर्थात **माँग की आय लोच धनात्मक** होती है, किन्तु यह नियम सदैव लागू नहीं होता। कुछ ऐसी भी वस्तुएँ होती हैं, जिन्हें हीन वस्तुएँ (Inferior Commodities) कहा जाता है, माँग आय में वृद्धि के साथ-साथ कम होती है। ऐसी वस्तुओं की आय लोच **ऋणात्मक** होती है।

आय-लोच की गणना

आय लोच कई प्रकार की होती है, जैसे आय लोच इकाई के बराबर, आय लोच इकाई से अधिक या इकाई से कम आदि। आय लोच की गणना के लिए आय में हुए आनुपातिक परिवर्तन और वस्तु की माँग में हुए आनुपातिक परिवर्तन की तुलना की जाती है। इसके लिए निम्न सूत्र का उपयोग किया जाता है-

$$\text{माँग की आय-लोच} = \frac{\text{माँगी गई वस्तु की मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{आय में प्रतिशत परिवर्तन}} = \frac{\Delta D}{\Delta I}$$

उदाहरण- यदि किसी उपभोक्ता की आय में 20 प्रतिशत की वृद्धि होने के परिणामस्वरूप किसी वस्तु की माँग में 30 प्रतिशत की वृद्धि होती है, तब माँग की आय लोच निम्न प्रकार ज्ञात की जा सकती है-

$$\text{माँग की आय लोच (ei)} = \frac{30 \text{ प्रतिशत}}{20 \text{ प्रतिशत}} = 1.5 \text{ या इकाई से अधिक}$$

आय की लोच का वर्गीकरण या प्रकार
(Classification of Income Elasticity)

माँग की मूल्य लोच के समान ही माँग की आय लोच भी कई प्रकार की होती है, किन्तु यह सामान्यतः धनात्मक होती है, अर्थात् आय में वृद्धि के परिणामस्वरूप वस्तु की माँग बढ़ती है। इसके विपरीत आय में कमी के परिणामस्वरूप वस्तु की माँग घटती है। सामान्यतः माँग की आय लोच को निम्न वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है।

I. माँग की आय लोच इकाई के बराबर (Unitary income elasticity of demand ei=1)- जब आय में जिस अनुपात में परिवर्तन होता है, वस्तु की माँग भी उसी अनुपात में परिवर्तित हो, तब माँग की आय लोच इकाई के बराबर होती है। उदाहरणार्थ- यदि किसी उपभोक्ता की आय में 20 प्रतिशत की वृद्धि होने पर वस्तु की माँग में भी ठीक 20 प्रतिशत की ही वृद्धि हो, तब माँग की आय लोच इकाई के बराबर होती है।

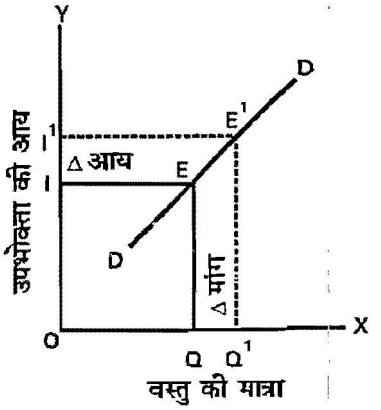

रेखाचित्र-6

रेखाचित्र-6 में OX अक्ष पर वस्तु की मात्रा एवं OY अक्ष पर आय को दर्शाया गया है। जब उपभोक्ता की आय OI होती है, तब वस्तु

की माँग OQ रहती है, किन्तु जब आय OI से बढ़कर OI^1 होती है, तब वस्तु की माँग भी OQ से बढ़कर OQ^1 हो जाती है, रेखाचित्र से स्पष्ट होता है कि आय में वृद्धि का अनुपात या Δ आय और वस्तु की माँगी गई मात्रा में आनुपातिक वृद्धि या Δ माँग के बराबर है। ऐसी स्थिति में आय की लोच इकाई के बराबर होती है।

II. इकाई से अधिक माँग की आय लोच (Income elasticity of demand is more than unity OR $ei > 1$) – जब किसी वस्तु की माँग में वृद्धि का अनुपात आय में हुई वृद्धि के अनुपात में अधिक होता है, तब माँग की लोच इकाई से अधिक होती है। उदाहरणार्थ– यदि किसी उपभोक्ता की आय में 20 प्रतिशत की वृद्धि होने पर वस्तु की माँग में 40 प्रतिशत वृद्धि होती है, तब माँग की आय लोच इकाई से अधिक कही जाती है।

III. इकाई से कम माँग की आय लोच (Income elasticity of demand is less than unity or $ei < 1$)– जब किसी वस्तु की माँग में आनुपातिक वृद्धि, आय में हुई आनुपातिक वृद्धि से कम हो, तब माँग की आय लोच इकाई से कम होती है। दूसरे शब्दों में, माँग में प्रतिशत वृद्धि कम एवं आय में प्रतिशत वृद्धि अधिक होने पर माँग की आय कम लोचदार कही जाती है। उदाहरणार्थ–यदि आय में 50 प्रतिशत की वृद्धि होने के बावजूद भी वस्तु की माँग में केवल 20 प्रतिशत ही हो, तब माँग की आय लोच कम लोचदार कही जाती है। सामान्यतः आवश्यक आवश्यकताओं वाली वस्तुओं की माँग इसी श्रेणी की होती है।

IV. माँग की शून्य आय लोच (Zero income elasticity of demand OR $ei = 0$)–जब आय में परिवर्तन के परिणामस्वरूप वस्तु की माँगी गई मात्रा अपरिवर्तित या स्थिर रहती है, तब माँग की आय लोच शून्य कही जाती है। इस प्रकार की स्थिति में आय माँग वक्र लम्बाकार होता है।

V. माँग की अनन्त आय लोच (Infinite income elasticity of demand or $ei = \infty$)– जब आय में बहुत कम या कोई भी परिवर्तन होने पर वस्तु की माँग में बहुत अधिक परिवर्तन हो जाता है तथा इस प्रकार की आय लोच को अनन्त कहा जाता है। यह एक काल्पनिक स्थिति का द्योतक है तथा व्यवहार में देखने को नहीं मिलती। इस स्थिति में आय-माँग वक्र समानान्तर आकार की होती है।

2.3.3 माँग की आड़ी लोच (Cross Elasticity of Demand)

जब एक वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होने के परिणामस्वरूप किसी दूसरी वस्तु की माँग प्रभावित होती है, तब इस सम्बन्ध को माँग की आड़ी लोच कहा जाता है। दूसरे शब्दों में, जब Y वस्तु के मूल्य में हुए एक निश्चित परिवर्तन के परिणामस्वरूप X वस्तु की माँग में वृद्धि होती है, उदाहरणार्थ–यदि चाय के मूल्य में वृद्धि होने से कॉफी की माँग में वृद्धि होती है, तब इसे माँग की आड़ी लोच कहा जाता है।

माँग की आड़ी लोच की गणना – माँग की आड़ी लोच की गणना के लिए एक वस्तु के मूल्य में हुए प्रतिशत परिवर्तन एवं दूसरी वस्तु की माँगी गई मात्रा में हुए प्रतिशत परिवर्तन की तुलना की जाती है उदाहरणार्थ – यदि X वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होने से एवं Y वस्तु की माँग में परिवर्तन होता है। ऐसी स्थिति में Y वस्तु की माँग की आड़ी लोच की गणना निम्न सूत्र के द्वारा की जा सकती है–

$$\text{माँग की आड़ी लोच} = \frac{\text{Y वस्तु की माँग–मात्रा में प्रतिशत परिवर्तन}}{\text{X वस्तु के मूल्य में प्रतिशत परिवर्तन}}$$

स्थानापन्न वस्तुएँ और माँग की आड़ी लोच
(Substitute Goods and Cross Elasticity of Demand)

स्थानापन्न वस्तुओं से तात्पर्य उन वस्तुओं से है जिनका एक– दूसरे के स्थान पर उपयोग किया जाता है, जैसे–चाय एवं कॉफी। अतः जब दो स्थानापन्न वस्तुओं में से किसी एक के मूल्य में परिवर्तन से दूसरी वस्तु की माँग में परिवर्तन होता है, तब इस सम्बन्ध को माँग की आड़ी लोच कहा जाता है। सामान्यतः यदि एक वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है तब उसकी स्थानापन्न वस्तु की माँग में वृद्धि होती है। इसके विपरीत, जब एक वस्तु के मूल्य में कमी होती है, तब उसकी स्थानापन्न वस्तु की माँग भी कम हो जाती है, किन्तु यह नियम तभी क्रियाशील होता है, जब अन्य बातें समान रहें, अर्थात जब एक वस्तु के मूल्य में परिवर्तन होता है, तब दूसरी वस्तु के मूल्य में परिवर्तन नहीं होना चाहिए। इसके साथ ही उपभोक्ता की आय, रुचि, फैशन आदि में भी कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए।

NOTES

उदाहरणार्थ–X एवं Y दो स्थानापन्न वस्तुएँ हैं। यदि Y वस्तु की कीमत बढ़ी है, लेकिन X वस्तु की कीमत स्थिर रहती है, तब X वस्तु की माँग मात्रा में वृद्धि होगी। इसका कारण यह है कि उपभोक्ता Y वस्तु के स्थान पर X वस्तु का प्रयोग करने लगेंगे। इसके विपरीत, Y वस्तु की कीमत गिर जाने तथा X की कीमत स्थिर रहने पर X वस्तु की माँग – मात्रा घट जायेगी, क्योंकि उपभोक्ता X वस्तु के स्थान पर Y वस्तु

का प्रयोग करने लगेगा, जो कि सस्ती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि **स्थानापन्न वस्तुओं की माँग की आड़ी लोच धनात्मक होती है, अर्थात् एक वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने के परिणामस्वरूप दूसरी वस्तु की माँग-मात्रा में वृद्धि होती है।** इसे रेखाचित्र –7 के द्वारा भी व्यक्त किया जा सकता है।

रेखाचित्र–7 में OX अक्ष पर X वस्तु की मात्रा एवं OY अक्ष पर Y वस्तु का मूल्य दर्शाया गया है। जब Y वस्तु का मूल्य OP रहता है, तब X वस्तु की माँग मात्रा OQ होती है, किन्तु यदि Y वस्तु का मूल्य OP से बढ़कर OP^1 हो जाता है, तब X वस्तु माँग–मात्रा भी OQ से बढ़कर OQ^1 हो जाती है। दूसरे शब्दों में, जब Y वस्तु के मूल्य में PP^1 की वृद्धि होती है, तब X वस्तु की माँग भी QQ^1 से बढ़ जाती है। इस प्रकार Y एवं X वस्तु के पारस्परिक सम्बन्ध को ही माँग की आड़ी लोच कहा जाता है।

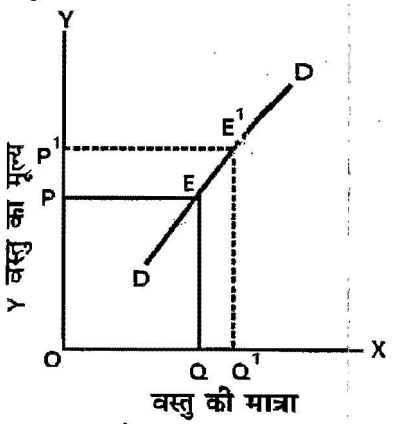

रेखाचित्र-7

पूरक वस्तुएँ और माँग की आड़ी लोच
(Complimentary Goods & Cross Elasticity of Demand)

पूरक वस्तुएँ वे वस्तुएँ होती हैं जिनका उपयोग संयुक्त रूप से किया जाता है, जैसे स्कूटर एवं पेट्रोल। पेट्रोल के अभाव में स्कूटर का उपयोग सम्भव नहीं होता। इस स्थिति में जब एक वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है, तब दूसरी पूरक वस्तु की माँग कम हो जाती है। उदाहरणार्थ– यदि X और Y दो पूरक वस्तुएँ हैं। यदि Y वस्तु के मूल्य में वृद्धि होती है, तब Y वस्तु की माँग–मात्रा में कमी के साथ–साथ X वस्तु की माँग–मात्रा भी कम हो जाती है, जबकि X वस्तु के मूल्य में कोई वृद्धि नहीं हुई। इसके विपरीत यदि Y वस्तु के मूल्य में कमी होती है, तब Y की माँग–मात्रा में वृद्धि के साथ–साथ, X वस्तु की माँग–मात्रा में भी वृद्धि होती है जबकि X वस्तु के मूल्य में कमी नहीं हुई है।

इस प्रकार पूरक वस्तुओं में जब एक वस्तु का मूल्य बढ़ता है, तब दूसरी वस्तु की माँग कम होती है और इसके विपरीत, जब एक वस्तु का मूल्य कम होता है, तब दूसरी वस्तु की माँग बढ़ती है। दूसरे शब्दों में, **पूरक वस्तुओं की माँग की आड़ी लोच ऋणात्मक होती है।**

सामान्यतः पूरक वस्तुओं की माँग की आड़ी लोच इकाई के बराबर, इकाई से कम और इकाई से अधिक होती है। पूरक वस्तुओं की माँग की आड़ी लोच की प्रवृत्ति को रेखाचित्र–8 में दर्शाया गया है।

रेखाचित्र–8 में OX अक्ष पर X वस्तु की मात्रा एवं OY अक्ष पर Y वस्तु के मूल्य को दर्शाया गया है। DD माँग रेखा है जो कि Y वस्तु के मूल्य एवं X वस्तु की माँग–मात्रा के मध्य सम्बन्ध को दर्शाती है। जब Y वस्तु का मूल्य OP रहता है, तब X वस्तु की माँग OQ होती है, किन्तु जब Y वस्तु का मूल्य OP से बढ़कर OP^1 हो जाता है, तब X वस्तु की माँग भी OQ से घटकर OQ^1 रह जाती है। इस प्रकार, Y वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने के कारण X वस्तु की माँग कम हो जाती है। इसके विपरीत, यदि Y वस्तु के मूल्य में कमी आती है, मूल्य OP^1 से कम होकर OP हो जाता है, तब X वस्तु की माँग–मात्रा में भी वृद्धि होती है अर्थात् माँग OQ^1 से बढ़कर OQ हो जाती है। दूसरे शब्दों में पूरक **वस्तुओं की माँग की आड़ी लोच ऋणात्मक होती है।**

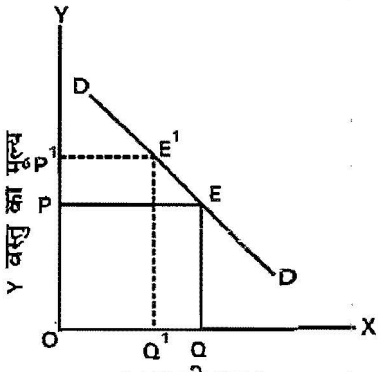

रेखाचित्र-8

माँग की आड़ी लोच का महत्व (Importance of Cross Elasticity of Demand)– माँग की आड़ी लोच का अर्थशास्त्र में

महत्वपूर्ण स्थान है ।अपूर्ण प्रतियोगिता के अन्तर्गत प्रत्येक फर्म अन्य फर्मों में हुए परिवर्तनों के अनुसार अपनी नीति का निर्धारण करती है । एकाधिकृत प्रतियोगिता में भी यही स्थिति रहती है

NOTES

यदि दो स्थानापन्न वस्तुओं की माँग की आड़ी लोच बहुत अधिक है, तब उत्पादकों को ज्ञात होता है कि एक वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने से दूसरी वस्तु की माँग में बहुत अधिक वृद्धि होगी । इस स्थिति को प्रत्येक बाजार स्थिति में दोनों वस्तुओं के उत्पादक पूर्णतः ध्यान में रखते हैं । इसी प्रकार, यदि दो पूरक वस्तुओं में ऊँची आड़ी लोच है, तो उत्पादक मूल्य निर्धारण के समय यह बात ध्यान में रखते हैं कि एक वस्तु के मूल्य में वृद्धि होने से दूसरी वस्तु की माँग स्वतः कम हो जायेगी । फलतः उत्पादक अपनी वस्तु के उत्पादन एवं मूल्य नीति निर्धारण में अन्य पूरक एवं प्रतिस्थापन्न वस्तुओं की नीति को भी ध्यान में रखता है । संक्षेप में माँग की आड़ी लोच का उपभोक्ता व्यवहार के विश्लेषण के साथ-साथ मूल्य-निर्धारण में भी महत्वपूर्ण स्थान है ।

बोध प्रश्न

1. माँग की आय लोच को समझाइए ।

.....

.....

.....

2. माँग की लोच से आप क्या समझते हैं ।

.....

.....

.....

2.4 उपभोक्ता पसंद सिद्धान्त (Theory of Consumer's Choice)

पसंद की समस्या आर्थिक जीवन की आधारभूत समस्या है । दैनिक जीवन में हम सभी को विभिन्न समयों पर चयन करना पड़ता है । ये चयन आर्थिक भी हो सकते हैं और अनार्थिक भी । आर्थिक चयन वे होते हैं जिनका कुछ महत्व होता है अथवा जो समुदाय के आर्थिक जीवन को प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षः प्रभावित करते हैं । यदि प्राध्यापक अपने सन्ध्याकालीन परिभ्रमण के दौरान पश्चिम के बजाय पूर्व की दिशा में टहलने का निर्णय करता है तो उसका यह चयन अनार्थिक बन जाता है । उसके लिए इस चयन का कुछ भी आर्थिक महत्व नहीं है और किसी भी तरह उसका यह चयन देश के आर्थिक जीवन को प्रभावित नहीं करेगा । दैनिक जीवन में हमें ऐसे अनेक निर्णय लेने पड़ते हैं । प्रत्येक आर्थिक निर्णय के अन्तर्गत हमें विभिन्न विकल्पों के बीच चयन करना पड़ता है । इसका मूलभूत कारण यह है कि हमारे उद्देश्य तो अनेक हैं, किन्तु हमारे साधन स्वल्प ही होते हैं और उन्हें कई प्रयोगों में भी लगाया जा सकता है । इसलिए स्वल्प साधनों को वैकल्पिक प्रयोग में लगाते समय हमें चयन करना पड़ता है । हमारे साधन आय एवं पूँजी की भाँति (material) भी हो सकते हैं तथा समय एवं शक्ति (energy) की तरह अभौतिक (non-material) भी । विकल्पों का चयन करते समय हमें कुछ विकल्पों का परित्याग करना पड़ता है, क्योंकि हमारे साधन सीमित होते हैं । जिन विकल्पों का परित्याग किया जाता है, वह वास्तव में सन्तुष्ट विकल्पों की कीमत पर ही होता है जैसे यदि कोई व्यक्ति अपनी आय बढ़ाने हेतु अधिक काम करने का निर्णय करता है तो उसी अनुपात में उसे अपने अवकाश-समय में कमी करनी पड़ेगी । इस प्रकार उसकी बढ़ी हुई मौद्रिक आय की लागत उसकी अवकाश-हानि होगी । इसी तरह यदि कोई किसान चावल के स्थान पर गेहूँ की फसल बोने का निर्णय करता है तब उस गेहूँ की लागत वह चावल होगी जो उस भूमि पर वह बो सकता था । इस प्रकार की लागत को अवसर लागत अथवा 'विस्थापन-लागत' कहते हैं ।

आर्थिक निर्णयों को हम तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित कर सकते हैं – (i) निजी निर्णय, (ii) व्यावसायिक निर्णय, और (iii) सामुदायिक निर्णय । निजी निर्णय वे होते हैं जो व्यक्तियों द्वारा निजी तौर पर किये जाते हैं । इन निर्णयों के अन्तर्गत निश्चय ही विभिन्न विकल्पों के बीच चयन किया जाता है । निजी निर्णयों का पाँच उपशीर्षकों के अन्तर्गत वर्गीकरण किया जाता है :

(i) उसे यह भी निर्णय करना होता है कि वह किसी विशेष सेवा अथवा रोजगार को अपनायेगा ।

(ii) उसे यह भी निर्णय करना होता है कि वह अपने वर्तमान व्यय को विभिन्न उपभोग्य वस्तुओं पर कैसे वितरित करेगा ।

NOTES

(iii) उसे यह निर्णय भी करना होता है कि वह अपनी परिसम्पत्ति को किस रूप में रखेगा। क्या वह अपने धन को शेयरों में लगायेगा अथवा भू-सम्पत्ति या आभूषणों में लगायेगा?

(iv) उसे यह भी निर्णय करना पड़ता है कि वह अपनी मौद्रिक आय का कितना भाग वर्तमान उपभोग पर व्यय करेगा और कितना भाग भविष्य के लिए बचायेगा।

(v) एक निजी व्यक्ति को यह निर्णय करना होता है कि वह अपने समय को परिदत्त कार्य और विश्राम के बीच किस प्रकार विभाजित करे।

चूँकि उपर्युक्त निर्णय व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं स्वादों का परिणाम होते हैं, अतः उनमें स्वेच्छाचारिता अथवा मनमानी का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति स्वभाव में मितव्ययी होता है, जबकि दूसरा उससे बिल्कुल विपरीत प्रकृति का होता है। इन दोनों की बचत एवं व्यय के तौर-तरीके निश्चय ही अलग-अलग होंगे। इस प्रकार, किसी व्यक्ति के आर्थिक निर्णय अधिकांशतः उसके स्वादों, आदतों एवं उसके व्यक्तित्व से ही प्रभावित होते हैं। इसके अलावा, निजी निर्णय अक्सर अन्योन्याश्रित होते हैं। किसी एक निर्णय में होने वाला परिवर्तन अन्य निर्णयों को भी प्रभावित कर देता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति अपनी मौद्रिक आय को बढ़ाने हेतु अधिक परिश्रम करने का निर्णय करता है तो उसका यह निर्णय उसके अन्य निर्णयों को भी प्रभावित करता है–कि वह अपनी मौद्रिक आय को प्रचलित व्यय एवं भावी बचत में कैसे वितरित करे। इसी प्रकार, यदि वह व्यक्ति अधिक बचत करने का निर्णय करता है तो इससे उसके इस निर्णय पर भी प्रभाव पड़ेगा कि अपनी बचत को वह किन विभिन्न परिसम्पत्तियों में लगायेगा। व्यक्ति के विभिन्न आर्थिक निर्णय एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार निर्णय अधिकांशतः सम्बन्धित व्यक्ति द्वारा विकल्पों के गुण-दोषों को भली-भाँति सोच-विचार कर ही लिये जाते हैं, यद्यपि कभी-कभी वे विशुद्धतः प्रेरणाओं का भी परिणाम होते हैं। जब ये निजी निर्णय सम्बन्धित व्यक्ति द्वारा क्षणिक प्रेरणाओं के कारण लिये जाते हैं तब इनके बारे में किसी प्रकार की भविष्यवाणी करना कठिन हो जाता है। किसी समय विशेष पर निजी व्यक्ति के साधन प्रायः निश्चित मात्रा में होते हैं और उसे साधनों की इस निश्चित मात्रा को ही विभिन्न उपयोगों में वितरित करना होता है। उदाहरणार्थ, निजी व्यक्ति की प्रायः निश्चित आय हुआ करती है जिसे वह बचत एवं व्यय के बीच वितरित करता है, लेकिन यह सम्भव है कि कालान्तर में उस व्यक्ति के निश्चित साधनों में परिवर्तन हो जाये, समय-परिवर्तन के साथ सम्बन्धित व्यक्ति की आय बढ़ सकती है और पहले की अपेक्षा वह अधिक व्यय एवं बचत कर सकता है। लेकिन किसी समय विशेष पर जब वह निर्णय लेता है, तब उसकी मौद्रिक आय स्थिर ही होती है।

व्यावसायिक निर्णय, जैसा कि हम जानते हैं, व्यावसायिक फर्मों द्वारा लिये जाते हैं। इन निर्णयों का सम्बन्ध उन विभिन्न विकल्पों से होता है जो फर्म के नियन्त्रक को उपलब्ध होते हैं। इन निर्णयों के अन्तर्गत विभिन्न विकल्पों का सोच-समझकर चयन किया जाता है। निजी निर्णयों के बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है। व्यावसायिक फर्में निश्चित परिस्थितियों में प्रायः अधिकतम लाभ कमाने का प्रयास करती हैं। अधिकतम लाभ कमाना, वास्तव में उनका अन्तिम उद्देश्य होता है। अतः व्यावसायिक फर्मों के भावों-व्यवहार के बारे में भविष्यवाणी करना कठिन नहीं होता। कोई फर्म अधिकतम लाभ कमाने हेतु किन-किन विकल्पों को अपनायेगी, इसकी हम सरलता से कल्पना कर सकते हैं। लेकिन कभी-कभी व्यावसायिक निर्णयों से सम्बन्धित हमारी भविष्यवाणियाँ मिथ्या भी सिद्ध होती हैं। व्यावसायिक निर्णय भी विशुद्धतः वस्तुनिष्ठ अथवा व्यक्ति-निरपेक्ष आधार पर नहीं लिये जाते। व्यवसायियों का व्यवहार भी कभी-कभी उनके निजी दृष्टिकोण एवं पूर्वाग्रहों से प्रभावित होता है। कुछ व्यवसायी भीरू स्वभाव के होते हैं, जबकि कुछ अन्य कोटि के साहस का परिचय देते हैं। कुछ व्यवसाय आशावादी होते हैं, जबकि कुछ घोर निराशावादी। इस प्रकार व्यावसायिक निर्णयों में व्यक्तिगत तत्व को पूर्णतः समाप्त नहीं किया जा सकता। लेकिन यह सही है कि निजी निर्णयों में व्यक्तिगत तत्व और भी महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करता है। यह कारण है कि व्यावसायिक निर्णयों की अपेक्षा निजी निर्णय को पूर्वानुमेय होते हैं।

फर्म की भाँति एक समुदाय को भी अनेक आर्थिक निर्णय लेने पड़ते हैं। जैसे यह निर्णय लेना होता है कि उत्पत्ति के साधनों को कैसे उपयोग किया जाए। योजना आयोग को योजना बताने समय यह निर्णय लेना पड़ता है कि भूमि को कृषि एवं गैर-कृषि कार्यों में किस प्रकार प्रयोग करें। इसी प्रकार देश में उपलब्ध मानवशक्ति को विभिन्न उद्योग- धन्धों में किस प्रकार उपयोग किया जाए और देश में पूँजी संसाधनों को विभिन्न कार्यों में कैसे वितरित किया जाए। योजना आयोग को विभिन्न विकल्पों के मध्य निर्णय लेना होता है।

प्रतियोगी विकल्पों में विनियोजन करने से अधिकतम लाभ संभव हो सकते हैं। योजना आयोग भी उन विकल्पों का चुनाव करता है, जिनसे समाज के कल्याण में अधिकतम वृद्धि सम्भव हो सके।

2.5 उदासीनता विश्लेषण (Indifference Approach)

NOTES

मार्शल ने उपभोक्ता के व्यवहार विश्लेषण को मुद्रा के मापदण्ड से मापकर गणनावाचक (Cardinal) रूप दिया । मार्शल के इस विचार की प्रो. जे. आर. हिक्स, प्रो. ऐलन आदि आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने कठोर आलोचना की और उपभोक्ता व्यवहार का विश्लेषण करने के लिये क्रमवाचक (Ordinal) दृष्टिकोण अपनाते हुए उदासीनता वक्रों की धारणा दी ।

उपयोगिता विश्लेषण के दोष
(Demerits of Utility Analysis)

उपभोक्ता व्यवहार के उपयोगितावादी दृष्टिकोण को अर्थशास्त्रियों ने लम्बे समय तक स्वीकार किया, किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने इसको अनुपयुक्त एवं दोषपूर्ण बताते हुए निम्नलिखित आलोचनाएँ कीं –

1. **उपयोगिता मापनीय नहीं है** (Utility is not Measurable)– आलोचकों के अनुसार उपयोगिता विश्लेषण का सबसे बड़ा दोष यह है कि प्रो. मार्शल ने उसे मुद्रा में मापनीय माना है, किन्तु यह धारणा दोषपूर्ण एवं अवैज्ञानिक है, क्योंकि उपयोगिता एक मनोवैज्ञानिक विचार है और उसे मुद्रा में मापना सम्भव नहीं है ।

2. **उपयोगिता एक व्यक्तिगत धारणा है** (Consumption is a Individualistic Concept)– उपयोगिता का विचार मूलतः एक व्यक्तिगत धारणा है । कारण यह है कि एक ही वस्तु की उपयोगिता भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न होती है । अतः इसका माप सम्भव नहीं है ।

3. **निश्चित एवं स्थिर मापदण्ड का अभाव** (Lack of Certain & Stable Measurement)– **प्रो. मार्शल** ने अपने विश्लेषण में उपयोगिता की माप के लिए मुद्रा का प्रयोग किया है, किन्तु मुद्रा का मूल्य स्थिर नहीं होता। अतः सुनिश्चित एवं स्थिर मापदण्ड के अभाव में उपयोगिता का माप नहीं किया जा सकता ।

4. **एक वस्तु की मान्यता** (Assumption of One Commodity)– मार्शल का उपयोगिता विश्लेषण एक वस्तु के सन्दर्भ में है । इसे स्थानापन्न एवं पूरक वस्तुओं के सन्दर्भ में लागू नहीं किया जा सकता। वास्तविक जीवन में उपभोक्ता केवल एक नहीं वरन् अनेक वस्तुओं को क्रय करता है । इस प्रकार की जटिल परिस्थितियों में मार्शल का माँग विश्लेषण सहायक नहीं होता ।

5. **मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता स्थिर नहीं होती** (Marginal Utility of Money is not Stable)– **प्रो. मार्शल** ने अपने उपयोगिता विश्लेषण में मुद्रा की सीमान्त उपयोगिता को स्थिर माना है, जो ठीक नहीं है । वास्तविकता यह है कि वस्तु के समान ही एक उपभोक्ता के पास मुद्रा की मात्रा ज्यों-ज्यों कम होती जाती है, त्यों-त्यों उपयोगिता में वृद्धि होती जाती है ।

6. **अविभाज्य वस्तुएँ** (Indivisible Goods) – दैनिक जीवन में उपभोक्ता अनेक अविभाज्य वस्तुओं का भी प्रयोग एक इकाई के रूप में करता है, जैसे कार, टी.वी. मकान आदि । इन्हें उपभोग की छोटी-छोटी इकाइयों में बाँटना सम्भव नहीं होता। इन वस्तुओं की माँग तालिका बनाना एवं इनकी सीमान्त उपयोगिता की गणना करना सम्भव नहीं है ।

2.5.1 उदासीनता वक्रों का इतिहास (History of Indifference Curves)

उदासीनता या तटस्थता वक्र विश्लेषण का प्रयोग सर्वप्रथम **प्रो. एजवर्थ** (Edgeworth) ने सन् 1881 में अपनी पुस्तक Mathemetical Physics में किया, किन्तु इसका व्यापक प्रयोग **विलफ्रेडो परेटो** (Vilfredo Pareto) ने सन् 1909 में किया । तदुपरान्त रूसी अर्थशास्त्री **प्रो. स्लटस्की** (Slutsky) ने सन् 1915 में कीमत परिवर्तन के कारण आय एवं स्थानापत्ति प्रभावों को पृथक-पृथक करके क्रमवाचक विश्लेषण में सुधार किया। वास्तविकता में **प्रो. हिक्स** एवं **ऐलन** ने उदासीनता वक्रों का उपयोग अपने निबन्ध "A Reconsideration of the Theory of Value" में सन् 1934 में किया। इसके बाद **प्रो. हिक्स** ने अपनी पुस्तक "Value and Capital" और "Revision of Demand Theory" में इस विधि का विस्तार से प्रयोग किया ।

उदासीनता वक्रों के विश्लेषण को अनेक नामों से जाना जाता है जैसे प्रतिस्थापन विश्लेषण (Substitution Analysis), तटस्थता विश्लेषण (Indifference Analysis), प्राथमिकता दृष्टिकोण (Preference Approach), क्रमवाचक दृष्टिकोण (Ordinal Approach), आदि । इसे उत्पादन के क्षेत्र में सम-उत्पाद-वक्र विश्लेषण के नाम से जाना जाता है ।

NOTES

उदासीनता वक्र का अर्थ एवं परिभाषाएँ
(Meaning and Definitions of Indifference Curve)

सरल शब्दों में, उदासीनता वक्र रेखा समान सन्तुष्टि प्रदान करने वाले विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करने वाली रेखा होती है। चूँकि उपभोक्ता को वस्तुओं के इन संयोगों से समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है, अतः संयोग के चयन के सम्बन्ध में उपभोक्ता उदासीन या तटस्थ हो जाता है। इसीलिए इस विश्लेषण को उदासीनता वक्र विश्लेषण या तटस्थता वक्र विश्लेषण कहा जाता है। इस विश्लेषण की प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं–

प्रो. ईस्थम (Eastham)– "यह वस्तुओं की मात्राओं के उन विभिन्न संयोगों का बिन्दु पथ है, जिनके मध्य व्यक्ति उदासीन रहता है और इसी कारण उसे उदासीनता वक्र कहा जाता है।"

प्रो. बोल्डिंग (Boulding)– "समान अनुराग दिखाने वाली वक्र रेखाओं को तटस्थता वक्र (या उदासीनता वक्र) कहा जाता है, क्योंकि वे वस्तुओं के ऐसे संयोगों को दर्शाती हैं, जो एक-दूसरे से न तो अच्छे हैं और न ही बुरे।"

प्रो. मेयर्स (Meyers)– "उदासीनता की तालिका वह तालिका है, जो दो वस्तुओं के ऐसे विभिन्न संयोगों को प्रदर्शित करती है, जिनसे किसी व्यक्ति को समान सन्तुष्टि मिलती है। यदि इस तालिका को वक्र रेखा के रूप में प्रदर्शित किया जाये तो इसे तटस्थता (या उदासीनता) का वक्र कहते हैं।"

प्रो. हैण्डर्सन (Henderson)– "वस्तुओं के ऐसे संयोगों से प्राप्त **बिन्दु पथ**, जिनसे उपभोक्ता को समान स्तर की सन्तुष्टि मिलती है, उदासीनता वक्र कहलाती है।"

उदासीनता वक्र की उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि उपभोक्ता उदासीनता वक्र पर स्थित किसी भी संयोग के लिए उतनी ही तत्परता दर्शाता है जितनी कि उसी उदासीनता वक्र पर स्थित अन्य संयोग के लिए दर्शाता है। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता एक उदासीन वक्र बिन्दुओं पर स्थित संयोगों के प्रति पूर्णतः उदासीन या तटस्थ रहता है। इसका मूल कारण यह है कि सभी संयोगों या उदासीन वक्र पर स्थित सभी बिन्दुओं से उपभोक्ता को एक समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

उदासीनता वक्र तकनीक की व्याख्या
(Explanation of Indifference Curve Technique)

उदासीनता वक्र विश्लेषण के अन्तर्गत एक उपभोक्ता दो वस्तुओं के ऐसे जोड़े या संयोग बनाता है, जिनसे उसे समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है। जब इन विभिन्न संयोगों को एक साथ दर्शाया जाता है तब उदासीनता तालिका का निर्माण होता है। इस प्रकार "**उदासीनता तालिका दो वस्तुओं के ऐसे विभिन्न संयोगों की एक सूची होती है, जो किसी व्यक्ति को समान सन्तुष्टि प्रदान करती है।**" इसे एक उदाहरण के द्वारा सरलता से समझा जा सकता है। मान लीजिए कि एक उपभोक्ता सेब एवं केलों का उपभोग करता है। इन दोनों वस्तुओं के विभिन्न संयोग जिनसे कि उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है, को तालिका क्रमांक –1 में दर्शाया गया है:–

तालिका–1
सेब एवं केलों की उदासीनता तालिका

संयोग	सेबों की संख्या	केलों की संख्या	प्रतिस्थापन की सीमान्त दर
प्रथम	1	20	–
द्वितीय	2	15	एक सेब = 5 केले
तृतीय	3	11	एक सेब = 4 केले
चतुर्थ	4	8	एक सेब = 3 केले
पंचम	5	6	एक सेब = 2 केले
षष्टम	6	5	एक सेब = 1 केला

तालिका –1 में सेब एवं केलों के 6 संयोग दर्शाये गये हैं जिनसे कि उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है। प्रथम संयोग 1 सेब एवं 20 केलों का है, जबकि द्वितीय संयोग 2 सेब एवं 15 केलों का है, अर्थात इसमें जहाँ एक सेब की वृद्धि हुई है, वहीं 5 केले कम हो गये हैं। दूसरे शब्दों में, उपभोक्ता ने 5 केलों के बदले में एक सेब को प्राप्त किया या 5 केलों का एक सेब से प्रतिस्थापन किया। इसी प्रकार तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम संयोगों से भी

जहाँ सेब की संख्या में वृद्धि हुई है, वहीं केलों की संख्या में कमी हुई है। ऐसा इसलिए हुआ है कि सभी संयोगों से उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

NOTES

प्रतिस्थापन की दर (इसका विस्तृत अध्ययन इसी अध्याय में आगे किया गया है) के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि इसमें कमी हो रही है। इसका कारण यह है कि प्रथम संयोग में उपभोक्ता के पास केलों की संख्या तो अधिक है, किन्तु सेब केवल एक ही है। अतः उसे केलों की उपयोगिता बहुत कम है, जबकि सेब की उपयोगिता बहुत अधिक है। फलतः वह 5 केले देकर भी एक सेब प्राप्त करना चाहता है, किन्तु जैसे–जैसे उपभोक्ता के पास केलों की संख्या घटती है तथा सेबों की संख्या बढ़ती है, उसे अतिरिक्त सेब प्राप्त करने में या केलों का त्याग करने में विशेष रुचि नहीं रहती। यही कारण है छठें संयोग में उपभोक्ता केवल एक सेब के बदले में एक केले का प्रतिस्थापन करता है। इस कारण प्रतिस्थापन की प्रक्रिया इस सिद्धान्त पर आधारित रहती है कि जिस वस्तु की अधिक इकाइयाँ उपभोक्ता के पास हैं, उनकी उपयोगिता कम और जिसकी इकाइयाँ कम होती हैं, उसकी उपयोगिता अधिक होती है।

तालिका–1 में दर्शाये गये सेब एवं केलों के इन संयोगों को रेखाचित्र में प्रदर्शित किया जा सकता है। उपभोक्ता के इन तटस्थ संयोगों को रेखाचित्र पर दर्शाने से ही उदासीनता वक्र का निर्माण होता है। रेखाचित्र–1 में IC वक्र उदासीनता वक्र है।

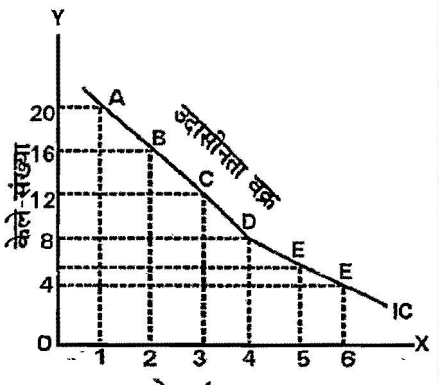

सेब-संख्या
रेखाचित्र-1

रेखाचित्र–1 में OXअक्ष पर सेबों की संख्या एवं OY अक्ष पर केलों की संख्या को दर्शाया गया है। बिन्दु A, B C, D, E एवं F उपभोक्ता के विभिन्न संयोगों को दर्शाते हैं, जिनसे कि उसे समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है।यदि इन सभी बिन्दुओं को जोड़ दिया जाता है, तो IC वक्र का निर्माण होता है, जिसे उदासीनता या तटस्थता वक्र कहा जाता है। इस वक्र पर स्थित प्रत्येक बिन्दु सेव एवं केलों के उस संयोग को बताता है जिससे उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है। इसी कारण उदासीनता वक्र को **सम सन्तुष्टि वक्र** कहा जाता है।

उदासीनता मानचित्र
(Indifference Map)

जब रेखाचित्र पर एक से अधिक उदासीनता वक्रों का निर्माण किया जाता है, तब उसे उदासीनता मानचित्र कहा जाता है। यहाँ यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि एक उदासीनता वक्र के विभिन्न बिन्दुओं पर उपभोक्ता को समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है। अतः जब एक से अधिक उदासीनता वक्रों का निर्माण किया जाता है, तब प्रत्येक उदासीनता वक्र उपभोक्ता को प्राप्त होने वाली सन्तुष्टि के विभिन्न स्तरों को दर्शाती है। दूसरे शब्दों में, जो उदासीनता वक्र मूल बिन्दु O से जितनी अधिक दूरी पर स्थित होगा, वह उपभोक्ता को मिलने वाली सन्तुष्टि के उतने ही ऊँचे स्तर को प्रदर्शित करेगा, अर्थात् ज्यों–ज्यों उदासीनता वक्र उत्तरोत्तर दाहिनी ओर बढ़ता जाता है, त्यों–त्यों उपभोक्ता की सन्तुष्टि में वृद्धि होती जाती है। इन विभिन्न सन्तुष्टि के स्तरों को दर्शाने वाले उदासीनता वक्रों को उदासीनता मानचित्र कहा जाता है। रेखाचित्र–2 में उदासीनता मानचित्र दर्शाया गया है।

रेखाचित्र–2 में OX अक्ष पर X वस्तु की मात्रा एवं OY अक्ष पर Y वस्तु की मात्रा को दर्शाया गया है। IC_1, IC_2, IC_3 एवं IC_4 उदासीनता रेखाएँ हैं, जो कि मूल बिन्दु O से क्रमशः दाहिनी ओर स्थित हैं। IC_1 उदासीन वक्र मूल बिन्दु के सबसे निकट है, जिसका अर्थ यह है कि इसके सभी बिन्दु न्यूनतम सन्तुष्टि को दर्शाते हैं। उदासीन वक्र IC_2 पूर्व वक्र IC_1 के ऊपर है, अर्थात् IC_2 वक्र से IC_1 वक्र की तुलना में अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। इसी प्रकार IC_3 वक्र से, IC_1 एवं IC_2 वक्रों की तुलना में अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। चित्र में IC_4 वक्र सब से ऊपर स्थित है, जो कि यह दर्शाती है कि अन्य वक्रों की तुलना में इससे सबसे अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। इस प्रकार उदासीनता मानचित्र उपभोक्ता को मिलने वाली सन्तुष्टि के विभिन्न स्तरों को दर्शाती है।

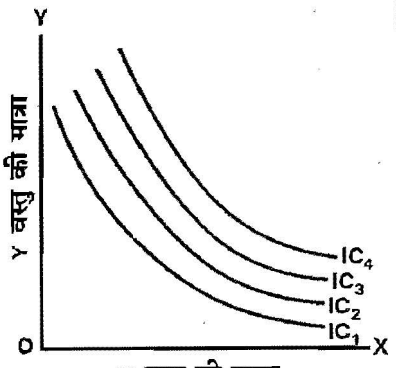

X वस्तु की मात्रा
रेखाचित्र-2

प्रत्येक ऊपर की ओर स्थित उदासीनता वक्र से अधिक सन्तुष्टि के प्राप्त होने का कारण यह है कि जैसे–जैसे उपभोक्ता अधिक सन्तुष्टि प्रदान करने वाले उदासीनता वक्र की ओर बढ़ता है, वैसे–वैसे दो वस्तुओं

की मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है, अर्थात् उपभोक्ता अधिक मात्रा में वस्तुओं का उपभोग करता है, परिणामस्वरूप उपभोक्ता का सन्तुष्टि स्तर बढ़ता जाता है ।

NOTES

2.5.2 उदासीनता वक्र विश्लेषण की मान्यताएँ
(Assumptions of Indifference Curve Analysis)

उदासीनता वक्र विश्लेषण की प्रमुख मान्यताएँ निम्नलिखित हैं–

(1) **उपभोक्ता विवेकपूर्ण होता है** (Rational Consumers)– यह विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि उपभोक्ता सदैव विवेकपूर्ण होता है । वह सोच समझकर व्यय करता है ताकि उसे अधिकतम सन्तुष्टि मिले ।

(2) **बाजार का ज्ञान** (Knowledge of Market)– उदासीनता वक्र विश्लेषण में यह माना जाता है कि उपभोक्ता को बाजार का ज्ञान होता है । अर्थात वह यह जानता है कि कौन सी वस्तु किस कीमत पर कहाँ बिक रही है ।

(3) **चुनाव की संगति** (Consistency in Selection)– इसका अर्थ यह है कि वस्तुओं के A संयोग से B संयोग की अपेक्षा आज अधिक सन्तोष मिल रहा है तो वह भविष्य में भी मिलता होगा ।

(4) **पूर्ण सन्तुष्टि का अभाव** (Non-Satiety) – उपभोक्ता कभी पूर्णतः सन्तुष्ट नहीं होता है अतः वह वस्तुओं का अधिकाधिक मात्रा में उपभोग करना पसन्द करता है ।

(5) **संयोगों के महत्व का ज्ञान** (Knowledge of Preference of Combinations) – उपभोक्ता को यह ज्ञात होता है कि उसे किस संयोग से कितनी उपयोगिता मिल रही है । अर्थात संयोग में परिवर्तन करने पर उपयोगिता में कितनी कमी या वृद्धि होती है इसे भी उपभोक्ता जानता है ।

(6) **विभाजित एवं समरूप वस्तुएँ** (Divisible and Homogenious Goods)– उदासीनता वक्र इस मान्यता पर भी आधारित है कि उपभोक्ता द्वारा उपभोग की जाने वाली वस्तुओं को छोटे–छोटे भागों में बाँटा जा सकता है ।

(7) **सकर्मकता** (Transitinity) – यदि A की अपेक्षा B से और B की तुलना में C वस्तु से अधिक सन्तुष्टि मिलती है तो C वस्तु से मिलने वाला सन्तोष A की तुलना में निश्चित रूप से अधिक होगा ।

(8) **घटती सीमान्त प्रतिस्थापन दर** (Diminishing Marginal Rate of Substitution)– उदासीनता वक्र विश्लेषण की यह भी मान्यता है कि जब उपभोक्ता A वस्तु के लिये B वस्तु को त्यागता है तो वह हर अगले संयोग पर B की कम मात्रा त्यागने को तैयार होता है ।

सीमान्त प्रतिस्थापन दर
(Marginal Rate of Substitution)

उदासीनता वक्र विश्लेषण सीमान्त प्रतिस्थापन दर पर आधारित है । अतः सर्वप्रथम सीमान्त प्रतिस्थापन दर का अर्थ ज्ञात करना आवश्यक है । **प्रो. हिक्स** का मत है कि सीमान्त उपयोगिता अर्थहीन धारणा है किन्तु सीमान्त प्रतिस्थापन दर का निश्चित अर्थ है । सामान्य अर्थों में **सीमान्त प्रतिस्थापन दर वह दर है जिस पर उपभोक्ता एक वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई की प्राप्ति के लिये दूसरी वस्तु की जितनी इकाइयों का त्याग करने के लिये तैयार हो ताकि उसका सन्तोष स्तर समान बना रहे ।**

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण– सीमान्त प्रतिस्थापन दर के विचार को निम्नलिखित तालिका–2 के द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है–

तालिका– 2

X वस्तु की मात्रा	Y वस्तु की मात्रा	Y की X के लिये सीमान्त प्रतिस्थापन दर या MRS of Y on X
60	+1	–
48	+2	60 – 48 = 12 : 1
40	+3	48 – 40 = 8 : 1

उपर्युक्त तालिका में प्रथम बार Y की 1 वस्तु का संयोग X की 60 वस्तुओं के बराबर है। दूसरी इकाई में यह 12:1 और तीसरी इकाई में यह 8:1 रह जाता है। अर्थात Y की 1 इकाई प्रारंभ में X की 60 इकाइयों को बाद में 12 इकाइयों को और अन्त में 8 इकाइयों को स्थानापन्न कर समान सन्तोष प्रदान करता है।

घटती हुई सीमान्त प्रतिस्थापन दर का सिद्धान्त
(The Principle of Diminishing Marginal Rate of Substitution)

सामान्यतः किन्हीं दो वस्तुओं की सीमान्त प्रतिस्थापन दर घटती हुई होती है। जब उपभोक्ता X वस्तु की अधिक इकाइयों का उपयोग करता है और Y वस्तु का उपभोग घटता है तो इसे **"घटती हुई सीमान्त प्रतिस्थापन दर कहते हैं।"**

प्रो. हिक्स के शब्दों में "माना X और Y वस्तुओं की निश्चित मात्रा दी गई है। अब X की मात्रा में वृद्धि एवं Y की मात्रा में कमी करते हैं और उपभोक्ता की स्थिति पूर्ववत् रहती है तब X के कारण Y की जो मात्रा घटाई जाती है वह Y की उस मात्रा से कम होगी जो X की दूसरी अतिरिक्त इकाई के कारण घटाई जाती है। अन्य शब्दों में X को Y के लिए जितना अधिक प्रतिस्थापित किया जाता है उतनी ही X की Y के लिये सीमान्त प्रतिस्थापन दर घटती जाती है।" तालिका– 2 का अध्ययन इस तथ्य को स्पष्ट करता है जिसमें उपभोक्ता जैसे–जैसे Y वस्तु की मात्रा बढ़ाता है वैसे–वैसे उसके बदले में वह X वस्तु की कम इकाइयाँ देने को तैयार होता है।

रेखाचित्र द्वारा सिद्धान्त का स्पष्टीकरण

घटती हुई सीमान्त प्रतिस्थापन दर के सिद्धान्त को चित्र –3 से स्पष्ट किया जा सकता है–

चित्र–3 में उपभोक्ता a से d की ओर जाता है तब X की मात्रा बढ़ती है एवं Y की मात्रा कम होती है। प्रारंभ में X की EB मात्रा बढ़ती है तो Y की AE मात्रा (जो X की मात्रा की अपेक्षा अधिक है) घटती है। इसी प्रकार तीसरी दशा में Y की कम यानी CE^2 मात्रा घटती है और X की E^2 D मात्रा बढ़ती है। यदि तीसरी दशा में उपभोक्ता की पसन्दगी Y वस्तु के लिये हो तो उसे CE^2 Y वस्तु प्राप्त करने के लिये X की E^2D मात्रा त्यागनी पड़ती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि दो वस्तुओं के संयोग में यदि एक वस्तु की मात्रा बढ़ायी जाती है तो दूसरी की मात्रा कम करना पड़ती है।

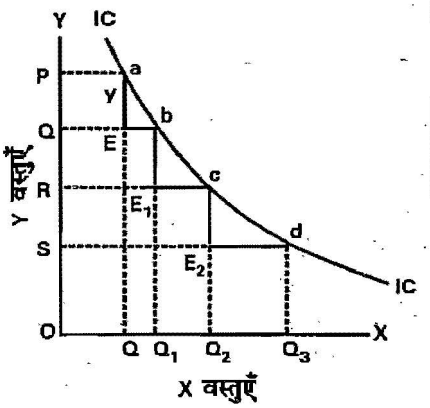

रेखाचित्र – 3

नियम के अपवाद (Exceptions)

घटती हुई सीमान्त प्रतिस्थापन दर के नियम के दो अपवाद हैं जिनमें यह लागू नहीं होता है-

(1) यदि दोनों वस्तुओं में पूर्ण प्रतिस्थापन्नता है तो उपभोक्ता X की जितनी मात्रा प्राप्त करेगा या त्यागेगा उतनी ही y की मात्रा त्यागेगा या प्राप्त करेगा। इस दशा में X की प्रत्येक वृद्धि या कमी के अनुकूल Y में कमी या वृद्धि होगी।

(2) यदि दोनों वस्तुएँ पूरक हैं– जैसे कार एवं पेट्रोल तो उन दोनों को एक निश्चित घटती हुई सीमान्त प्रतिस्थापन दर का नियम लागू नहीं होता है।

2.5.3 उदासीनता वक्र की विशेषताएँ या प्रकृति
(Characteristics or Properties of Indifference Curves)

उदासीनता वक्रों की अपनी कुछ विशिष्ट प्रकृति या विशेषताएँ होती हैं और इनको समझे बिना इन वक्रों का उपयोग सम्भव नहीं है। इन वक्रों की प्रमुख विशेषताएँ या प्रकृति निम्न प्रकार हैं–

(I) **उदासीनता वक्रों का आकार मूल बिन्दु O के उन्नतोदर होता है** (Indifference Curves are Convex to the Origion O) – उदासीनता वक्र मूल बिन्दु O की ओर उन्नतोदर होता है, अर्थात् मूल बिन्दु की ओर झुका रहता है। इसका कारण दो वस्तुओं के मध्य सीमान्त प्रतिस्थापन की दर का क्रमशः घटना है। तालिका 1 में दिये गये उदाहरण से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में उपभोक्ता 5 केलों से एक सेब का प्रतिस्थापन करता है तथा धीरे–धीरे इसमें

NOTES

कमी होती है और अन्त में एक केले का एक सेब से प्रतिस्थापन होता है । दूसरे शब्दों में, **"जैसे-जैसे उपभोक्ता किसी वस्तु की अधिकाधिक इकाइयों का क्रय करता है, वैसे-वैसे उसे दूसरी वस्तु की कम इकाइयों का त्याग करना पड़ता है।"** उदासीनता वक्र की इस प्रकृति को रेखाचित्र - 4 में दर्शाया गया है ।

रेखाचित्र -4 में OX अक्ष पर X वस्तु की मात्रा और OY अक्ष पर Y वस्तु की मात्रा को दर्शाया गया है । IC_1 उदासीनता वक्र है, जिस पर स्थित A, C, E, G, एवं I बिन्दु समान सन्तुष्टि को दर्शाते हैं ।

जब उपभोक्ता A से C बिन्दु तक पहुँचता है तब उसे X वस्तु की BC मात्रा प्राप्त करने के लिए Y वस्तु की AB मात्रा का त्याग करना पड़ता है । यहाँ BC से AB बड़ी रेखा है, किन्तु जब उपभोक्ता G से I बिन्दु पर जाता है तब वह X वस्तु की HI मात्रा के बदले में केवल Y वस्तु की GH मात्रा का त्याग करता है । यहाँ HI रेखा GH से बड़ी है । दूसरे शब्दों में, X वस्तु के स्थान पर Y वस्तु की प्रतिस्थापन दर में क्रमशः कमी हो रही है । यही कारण है कि उदासीनता वक्र मूल बिन्दु की ओर उन्नतोदर होती है ।

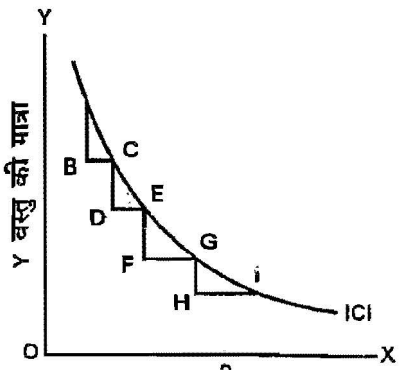

रेखाचित्र - 4

(II) उदासीनता वक्र रेखाएँ बायें से दायें की ओर गिरती हुई होती हैं (Indifference curves slopes downwards from left to right) - इसका अर्थ यह है कि माँग रेखा के समान उदासीनता वक्र रेखाएँ भी नीचे दाहिनी ओर को झुकी रहती हैं, अर्थात उदासीनता वक्र की ढाल ऋणात्मक होती है। इसका कारण यह है कि बायें से दायें ओर बढ़ने से उपभोक्ता के पास जहाँ एक वस्तु की मात्रा बढ़ती जाती है, वहीं दूसरी वस्तु की मात्रा घटती जाती है । उपभोक्ता दोनों ही वस्तुओं की मात्रा में एक साथ वृद्धि नहीं कर सकता । उदासीनता वक्र की इस प्रकृति को रेखाचित्र -5 में दर्शाया गया है।

रेखाचित्र -5 में IC_1 उपभोक्ता की उदासीनता वक्र है । इस वक्र पर E एवं E_1 दो बिन्दु हैं जिन पर उसे समान सन्तुष्टि प्राप्त होती है । जब उपभोक्ता E संयोग पर होता है तब वह X वस्तु की OQ मात्रा एवं Y वस्तु की OP मात्रा का क्रय करता है । किन्तु जब वह E^1 संयोग को चुनता है तब वह X वस्तु की OQ^1 मात्रा और Y वस्तु की OP^1 मात्रा का क्रय करता है । यहाँ उल्लेखनीय है कि दूसरे संयोग में जहाँ X वस्तु की OQ^1 मात्रा बढ़ती है, वहीं Y वस्तु की PP^1 मात्रा कम हो जाती है । इस प्रकार स्पष्ट होता है कि एक ही उदासीनता वक्र पर रहने, जिससे कि समान सन्तुष्टि प्राप्त हो, के लिए यह आवश्यक है कि एक वस्तु की मात्रा में वृद्धि करने के लिए दूसरी वस्तु की मात्रा में कमी की जावे । यही कारण है कि उदासीनता वक्र बायें से दायें नीचे की ओर गिरता हुआ होता है ।

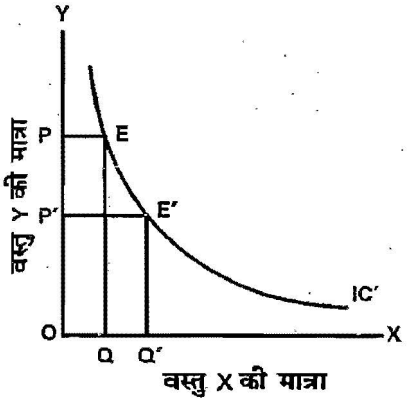

रेखाचित्र - 5

(III) प्रत्येक बायीं ओर को स्थित उदासीनता वक्र दायीं ओर के वक्र से अधिक सन्तुष्टि को व्यक्त करता है (Every indifference curve to the right represents higher level of satisfaction than that of the preceding one)- इसका अर्थ यह है कि जो वक्र मूल बिन्दु O के जितना पास होगा, कम सन्तुष्टि और जो जितना दूर होगा, अधिक सन्तुष्टि को व्यक्त करता है । इसे रेखाचित्र-6 के द्वारा दर्शाया जा सकता है ।

रेखाचित्र-6 में IC_1 एवं IC_2 दो उदासीन वक्र हैं, जिनमें से IC_2 वक्र ऊपर एवं IC_1 नीचे है । जब उपभोक्ता उदासीनता वक्र IC_1 के E बिन्दु पर रहता है, तब वह X वस्तु की OQ मात्रा एवं Y वस्तु की OP^1 मात्रा क्रय करता है, किन्तु, जब वह IC_2 रेखा पर पहुँचता है तब E^1 बिन्दु पर, यदि वह रहता है तो, X वस्तु की OQ मात्रा एवं Y वस्तु की OP^1 मात्रा का क्रय करता है, अर्थात् उपभोक्ता IC_2 वक्र के E^1 बिन्दु पर Y वस्तु की PP^1 मात्रा अधिक क्रय करता है । इसी कारण उपभोक्ता को IC_1 वक्र की तुलना में IC_2 वक्र पर अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है । संक्षेप में, इसका कारण यह है कि

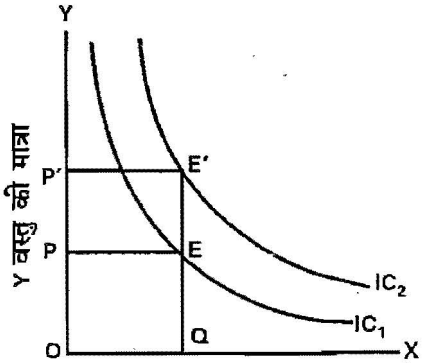

रेखाचित्र - 6

ऊँची उदासीनता वक्र के संयोगों में वस्तुओं की अधिक मात्रा उपभोक्ता को प्राप्त होती है ।

NOTES

(IV) **उदासीनता की वक्र एक-दूसरे को नहीं काटती** (Indifference curves do not intersect each other)– उदासीनता वक्रों की एक विशेषता यह भी है कि ये वक्र एक-दूसरे को कभी भी नहीं काटते । इसका कारण यह है कि दो पृथक-पृथक उदासीनता वक्र उपभोक्ता की सन्तुष्टि के पृथक-पृथक स्तर को प्रदर्शित करते हैं, अर्थात् ऊँचा वक्र अधिक सन्तुष्टि एवं नीचा वक्र कम सन्तुष्टि को दर्शाता है । इसी कारण इन वक्रों को अलग-अलग बनाया जाता है, किन्तु यदि ये वक्र एक-दूसरे को किसी बिन्दु पर काटते हैं, तो इसका अर्थ यह होगा कि उस बिन्दु पर दोनों वक्रों से मिलने वाली सन्तुष्टि समान है, जो कि असम्भव एवं असंगत स्थिति है । इसे रेखाचित्र-7 में स्पष्ट किया गया है ।

रेखाचित्र- 7 में IC_1 एवं IC_2 दो उदासीनता वक्रों को दर्शाया गया है, जो कि परस्पर E बिन्दु पर एक दूसरे को काटती हैं । इसका आशय यह है कि E बिन्दु पर दोनों उदासीनता वक्रों से समान सन्तुष्टि मिलती है । किन्तु IC_2 पर स्थित S बिन्दु, IC_1 पर स्थित K बिन्दु अलग-अलग सन्तुष्टि के स्तर को दशति हैं । किन्तु यह स्थिति असम्भव है, क्योंकि जहाँ E बिन्दु पर दोनों उदासीनता वक्र समान सन्तुष्टि को दर्शाते हैं, वहीं S एवं K बिन्दुओं पर अलग-अलग स्तर को व्यक्त करते हैं । अतः यह कहा जा सकता है कि दो उदासीनता वक्र कभी भी एक-दूसरे को नहीं काटते ।

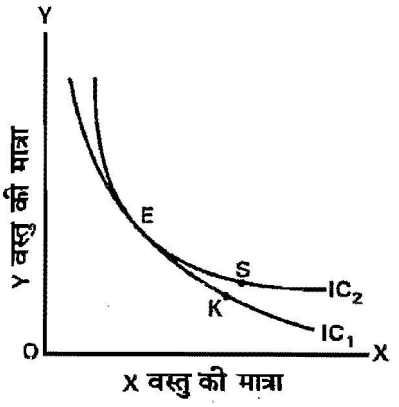

रेखाचित्र - 7

(V) **उदासीनता वक्र का समान्तर होना आवश्यक नहीं है** (Indifference curves need not be parallel to each other)– उदासीनता वक्रों की एक विशेषता यह भी है कि इन वक्रों का एक-दूसरे के समान्तर होना आवश्यक नहीं है । इसका कारण यह है कि दो बिन्दुओं के मध्य प्रतिस्थापन की दर का अनिवार्य रूप से समान होना जरूरी नहीं है । ये रेखाएँ केवल सन्तुष्टि के उच्च या निम्न स्तर को ही दर्शाती हैं । अतः उदासीनता वक्र एक-दूसरे के समानान्तर अनिवार्य रूप से नहीं होते अर्थात् वे समानान्तर हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं ।

(VI) **उदासीनता वक्र अक्षों को स्पर्श नहीं करता** (An indifference curve does not touch the axis)– उदासीनता वक्र अक्षों (OX or OY अक्ष) को स्पर्श नहीं करता । इसका कारण यह है कि एक उदासीनता वक्र समान सन्तुष्टि को दर्शाती है और इस स्थिति में यह सम्भव नहीं है कि उपभोक्ता एक वस्तु की निश्चित मात्रा और दूसरी वस्तु की शून्य मात्रा से सन्तुष्ट हो जाये । वह दूसरी वस्तु की भी मात्रा, चाहे वह न्यूनतम ही क्यों न हो, अवश्य ही चाहेगा । यहाँ उपभोग में **विविधता का नियम** (Law of Variety in Consumption) क्रियाशील होता है । उपभोक्ता इस नियम की सामान्यतः अवहेलना नहीं करता । फलतः उदासीनता वक्र अक्षों को स्पर्श नहीं करता है ।

(VII) **उदासीनता वक्रों का रूप गोलाकार भी हो सकता है** (Indifference curve can be circular)– कभी-कभी उदासीनता वक्रों का रूप गोलाकार भी हो सकता है । ऐसा तब होता है जबकि दो वस्तुओं में से एक वस्तु की मात्रा में वृद्धि होने के साथ उपभोक्ता को ऋणात्मक उपयोगिता प्राप्त होने लगती है । ऐसी स्थिति में समान सन्तुष्टि के स्तर को प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता को दूसरी वस्तु की मात्रा में भी वृद्धि करनी पड़ती है, जिससे कि ऋणात्मक उपयोगिता की क्षति पूर्ति हो सके । इस प्रकार, दोनों वस्तुओं का उपभोग इस प्रकार से बढ़े कि एक वस्तु की मात्रा में वृद्धि से जहाँ ऋणात्मक उपयोगिता मिलती है, वहीं दूसरी वस्तु की मात्रा में वृद्धि से धनात्मक उपयोगिता प्राप्त होती है तथा दोनों वस्तुओं से प्राप्त कुल उपयोगिता का स्तर समान रहता है । इसे रेखाचित्र-8 में दर्शाया गया है ।

रेखाचित्र-8 में उदासीनता वक्र IC_1 का आकार गोल या अण्डाकार है । यदि उपभोक्ता M बिन्दु पर रहता है, तब वह X वस्तु की OQ मात्रा और Y वस्तु की ON मात्रा क्रय करता है । यहाँ दोनों वस्तुओं से धनात्मक उपयोगिता प्राप्त होती है । यही स्थिति K बिन्दु पर है जहाँ उपभोक्ता X वस्तु की OT मात्रा और Y वस्तु की OP मात्रा क्रय करता है ।

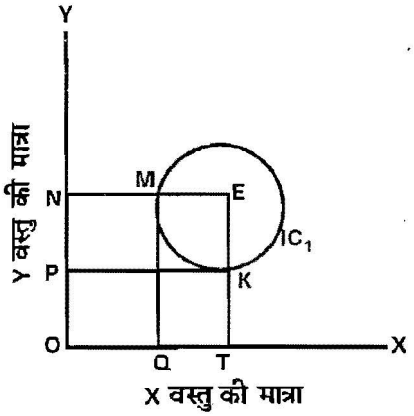

रेखाचित्र - 8

NOTES

किन्तु यदि उपभोक्ता E बिन्दु पर रहता है तो Y वस्तु की EK मात्रा से ऋणात्मक और X वस्तु की ME मात्रा से धनात्मक उपयोगिता प्राप्त होती है तथा कुल मिलाकर सन्तुष्टि का स्तर समान रहता है। दूसरे शब्दों में, X वस्तु की उपयोगिता के द्वारा Y वस्तु से प्राप्त ऋणात्मक उपयोगिता की क्षतिपूर्ति की गई है। ऐसी स्थिति में उदासीनता वक्र का आकार गोलाकार हो जाता है, किन्तु यह स्थिति बहुत कम देखने को मिलती है।

(VIII) दो वस्तुओं के विश्लेषण तक ही सीमित (Limited to the analysis of two commodities)– उदासीनता वक्र विश्लेषण का उपयोग तभी तक सम्भव है जब तक कि व्यय की राशि को दो वस्तुओं पर आवंटित या व्यय किया जाता है। प्रो. हिक्स के अनुसार उदासीनता वक्र केवल तीन परिमाण सम्बन्धी (Three Dimensional) आकृति द्वारा भी खींचा जा सकता है, किन्तु ऐसी आकृति को उदासीनता वक्र के स्थान पर उपयोगिता स्थल (Utility Surface) कहना अधिक उपयुक्त होगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उपयोगिता स्थल को वक्र का रूप देकर दो परिमाणिक आकृति (Two Dimensional) में परिवर्तित किया जा सकता है।

बोध प्रश्न

1. उदासीन वक्रों से आप क्या समझते हैं। इसकी विशेषताएँ बताइये।

.....

.....

.....

2.6 उपभोक्ता का साम्य (Consumer Equilibrium)

प्रत्येक उपभोक्ता अपने सीमित साधनों से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना चाहता है। चूँकि उपभोक्ता की आय या साधन सीमित होने से वह अपनी सभी आवश्यकताओं की सन्तुष्टि नहीं कर सकता। अतः वह सीमित आय और दी हुई कीमतों से अधिकतम सन्तोष प्राप्त करना चाहता है। अधिकतम सन्तोष का बिन्दु ही उपभोक्ता का साम्य बिन्दु (Point of equilibrium of consumer) कहलाता है।

जब कोई उपभोक्ता दी हुई कीमत पर वस्तुओं के किसी निश्चित संयोग के लिये अपनी आय को इस प्रकार व्यय करता है कि उस संयोग बिन्दु पर अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो तो उसे उपभोक्ता का साम्य बिन्दु कहते हैं। अन्य बातें (आय व कीमतें) समान होने पर उपभोक्ता अपने उपभोग में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहता, क्योंकि ऐसा करने पर उसकी अधिकतम सन्तुष्टि कम हो जाती है। अतः वह पहले वाले साम्य बिन्दु पर बने रहने का ही प्रयास करता है।

प्रो. सिटोवास्की के शब्दों में "उपभोक्ता साम्य की अवस्था में तब होता है जब वह वर्तमान दशाओं में अपने व्यवहार को सबसे अच्छा मानता है और उसमें उस समय तक परिवर्तन नहीं करना चाहता जब तक कि दशाएँ अपरिवर्तित हैं।" उपभोक्ता के साम्य की प्रमुख विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं:-

(1) उपभोक्ता को सर्वाधिक सन्तोष प्राप्त होता है।

(2) वह साम्य बिन्दु से हटने की प्रवृत्ति नहीं रखता है।

(3) साम्य बिन्दु से हटने पर सन्तोष अधिकतम नहीं रहता है।

(4) साम्य टूटने पर वह पुराने साम्य पर लौटने की प्रवृत्ति रखता है।

(5) अन्य बातें (आय, कीमत) स्थिर रहती हैं।

उपभोक्ता के साम्य के आधार
(Basis of Consumer's Equilibrium)

उपभोक्ता के साम्य के दो आधार हैं,- यथा (अ) **उपभोक्ता का उदासीनता मानचित्र** (Consumer's Indifference Map) और (ब) **उपभोक्ता की कीमत रेखा** (Price Line of the Consumer)

(अ) उपभोक्ता का उदासीनता मानचित्र (Consumer's Indifference Map)– छात्रों को यह स्मरण रहे कि इसका अध्ययन पूर्व में "उदासीनता मानचित्र" शीर्षक के नाम से कर चुके हैं। अतः वे यहाँ के लिये भी उसी का अध्ययन करें।

(ब) **उपभोक्ता की कीमत रेखा** (Price Line of the Consumer)– उपभोक्ता की कीमत रेखा को मूल्य रेखा, व्यय रेखा या बजट रेखा (Budget line) भी कहते हैं। **प्रो. फर्गूसन** के अनुसार :–**"कीमत रेखा वस्तुओं के उन संयोगों को दर्शाती है जिन्हें सम्पूर्ण मौद्रिक आय को व्यय करके खरीदा जा सकता है।"**

इस प्रकार मूल्य रेखा उपभोक्ता की आय और उसके द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं के मूल्य के आधार पर बनाई जाती है। यह रेखा उन दो वस्तुओं के विभिन्न संयोगों को दर्शाती है, जो उपभोक्ता अपनी निश्चित आय और वर्तमान मूल्य के आधार पर खरीद सकता है। वास्तव में यह रेखा निश्चित आय या दो वस्तुओं को खरीदने हेतु आवंटित राशि को वस्तुओं पर व्यय करने की सम्भावनाओं को व्यक्त करती है।

उपभोक्ता की कीमत रेखा को निम्नलिखित उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है।

उदाहरण – मान लें कि उपभोक्ता के पास 10 रुपये हैं जिनसे वह X एवं Y खरीदना चाहता है। यह भी मान लें कि X वस्तु का मूल्य 50 पैसे प्रति इकाई और Y वस्तु का 1 रुपये प्रति इकाई है। अतः इन मूल्यों पर क्रेता X वस्तु की 20 इकाई या Y वस्तु की 10 इकाई खरीद सकता है। उपभोक्ता द्वारा 10 रुपये से खरीदी जाने वाली X एवं Y वस्तुओं की मात्रा के विभिन्न संयोगों को तालिका क्रमांक–1 में दर्शाया गया है।

तालिका–1

10 रुपये में खरीदी जाने वाली वस्तुओं के संयोग

संयोग क्रम	X वस्तु की मात्रा	Y वस्तु की मात्रा
1	20 इकाइयाँ	0 इकाई
2	18 इकाइयाँ	1 इकाई
3	16 इकाइयाँ	2 इकाइयाँ
4	14 इकाइयाँ	3 इकाइयाँ
5	12 इकाइयाँ	4 इकाइयाँ
6	10 इकाइयाँ	5 इकाइयाँ
7	8 इकाइयाँ	6 इकाइयाँ
8	6 इकाइयाँ	7 इकाइयाँ
9	4 इकाइयाँ	8 इकाइयाँ
10	2 इकाइयाँ	9 इकाइयाँ
11	0 इकाई	10 इकाइयाँ

तालिका–1 से स्पष्ट होता है कि उपभोक्ता ज्यों–ज्यों X वस्तु की मात्रा को कम करता है, त्यों–त्यों Y वस्तु की मात्रा को बढ़ाता जाता है। इस प्रकार वह 10 रुपये से X एवं Y वस्तुओं के विभिन्न संयोगों को क्रय कर सकता है। इन विभिन्न संयोगों को रेखाचित्र–1 के द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

रेखाचित्र–9 में OX अक्ष पर X वस्तु की मात्रा और OY अक्ष पर Y वस्तु की मात्रा को दर्शाया गया है। X एवं Y वस्तुओं के विभिन्न संयोगों को मिलाने से AB रेखा का निर्माण होता है। यही मूल्य या बजट रेखा है। AB रेखा यह दर्शाती है कि उपभोक्ता अपने 10 रुपये से X एवं Y वस्तुओं की कितनी –कितनी इकाइयाँ क्रय कर सकता है। चित्र में वस्तुओं के ये संयोग A, J, K, L, M एवं B बिन्दुओं पर हैं।

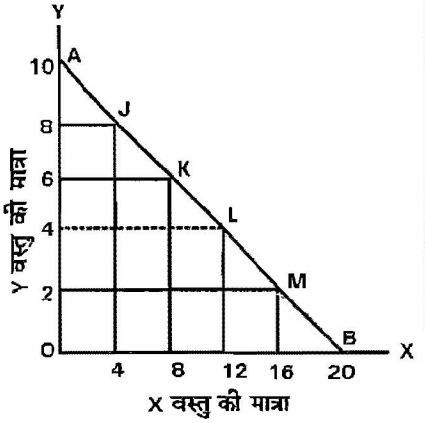

रेखाचित्र–9

आय में परिवर्तन :– यदि उपभोक्ता की मौद्रिक आय घटकर 5 रुपये रह जाती है अथवा वह केवल पाँच रुपये से X और Y वस्तुओं को खरीदना चाहता है, 5 रुपये से उपभोक्ता X वस्तु की केवल 10 इकाई और Yवस्तु की 5 इकाई को ही खरीद सकता है।

NOTES

इसके विपरीत, यदि उपभोक्ता की मौद्रिक आय में कमी होती है या वह वस्तुओं पर कम राशि व्यय करना चाहता है, तब मूल्य रेखा बायीं ओर विवर्तित होती है।

एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन (Change in the price of one commodity)–

मूल्य रेखा पर X और Y वस्तुओं के मूल्य में होने वाले परिवर्तनों का भी प्रभाव पड़ता है। जैसा कि स्पष्ट है, मूल्य रेखा की संरचना या ढाल दोनों वस्तुओं के मूल्य द्वारा निर्धारित होती है। अतः वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होने से मूल्य रेखा का ढाल प्रभावित होता है। यदि मान लें कि वस्तु X का मूल्य 50 पैसे प्रति इकाई से घटकर 25 पैसे प्रति इकाई हो जाता है। इस स्थिति में उपभोक्ता 10 रुपये से X वस्तु की 20 इकाइयों के स्थान पर 40 इकाइयाँ और Y वस्तु की 10 इकाइयाँ क्रय कर सकता है। इसके साथ ही X और Y वस्तुओं के अन्य सभी संयोगों में भी परिवर्तन होगा, अर्थात उपभोक्ता की मूल्य रेखा भी परिवर्तित हो जाएगी। दूसरे शब्दों में, X वस्तु के मूल्य में कमी होने के कारण उपभोक्ता को एक नई मूल्य रेखा खींचनी होगी। चूँकि Y वस्तु के मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है, फलतः मूल्य रेखा का Y वस्तु से सम्बन्धित उद्गम अपरिवर्तित रहेगा। इस स्थिति को रेखाचित्र–10 में दर्शाया गया है। रेखाचित्र –10 में AB मूल्य रेखा है, जो यह दर्शाती है कि उपभोक्ता पहले के मूल्यों पर 10 रुपये से X एवं Y वस्तुओं की कितनी–कितनी मात्रा खरीद सकता है। किन्तु जब X वस्तु के मूल्य 50 पैसे प्रति इकाई से घटकर 25 पैसे प्रति इकाई हो जाते हैं और Y वस्तु के मूल्य अपरिवर्तित रहते हैं, तब उपभोक्ता X वस्तु की 40 इकाइयाँ एवं Y वस्तु की 10 इकाइयाँ ही खरीद सकता है। इस स्थिति को नई मूल्य रेखा AB^1 द्वारा दर्शाया गया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होने से मूल्य रेखा का ढाल बदल जाता है।

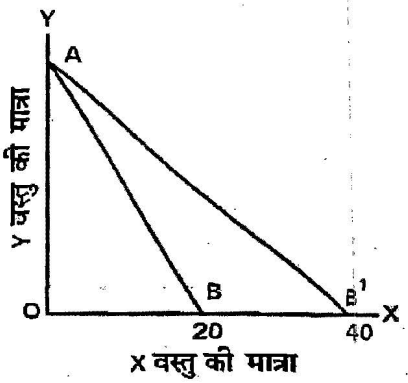

रेखाचित्र–10

इसके विपरीत, यदि Y वस्तु का मूल्य परिवर्तित होता है तथा X वस्तु का मूल्य स्थिर रहता है, तब X वस्तु से मूल्य रेखा का उद्गम या B बिन्दु स्थिर रहेगा एवं Y वस्तु का बिन्दु या A बिन्दु परिवर्तित हो जाएगा। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यदि दोनों वस्तुओं के मूल्य में परिवर्तन होता है, तब इसे आय में परिवर्तन माना जा सकता है और इस स्थिति को आय में वृद्धि या कमी के रूप में दर्शाया जा सकता है।

कीमत रेखा में परिवर्तन
(Shifting of the Price Line)

उपभोक्ता के साम्य को अनेक तत्व परिवर्तित करते हैं,– यथा (अ) **आय में परिवर्तन** (Change in Income); (ब) **एक वस्तु की कीमत में परिवर्तन** (Change in the price of one commodity) और (स) **दोनों वस्तुओं की कीमतों में विरोधी दिशा में परिवर्तन** (Change of price in opposite direction) इन तत्वों की विस्तृत व्याख्या निम्न प्रकार है :

(1) **आय में परिवर्तन** (Change in Income) – उपभोक्ता की आय में दो प्रकार के परिवर्तन हो सकते हैं– प्रथम आय में वृद्धि और द्वितीय आय में कमी। यदि उपभोक्ता की मौद्रिक आय में वृद्धि हो जाती है या वह पहले से अधिक राशि X एवं Y वस्तुओं पर व्यय करने को तत्पर है, तब AB रेखा के स्वरूप में परिवर्तन हो जाएगा, अर्थात् वह पहले से अधिक वस्तुओं के संयोगों को खरीदने की स्थिति में होगा। उदाहरणार्थ, यदि उसके पास व्यय करने के लिए 20 रुपये हैं, तो वह इस राशि से X वस्तु की 40 इकाइयाँ या Y वस्तु की 20 इकाइयाँ खरीद सकता है। इस स्थिति में मूल्य रेखा, पहले की मूल्य रेखा AB के ऊपर होगी। इस स्थिति को रेखाचित्र –11 में दर्शाया गया है।

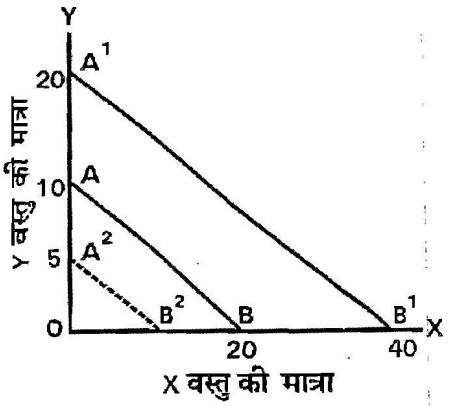

रेखाचित्र–11

रेखाचित्र –11 में AB मूल या प्रथम कीमत रेखा है, जो कि यह दर्शाती है कि उपभोक्ता 10 रुपये से X एवं Y

वस्तुओं के कौन-कौन से संयोग खरीद सकता है, किन्तु जब उपभोक्ता की आय में वृद्धि होती है या वह 10 रुपये के स्थान पर 20 रुपये व्यय करता है, तब वह X एवं Y वस्तुओं के ऊँचे संयोगों को खरीदने की स्थिति में होता है, अर्थात वह A^1B^1 मूल्य रेखा पर दर्शाये संयोग क्रय कर सकता है । इस स्थिति में मूल्य रेखा या बजट रेखा मूल कीमत रेखा के दायीं ओर एवं उसके समानान्तर होगी । इसके विपरीत यदि आय में कमी होती है तो कीमत रेखा नीचे A^2 B^2 की स्थिति में होगी ।

(2) **दोनों वस्तुओं की कीमतों में विरोधी दिशा में परिवर्तन** (Change of Prices in Opposite Direction of Both Commodities) – यदि दोनों वस्तुओं की कीमतों में विरोधी दिशा में परिवर्तन होता है तो प्रारंभिक अथवा नई कीमत रेखाएँ एक दूसरी को काटेंगी । जैसा कि रेखाचित्र–12 से स्पष्ट है ।

चित्र-12 से स्पष्ट है कि प्रारंभ में X वस्तु की कीमत 50 पैसे और Y वस्तु की कीमत 1 रुपया है तो उपभोक्ता 10 रुपये में X की 20 वस्तुएँ एवं Y की 10 वस्तुएँ क्रय करता है अर्थात कीमत रेखा AB रहती है । लेकिन यदि X वस्तु की कीमत 1 रुपया तथा Y वस्तु की कीमत 50 पैसे हो जाये तो उपभोक्ता X वस्तु की 10 और Y वस्तु की 20 इकाइयाँ क्रय करता है अर्थात उपभोक्ता की कीमत रेखा A^1 B^1 होती है। लेकिन X वस्तु की कीमत 50 पैसे के स्थान पर 25 पैसे और Y वस्तु की, 1 रुपये प्रति इकाई कीमत होने पर उपभोक्ता X वस्तु की 40 और Y वस्तु की 10 मात्राएँ क्रय करेगा अर्थात उसकी कीमत रेखा AB^2 होगी ।

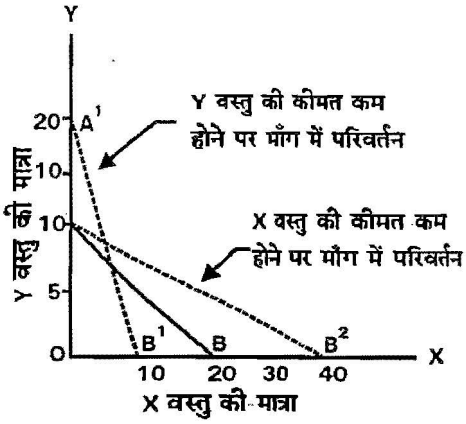

रेखाचित्र–12

उपभोक्ता का साम्य या सन्तुलन
(Consumer's Equilibrium)

उदासीनता वक्र विश्लेषण के द्वारा उपभोक्ता के साम्य का अध्ययन करने के लिए दो उपकरणों की आवश्यकता होती है । **प्रथम – उदासीनता मानचित्र** (Indifference Map) **और द्वितीय – मूल्य रेखाएँ** (Price Lines)। उदासीनता मानचित्र के द्वारा दो वस्तुओं के विभिन्न संयोगों से प्राप्त होने वाले सन्तुष्टि के स्तर को जाना जा सकता है, जिसे उपभोक्ता प्राप्त करना चाहता है । इसके विपरीत, मूल्य रेखा दो वस्तुओं के उन संयोगों का चित्रण करती है जो उपभोक्ता दिये हुए मूल्यों एवं विभिन्न आय–स्तरों (या व्यय हेतु उपलब्ध धनराशि) पर खरीद सकता है ।

उपभोक्ता के साम्य या सन्तुलन से आशय उस स्थिति को ज्ञात करने से है जहाँ पर कि उपभोक्ता को अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होती है । दूसरे शब्दों में, दो वस्तुओं के उस संयोग को ज्ञात करना जिससे एक ओर तो उपभोक्ता अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त कर सके और दूसरी ओर वह संयोग उसकी सामर्थ्य में भी हो, साम्य कहा जाता है । रेखाचित्र–13 में उपभोक्ता के साम्य को दर्शाया गया है ।

रेखाचित्र–13 में OX अक्ष पर X वस्तु की मात्रा एवं OY अक्ष पर Y वस्तु की मात्रा को दर्शाया गया है । मान लें कि उपभोक्ता अपनी 10 रुपये की आय को X एवं Y वस्तुओं पर इस प्रकार से व्यय करना चाहता है कि उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो । रेखाचित्र में उपभोक्ता के विभिन्न सन्तुष्टि स्तरों को दर्शाने के लिए IC_1, IC_2, IC_3 एवं IC_4 उदासीनता की वक्र रेखाएँ खींची गई हैं । मूल्य रेखा AB है, जो यह दर्शाती है कि उपभोक्ता 10 रुपये से X एवं Y वस्तुओं के कौन–कौन से संयोग क्रय कर सकता है । यहाँ यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि उदासीनता वक्र IC_1 से सबसे कम, IC_2 से अधिक, IC_3 से और अधिक तथा IC_4 से सर्वाधिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है।

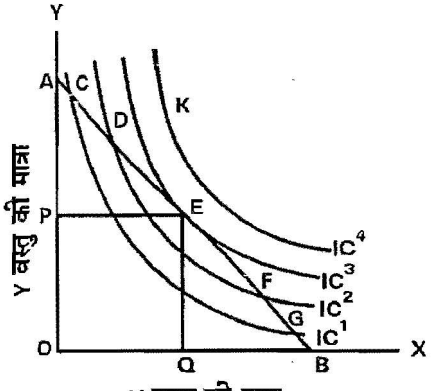

रेखाचित्र–13

रेखाचित्र–13 में मूल्य रेखा AB उदासीनता वक्र IC_1 को C एवं G बिन्दुओं पर काटता है । चूँकि इस उदासीनता

NOTES

वक्र से उपभोक्ता को कम सन्तुष्टि प्राप्त होती है, फलतः उपभोक्ता इन बिन्दुओं को नहीं चुनेगा। यही स्थिति उदासीनता वक्र IC_2 की है। उपभोक्ता D एवं F बिन्दुओं को नहीं चुनेगा। उदासीनता वक्र IC_4 सर्वाधिक सन्तुष्टि के स्तर को दर्शाती है। किन्तु यह वक्र मूल्य रेखा के ऊपर है, अर्थात् उपभोक्ता अपनी आय से वक्र IC_4 के संयोगों को प्राप्त नहीं कर सकता, जबकि उसे अधिक सन्तुष्टि प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, IC_4 के K बिन्दु पर पहुँचना उपभोक्ता की सामर्थ्य के बाहर है।

उदासीनता वक्र IC_3 मूल्य रेखा AB को E बिन्दु पर स्पर्श करती है। यही उपभोक्ता का साम्य बिन्दु होगा। कारण यह है कि E बिन्दु मूल्य रेखा पर स्थित है, अर्थात् E बिन्दु का संयोग उपभोक्ता की सामर्थ्य में है तथा इस बिन्दु पर उसे IC_1 एवं IC_2 की तुलना में अधिक सन्तुष्टि भी प्राप्त होती है। यहाँ पर भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि उपभोक्ता IC_4 पर नहीं पहुँच सकता, क्योंकि यह उसकी सामर्थ्य के बाहर है। फलतः E बिन्दु पर ही उपभोक्ता का साम्य होगा, जहाँ पर उपभोक्ता X वस्तु की OQ मात्रा एवं Y वस्तु की OP मात्रा का उपभोग करके अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करेगा। यहाँ E बिन्दु ही एक ऐसा बिन्दु है जहाँ मूल्य रेखा का ढाल उदासीनता रेखा के बराबर है और प्रतिस्थापन की सीमान्त दर मूल्य अनुपात के बराबर है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मूल्य रेखा एवं उदासीनता वक्र की परस्पर स्पर्शिता के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि साम्य बिन्दु पर दोनों वस्तुओं की सीमान्त प्रतिस्थापन की दर निश्चित रूप से घटती हुई होनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो स्थापित साम्य स्थिर नहीं होगा। कारण यह है कि, यदि सीमान्त प्रतिस्थापन की दर बढ़ती हुई है, तो X वस्तु की इकाइयों में वृद्धि करने से उसकी अतिरिक्त इकाइयों की उपयोगिता दूसरी वस्तु Y के रूप में बढ़ जाती है, जो सम्भव नहीं है। अतः साम्य बिन्दु पर सीमान्त प्रतिस्थापन की दर घटती हुई होती है तथा उदासीनता वक्र मूल बिन्दु के उन्नतोदर होती है। संक्षेप में उपभोक्ता के साम्य के लिए निम्न शर्तों का पूरा होना आवश्यक है-

(अ) मूल्य रेखा उदासीनता वक्र को स्पर्श करती है।

(ब) मूल्य रेखा का ढाल उदासीनता वक्र के ढाल के बराबर हो।

(स) प्रतिस्थापन की सीमान्त दर, मूल्य अनुपात के बराबर हो।

(द) सीमान्त प्रतिस्थापन की दर घटती हुई होती है।

2.7 प्रकट अधिमान सिद्धान्त (Revealed Preference Theory)

प्रो. सेम्युलसन का प्रकट अधिमान सिद्धान्त व्यवहारवादी क्रमसंख्यात्मक विश्लेषण माना गया है, जो कि हिक्स एवं ऐलन के अतंर्दर्शी क्रमसंख्या विश्लेषण से भिन्न है। यह सिद्धान्त बाजार में उपभोक्ता के अवलोकित व्यवहार के आधार पर दो वस्तुओं को एक संयोग के लिए उपभोक्ता के अधिमान का विश्लेषण किया जाता है।

चुनाव अधिमान को प्रकट करता (Choice Reveals Preference)

प्रो. सेम्युलसन का माँग सिद्धान्त प्रकट अधिमान की कल्पना पर आधारित है जो यह प्रदर्शित करता है कि प्रत्येक वस्तु का चुनाव अधिमान को प्रदर्शित करता है।

उपभोक्ता दो वस्तुओं के एक संयोग को क्रय करता है, क्योंकि किसी अन्य संयोग की अपेक्षा वह इसे अधिक पसन्द करता है या यह संयोग दूसरे संयोग की अपेक्षा सस्ता है। उदाहरणार्थ यदि उपभोक्ता BC या D संयोग की अपेक्षा A संयोग को क्रय करता है, तो वह A के प्रति अपने अधिमान को प्रकट करता है। इसके दो कारण हैं – (1) A संयोग B, C या D संयोग की अपेक्षा सस्ता है, (2) A संयोग अन्य संयोगों की अपेक्षा महँगा होने पर भी उपभोक्ता उसे अधिक पसन्द करता है। अतः कहा जा सकता है कि B, C, D की अपेक्षा A प्रकट अधिमान है।

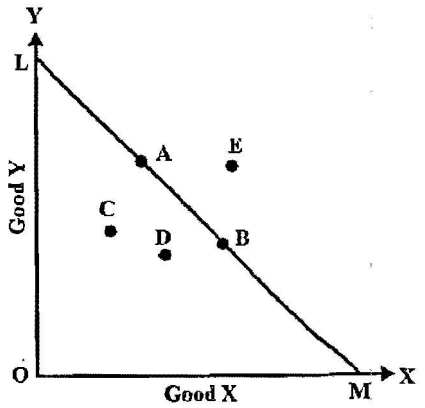

चित्र-1

चित्र में x व y दोनों वस्तुओं की कीमतें तथा उपभोक्ता की आय दी गई है। LM उपभोक्ता की कीमत आय रेखा है। OLM उपभोक्ता के चुनाव का क्षेत्र है, कीमत LM पर

x व y वस्तुओं के विभिन्न संयोगों को दर्शाता है। अर्थात् उपभोक्ता त्रिभुज OLM में LM रेखा पर A एवं B संयोगों तथा इस रेखा से नीचे C एवं D संयोगों में से किसी भी एक संयोग का चुनाव कर सकता है। यदि वह संयोग A का चुनाव करता है तो यह B की अपेक्षा **प्रकटित अधिमानित** है। C एवं D संयोग, A की अपेक्षा **प्रकटित घटिया** हैं क्योंकि वे कीमत-आय रेखा से नीचे हैं, परन्तु E संयोग उपभोक्ता के लिए अधिक महँगा है क्योंकि यह उसकी कीमत-आय LM से ऊँचे हैं। इसलिए A संयोग सभी संयोगों की तुलना में प्रकटित अधिमानित है।

प्रो. हिक्स के अनुसार, जब एक उपभोक्ता अवलोकित मार्किट व्यवहार के आधार पर एक निश्चित संयोग के लिए अपने अधिमान को प्रकट करता है तो वह ऐसा **सशक्त आदेश** के अन्तर्गत करता है जब चुनी हुई स्थिति को OLM त्रिभुज पर या अंदर सभी अन्य स्थितियों से अधिमानित दर्शाया जाता है। अतः जब उपभोक्ता अपने निश्चित अधिमान को संयोग A के लिए त्रिभुज OLM पर या अंदर प्रकट करता है, तो वह अन्य सभी संयोगों जैसे B, C और D अस्वीकार करता है। इसलिए A का चुनाव सशक्त आदेशित है।

माँग का नियम
(The Law of Demand)

प्रो. सेम्युलसन उदासीनता वक्रों के प्रयोग और उनसे संबंधित रुकावटी मान्यताओं के बिना, अपनी प्रकटित अधिमान उपकल्पना के आधार पर सीधे तौर से माँग के नियम को स्थापित करता है।

मान्यताएँ (Assumptions)

सेम्युलसन का माँग का नियम इन मान्यताओं पर आधारित है :

(1) माँग की आय लोच धनात्मक है अर्थात् जब आय बढ़ती है तो वस्तु की अधिक मात्रा माँगी जाती है और कम मात्रा माँगी जाती है जब आय कम होती है।

(2) यह सिद्धान्त सकर्मकता (transitivity) की मान्यता पर आधारित है। **सकर्मकता** त्रिवाची संगति (three-term consistency) का निर्देश करती है। यदि B की अपेक्षा A के लिए और C की अपेक्षा B के लिए अधिमान है, तो उपभोक्ता का निश्चय से C की अपेक्षा A के लिए अधिमान होगा। यदि उपभोक्ता दी हुई वैकल्पिक स्थितियों में से संगत चुनाव करना चाहता है, तो प्रकटित अष्टमान सिद्धान्त के लिए यह मान्यता आवश्यक है।

(3) यह उपभोक्ता के व्यवहार की संगति (consistency) को मानकर चलता है। यदि एक स्थिति में यह B की अपेक्षा A को अधिमान देता है, तो किसी अन्य स्थिति में A की अपेक्षा B को अधिमान नहीं दे सकता। हिक्स के अनुसार यह **'द्विवाची संगति'** (two-term consistency) है जिसके लिए एक सरल रेखा वक्र पर दो शर्तों को पूरा करना आवश्यक है : (*a*) A यदि B के बाईं ओर स्थित है तो B अवश्य A के दाईं ओर स्थित होगा, (*b*) A यदि B के दाईं ओर स्थित है, तो B अवश्य A के बाईं ओर स्थित होगा।

(4) उपभोक्ता का चुनाव सशक्त आदेश पर आधारित है।

(5) वह किसी भी स्थिति में कम वस्तुओं की अपेक्षा अधिक वस्तुओं के संयोग के प्रति अधिमान रखता है।

(6) दी हुई कीमत-आय रेखा पर उपभोक्ता केवल एक संयोग का चुनाव करता है, अर्थात् सापेक्ष कीमतों में कोई भी परिवर्तन जो वह खरीदता है उसमें सदैव कुछ परिवर्तन लाएगी।

(7) एक संयोग का चुनाव उस संयोग के प्रति उपभोक्ता के अधिमान को प्रकट करता है।

(8) उपभोक्ता की रुचियों में परिवर्तन नहीं होता।

आधारभूत प्रमेय (Fundamental Theorem)

मान्यताओं को लेकर सेम्युल्सन ने **उपभोग सिद्धान्त का आधारभूत प्रमेय**, जिसे माँग प्रमेय भी कहते हैं, इन शब्दों में प्रस्तुत की : **"कोई वस्तु (साधारण या मिश्रित) जिसकी माँग केवल मौद्रिक आय में वृद्धि होने पर बढ़ती है, निश्चय से उसकी माँग घट जाती है जब केवल उसकी कीमत में वृद्धि होती है।"** जब माँग की आय-लोच धनात्मक हो तो माँग की कीमत-लोच ऋणात्मक होती है। इसे एक वस्तु की कीमत में वृद्धि और कमी दोनों से दर्शाया जा सकता है।

(क) कीमत में वृद्धि (Rise in Price)

पहले हम एक वस्तु, मान लीजिए X, की कीमत में वृद्धि का विश्लेषण करते हैं।

NOTES

इस आधारभूत प्रमेय को सिद्ध करने के लिए हम इसे दो स्टेजों में बाँट लेते हैं। प्रथम स्टेज में, एक उपभोक्ता को लीजिए जो अपनी सारी आय दो वस्तुओं X और Y पर खर्च करता है। चित्र 2 में, LM उसकी मूल कीमत-आय रेखा है जहाँ उपभोक्ता R द्वारा प्रकटित किए गए संयोग का चुनाव करता है। त्रिभुज OLM उपभोक्ता के चुनाव का क्षेत्र है जहाँ उसकी दी हुई कीमत-आय रेखा LM पर वस्तु X और Y के विभिन्न संयोग उसे उपलब्ध हैं। केवल संयोग R को चुनकर उपभोक्ता त्रिभुज OLM पर या अंदर अन्य संयोगों की अपेक्षा अपने अधिमान को प्रकट करता है।

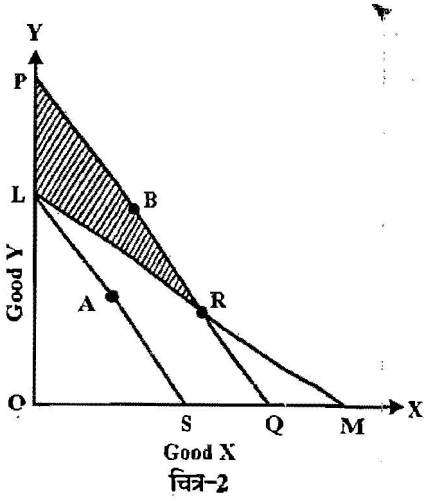

चित्र-2

मान लीजिए कि X की कीमत बढ़ती है, Y की कीमत स्थिर रहते हुए, जिससे LS उसकी नयी कीमत-आय रेखा बन जाती है। अब मान लीजिए कि वह एक नया संयोग A चुनता है जो यह दर्शाता है कि X की कीमत बढ़ने से उपभोक्ता पहले से कम X की मात्रा खरीदेगा। वस्तु X की कीमत बढ़ने से उपभोक्ता की वास्तविक आय में कमी हो जाती है जिसकी क्षतिपूर्ति करने के लिए उसे वस्तु Y के रूप में LP मुद्रा की राशि दीजिए। परिणामस्वरूप, PQ उसकी नई कीमत-आय रेखा बन जाती है जो LS रेखा के समानांतर है और बिन्दु R में से गुजरती है। सेम्युलसन इसे अतिक्षतिपूर्ति प्रभाव कहता है। अब उपभोक्ता का चुनाव क्षेत्र OPQ त्रिभुज बन जाता है। क्योंकि मूल कीमत-आय रेखा LM पर R सभी अन्य बिन्दुओं से अधिमानित प्रकटित हुआ था, इसलिए PQ रेखा के खण्ड RQ पर R से नीचे स्थित सभी बिन्दु उपभोक्ता व्यवहार के साथ मेल नहीं खाएँगें। ऐसा इस कारण कि वह X की अधिक मात्रा नहीं ले सकता जब उसकी कीमत बढ़ी हो। इसलिए उपभोक्ता कीमत-आय रेखा PQ के खण्ड PR पर छायाकृत (shaded) क्षेत्र LRP में या संयोग R या कोई अन्य संयोग, जैसे B, चुनेगा। यदि वह संयोग R चुनता है तो वह X कीमत बढ़ने से पहले वाली X और Y की मात्राएँ खरीदेगा। दूसरी ओर, यदि वह संयोग B चुनता है तो वह पहले से कम मात्रा X की और अधिक मात्रा Y की खरीदेगा।

यदि उपभोक्ता को दिया गया मुद्रा का अतिरिक्त पेक्ट LP उससे वपिस ले लिया जाता है, तो वह R के बाईं ओर LS रेखा के बिन्दु A पर होगा जहां वह X की कम मात्रा खरीदेगा। यदि X के लिए माँग की आय-लोच धनात्मक है, क्योंकि X की कीमत बढ़ने से इसकी माँग में कमी हुई है (जब उपभोक्ता A बिन्दु पर है) तो यह सिद्ध होता है कि जब आय-लोच धनात्मक है तो कीमत-लोच ऋणात्मक है।

(ख) कीमत में कमी (Fall in Price)

माँग प्रमेय को सिद्ध किया जा सकता है जब वस्तु X की कीमत गिर जाती है। इसे इन शब्दों में परिभाषित किया जा सकता है : **"कोई वस्तु जिसकी माँग केवल मौद्रिक आय में कमी होने पर घटती है, निश्चय से उसकी माँग बढ़ जाती है जब केवल उसकी कीमत में कमी होती है।"** इसकी व्याख्या चित्र 3 में की गई है। LM मूल कीमत-आय रेखा है जिस पर उपभोक्ता R पर अपना अधिमान प्रकटित करता है। वस्तु X की कीमत कम हो जाने पर तथा Y की कीमत स्थिर रहने पर, उसकी कीमत-रेखा LS की स्थिति में चली जाती है। मान लीजिए कि उपभोक्ता इस रेखा पर संयोग A के प्रति अपने अधिमान को प्रकटित करता है जो यह दर्शाता है कि वह X की पहले से अधिक मात्रा खरीदता है। वस्तु X की कीमत कम होने से बिन्दु R से A को गति कीमत प्रभाव है, जिससे X की माँग में वृद्धि हुई है।

मान लीजिए कि X की कीमत कम होने से उपभोक्ता की वास्तविक आय में जो वृद्धि हुई है वह Y की LP मात्रा के रूप में उससे ले ली जाती है। अब PQ उसकी नई-कीमत रेखा हो जाती है जो LS के समानांतर है और बिन्दु R में से गुजरती है। नई त्रिभुज OPQ उसके चुनाव का क्षेत्र बन जाता है। क्योंकि उपभोक्ता LM रेखा के बिन्दु R पर अपने अधिमान को प्रकटित कर रहा था, इसलिए PQ रेखा के बिन्दु R से ऊपर खण्ड RP पर स्थित सभी बिन्दु उसके चुनाव से मेल नहीं खाएँगे। ऐसा इसलिए कि RP खण्ड पर वस्तु X की उसे पहले से कम मात्रा प्राप्त होगी, परन्तु X की कीमत कम होने पर यह संभव नहीं है। अतः उपभोक्ता R से ऊपर सभी संयोगों को अस्वीकार कर देगा। वह छायाकृत क्षेत्र MRQ में रेखा PQ के खण्ड RQ पर या तो संयोग R या कोई अन्य संयोग जैसे B को

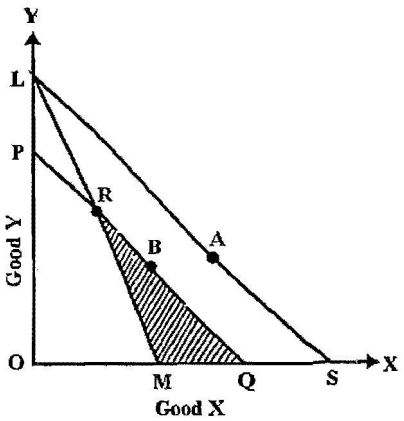

चित्र-3

चुनेगा। यदि वह संयोग R चुनता है तो X की कीमत कम होने से पहले X और Y की जो मात्रा वह खरीद रहा था, उतनी ही खरीदेगा और यदि वह B संयोग खरीदता है तो वह पहले से अधिक मात्रा X की और कम मात्रा Y की खरीदेगा। बिन्द R से B को उपभोक्ता की गति X की कीमत में कमी का **स्थानापत्ति प्रभाव** है।

यदि LP के रूप में उपभोक्ता से ली गई मुद्रा उसे वापिस कर दी जाती है, तो वह कीमत गिरने के बाद की अपनी LS रेखा पर पुराने संयोग A पर होगा, जहाँ वह X की कीमत गिरने से इसकी कम मात्रा खरीदेगा। बिन्दु B से A की ओर उपभोक्ता की गति **आय प्रभाव** है। इस प्रकार माँग प्रमेय फिर सिद्ध हो जाता है कि धनात्मक आय-लोच का अर्थ है माँग की ऋणात्मक कीमत-लोच।

प्रकटित अधिमान से माँग वक्र की व्युत्पत्ति
(Derivation of The Demand Curve From Revealed Preference)

प्रकटित अधिमान उपकल्पना से एक व्यक्ति के माँग वक्र को व्युत्पन्न किया जा सकता है। इसे चित्र 4 में दर्शाया गया है। पेनल (A) में, मुद्रा को अनुलंब अक्ष पर और वस्तु X को समानांतर अक्ष पर लिया गया है। LM मूल कीमत-आय रेखा है जिसके बिन्दु R पर उपभोक्ता अपने अधिमान को प्रकटित करता है और वस्तु X की OA मात्रा खरीदता है। मान लीजिए कि X की कीमत कम हो जाती है। परिणामस्वरूप, उसकी नई आय-कीमत रेखा LS है। इस रेखा पर, उपभोक्ता T बिन्दु पर अपने अधिमान को प्रकटित करता है और वह पहले से अधिक X की मात्रा OB खरीदता है। बिन्दु R से T को गति X की कीमत गिरने का **कीमत प्रभाव है** जिसके कारण उसकी माँग OA से बढ़कर OB हुई है।

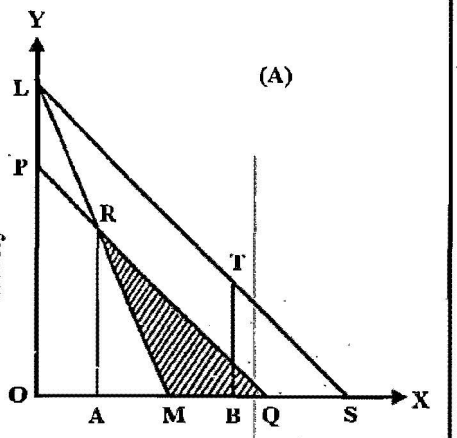

चित्र–4

अब उपभोक्ता की आय में LP के बराबर जो वास्तविक वृद्धि X की कीमत में कमी से हुई है, उसे उससे ले लीजिए। इस प्रकार, PQ उसकी नई कीमत-आय रेखा है जो LS रेखा के समानांतर है और B बिन्दु में से गुजरती है। नया त्रिभुज OPQ उसका चुनाव का क्षेत्र बन जाता है। क्योंकि उपभोक्ता मूल कीमत-आय रेखा LM के बिन्दु R पर अपने अधिमान को प्रकटित कर रहा था, इसलिए R बिन्दु से ऊपर PQ रेखा के RP खण्ड पर सभी बिन्दु उसके चुनाव से मेल नहीं खाते हैं। ऐसा इस कारण कि X की कीमत गिरने पर वह उसकी कम मात्रा नहीं ले सकते। अतः वह R से ऊपर सभी संयोगों को अस्वीकार करेगा और या तो संयोग R या कोई अन्य संयोग छायाकृत त्रिभुज MRQ में चुनेगा। यदि मुद्रा की PL राशि जो उससे ली गई थी उपभोक्ता को वापिस कर, दी जाती है, तो वह पुनः कीमत-रेखा LS के बिन्दु T पर होगा जहाँ वह X की पहले से अधिक मात्रा OB खरीदता है। बिन्दु R से T तक गति को चित्र के पेनल (B) में माँग वक्र को खींचकर दिखाया गया है।

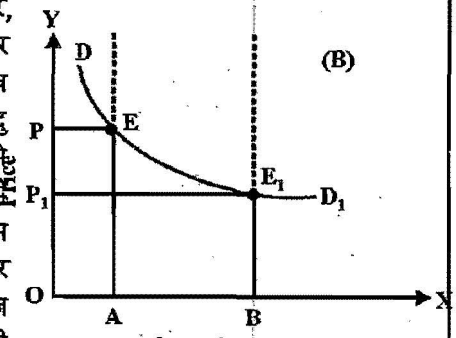

चित्र–4

क्योंकि हमने पेनल (A) में मुद्रा को अनुलंब अक्ष पर लिया है, इसलिए वस्तु X की कीमत की गणना करने के लिए हम उपभोक्ता की कुल मौद्रिक आय को X की खरीदी गई मात्राओं से विभाजित करते हैं। जब X कीमत OL/OM $(= OP)$ हो, तो माँगी गई मात्रा OA है। जब X की कीमत कम हो जाती है OL/OS $(= OP)$ हो, तो माँगी गई मात्रा बढ़कर $\frac{}{}$ होती है। चित्र के पेनल (B) में, हम कीमत को अनुलंब अक्ष पर और वस्तु X की इकाइयों को समानांतर अक्ष पर लेते हैं और इन कीमत-मात्रा संयोगों E और E_1 को खींचते हैं और इन बिन्दुओं को सरल रेखा द्वारा मिला कर हमें DD_1 माँग वक्र प्राप्त होता है। यह वक्र दर्शाता है कि जब कीमत OP से गिरकर OP_1 होती है, तो उपभोक्ता X की AB अधिक मात्रा खरीदता है।

प्रकटित अधिमान से उदासीनता वक्र व्युत्पन्न करना
(Derivation of Indifference Curve From Revealed Preference)

सेम्युलसन के प्रकटित अधिमान सिद्धांत का प्रयोग उदासीनता वक्र तकनीक की तुलना में एक उदासीनता वक्र खींचने के लिए अधिक सुव्यवस्थित ढंग से किया गया है। उदासीनता वक्र तकनीक में यह माना गया है कि एक

NOTES

उदासनीता वक्र उपभोक्ता को पूछकर व्युत्पन्न किया जा सकता है कि वह वस्तुओं के सभी संभव संयोगों में से चुनाव करे। प्रकटित अधिमान सिद्धान्त के अनुसार, एक उपभोक्ता के अधिमानों का अनुमान लगाया जा सकता है और मार्किट में पर्याप्त संख्या के अवलोकित चुनावों या क्रयों से उदासीनता वक्र व्युत्पन्न किया जा सकता है। फिर, उदासीनता वक्र तकनीक यह मानती है कि उपभोक्ता वस्तुओं के सभी संभव संयोगों को विवकेशीलता और संगतिपूर्वक क्रमबद्ध करता है। उपभोक्ता के मार्किट व्यवहार का अवलोकन करके प्रकटित अधिमान द्वारा एक उन्नतोदर उदासीनता वक्र खींचा जा सकता है।

मान्यताएँ (Assumptions)

यह विश्लेषण निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है

(1) X और Y दो वस्तुएँ हैं।

(2) उपभोक्ता के अधिमानों में सकर्मकता है। इसका मतलब है कि यदि B से A को अधिमान दिया जाता है और C से B को, तो उपभोक्ता A को C पर अवश्य अधिमान देगा।

(3) उपभोक्ता के व्यवहार में संगति है। इसका अभिप्राय है कि यदि एक स्थिति में B से A को अधिमान दिया जाता है तो दूसरी स्थिति में B को A से अधिमान नहीं दिया जा सकता है।

(4) वह किसी भी स्थिति में अधिक वस्तुओं के संयोम को कम वस्तुओं की अपेक्षा अधिमान देता है।

(5) उपभोक्ता की रुचियों में परिवर्तन नहीं होता है।

यह मान्यताएँ दी होने पर, उपभोक्ता दो वस्तुओं के एक विशेष संयोग को किसी अन्य संयोग की अपेक्षा दो में से एक कारण से चुनता है।

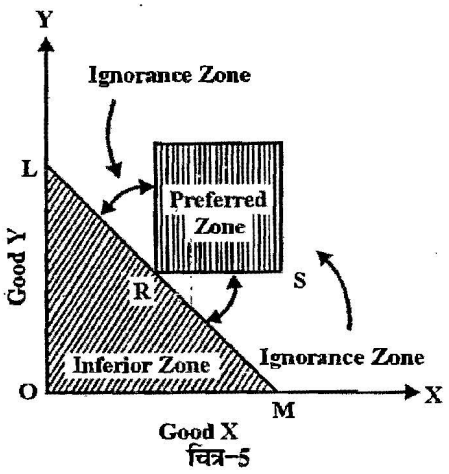

चित्र–5

मान लीजिए कि चित्र- 5 में उपभोक्ता अपनी मूल बजट रेखा LM पर संयोग R के लिए अपने अधिमान को प्रकट करता है। रेखा LM **पर और नीचे** सभी अन्य बिन्दु R से घटिया संयोग दर्शाते हैं। इसे छायाकृत क्षेत्र द्वारा दिखाया गया है जिसे **घटिया क्षेत्र** (inferior zone) कहते हैं। दूसरी ओर, R से ऊपर और / या दाईं ओर TRS क्षेत्र में सभी बिन्दु R से अधिमानित हैं क्योंकि उन पर अधिक X और/या Y की मात्राएँ उपलब्ध होती हैं। इसलिए, R से ऊपर छायाकृत क्षेत्र TRS **अधिमानित क्षेत्र** (preferred zone) कहलाता है। फिर भी, R के दाईं और बाईं और LM रेखा के ऊपर और TRS के नीचे क्षेत्रों में दो वस्तुओं के संयोग पाए जाते हैं जिन्हें उपभोक्ता आदेशित नहीं करता है। वे TRL और SRM हैं जिन्हें **अनभिज्ञता क्षेत्र** कहते हैं क्योंकि इनमें उपभोक्ता के अधिमानों का ज्ञान नहीं है। इससे यह परिणाम निकलता है कि उदासीनता वक्र R में से अवश्य गुजरे और TRS क्षेत्र के नीचे और LM बजट रेखा के ऊपर स्थित हो। R बिन्दु पर इसकी ढलान अवश्य ऋणात्मक हो और यह मूल के उन्नतोदर हो, क्योंकि यह अनभिज्ञता के ऊपरी और निचले क्षेत्रों में स्थित होगा।

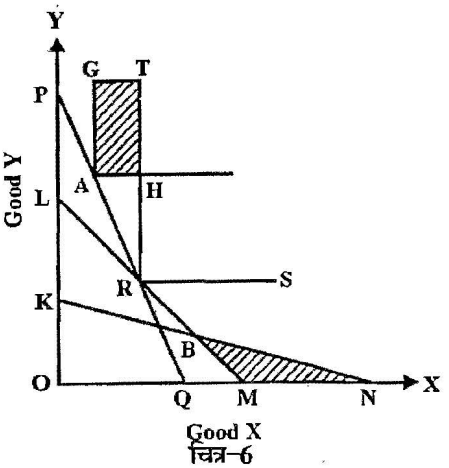

चित्र–6

उदासीनता वक्र की सही स्थिति को मालूम करने के लिए, हम पहले यह मान्यता लेते हैं कि X की कीमत गिरती है, जिससे उपभोक्ता की नई बजट रेखा KN हो जाती है, चित्र-6 में, जो मूल रेखा LM को R के नीचे बिन्दु B पर काटती है। अब उपभोक्ता या तो संयोग B या KN रेखा के BN खण्ड पर किसी अन्य संयोग को चुनेगा। इस रेखा के KB खण्ड पर B के बाईं ओर अन्य सभी बिन्दु उसके चुनाव से मेल नहीं खाएँगे, क्योंकि वे मूल रेखा LM के नीचे अनभिज्ञता क्षेत्र में स्थित हैं। क्योंकि उपभोक्ता B संयोग को चुनता है, यह R से घटिया प्रकटित होता है और BN खण्ड के ऊपर या नीचे प्रत्येक बिन्दु भी R से घटिया प्रकटित होता है। इस प्रकार, त्रिभुज BNM निचले अनभिज्ञता क्षेत्र से काट दिया

जाता है। बिन्दु R के नीचे ऐसी बजट रेखाएँ खींचकर और इसी तर्क का प्रयोग करके, निचले अनभिज्ञता क्षेत्र में R से नीचे समस्त हिस्से को हटाया जा सकता है।

इसी प्रकार, हम R के बाईं ओर ऊपरी अनभिज्ञता क्षेत्र को चित्र 6 में काट सकते हैं। मान लीजिए कि X की कीमत बढ़ती है और नई बजट रेखा PQ मूल बिन्दु R में से गुजरती है जो वही वास्तविक आय दर्शाती है जो R बिन्दु पर है। अब उपभोक्ता एक नए बिन्दु A को बजट रेखा PQ पर चुनता है। इस प्रकार, वह R की अपेक्षा A के प्रति अपने अधिमान को प्रकटित करता है, क्योंकि दोनों बिन्दु एक ही बजट रेखा पर हैं। परन्तु A से दाईं ओर तथा ऊपर GAH क्षेत्र में सभी संयोगों को A पर अधिमान दिया जाता है, क्योंकि यह क्षेत्र उन संयोगों को व्यक्त करता है, जिन पर A संयोग की अपेक्षा दोनों में से एक वस्तु अधिक प्राप्त होती है। इसे यूँ समझा जा सकता है : क्योंकि R से A अधिमानित है और GAH क्षेत्र A से अधिमानित है, इसलिए R से GAH अधिमानित है। इस प्रकार, $GAHT$ क्षेत्र में संयोगों को श्रेणीबद्ध करते हुए R से अधिमानित करके, हम ऊपरी अनभिज्ञता क्षेत्र के कुछ भाग को हटा देते हैं। इस प्रक्रिया को दोहराते हुए, हम अनभिज्ञता क्षेत्र को सीमित करते जाते हैं और अन्ततः उदासीनता वक्र को स्थापित कर लेते हैं, जिसे चित्र 7 में I वक्र द्वारा दिखाया गया है।

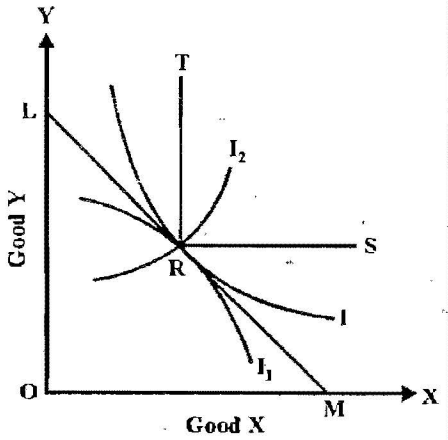

चित्र-7

जहाँ तक, उदासीनता वक्र की आकृति का संबंध है, चित्र 7 दर्शाता है कि R बिन्दु पर I वक्र मूल के उन्नतोदर है क्योंकि यह निचले और ऊपरी अनभिज्ञता क्षेत्रों में से गुजरता है। और प्रमाण देने के लिए, पहले हम LM को सरल रेखा उदासीनता वक्र विचारते हैं। रेखा LM उदासीनता वक्र नहीं हो सकता, क्योंकि R का चुनाव LM पर सभी बिन्दुओं को R से घटिया प्रकटित करता है तथा उपभोक्ता एक ही समय बिन्दु R और LM पर किसी अन्य बिन्दु के बीच उदासीन नहीं हो सकता है। दूसरे, यह I_2 वक्र की तरह नहीं हो सकता जो LM रेखा को R बिन्दु पर काटता है, क्योंकि R से नीचे सभी बिन्दु R से घटिया प्रकटित हैं और उपभोक्ता उनके प्रति उदासीन है। तीसरे, उदासीनता वक्र I_1 की तरह R से गुजरता नतोदर (concave) नहीं हो सकता, क्योंकि इसके ऊपरी और निचले भाग घटिया क्षेत्र में हैं और सभी बिन्दु R से घटिया प्रकटित हैं। इसलिए, उदासीनता वक्र केवल मूल के उन्नतोदर ही हो सकता है, जैसा कि चित्र 7 में I वक्र है।

प्रकटित अधिमान सिद्धान्त की श्रेष्ठता
(Superiority of Revealed Preference Theory)

उपभोक्ता के व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले हिक्स के क्रम-संख्यात्मक सिद्धान्त की अपेक्षा प्रकटित अधिमान सिद्धान्त श्रेष्ठ है।

(1) यह प्रमेय संगत (consistent) चुनाव के आधार पर निरीक्षण के योग्य व्यवहार के रूप में कल्याणकारी अर्थशास्त्र का आधार प्रदान करता है।

(2) सेम्युल्सन के माँग प्रमेय की प्रथम अवस्था में, स्लट्स्की के स्थानापन्न-प्रभाव की भाँति, 'अति क्षतिपूर्ति प्रभाव' हिक्स के स्थानापन्नता-प्रभाव की अपेक्षा उपभोक्ता के व्यवहार की अधिक वास्तविक व्याख्या करता है। वस्तु X की कीमत में वृद्धि होने पर यह प्रमेय उपभोक्ता को पहले से ऊँची कीमत-आय स्थिति में आने देता है और वस्तु X की कीमत कम होने पर पहले से नीची कीमत-आय स्थिति में लाता है। यह हिक्स के आय क्षतिपूर्ति परिवर्तन में संशोधन है। इसी प्रकार, दूसरी अवस्था में सेम्युल्सन प्रमेय हिक्स के आय-प्रभाव की बहुत ही सरल ढंग से व्याख्या करता है। प्रोफेसर हिक्स स्वयं इस सिद्धान्त की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हैं, जब वे यह कहते हैं कि "उदासीनता विधि के स्पष्ट विकल्प के रूप में इसे (प्रकटित अधिमान को) प्रस्तुत करना माँग के सिद्धान्त के योगदान में सेम्युल्सन की नवीनतम व महत्वपूर्ण देन है।"

(3) हिक्स का माँग विश्लेषण इस मान्यता पर आधारित है कि उपभोक्ता दी हुई आय से अपनी संतुष्टि को अधिकतम करने के लिए विवेकपूर्ण व्यवहार करता है। सेम्युल्सन का माँग प्रमेय इससे श्रेष्ठ है, क्योंकि यह इस मान्यता का बिल्कुल त्याग करता है कि उपभोक्ता सदैव अपनी संतुष्टि को अधिकतम करता है तथा मार्शल के घटती सीमान्त उपयोगिता नियम एवं हिक्स के घटती सीमान्त स्थानापत्ति दर जैसे भ्रामक सिद्धान्त का प्रयोग नहीं करता है।

NOTES

(4) यह सिद्धान्त उपयोगिता और उदासीनता वक्र दोनों सिद्धान्तों को **निरंतरता** (continuity) मान्यता से बच जाता है। एक उदासीनता वक्र निरंतर वक्र होता है जिस पर उपभोक्ता दोनों वस्तुओं के कोई भी संयोग ले सकता है। परन्तु सेम्युल्सन का यह विश्वास है कि इस प्रकार अनिरंतरता पाई जाती है, क्योंकि उपभोक्ता केवल एक ही संयोग ले सकता है।

(5) यह उपभोक्त के व्यवहार के बारे में किसी मनोवैज्ञानिक अंर्तदर्शी सूचना का अध्ययन नहीं करता है। बल्कि, यह मार्किट में उपभोक्ता के व्यवहार के निरीक्षण के आधार पर व्यवहारवादी विश्लेषण प्रस्तुत करता है। सेम्युलसन के अनुसार, इस सिद्धान्त ने माँग सिद्धांत को मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के अंतिम अवशेषों से मुक्त कर दिया है।

प्रकटित अधिमान सिद्धान्त के दोष
(Defects of the revealed preference theory)

सैम्यूल्सन के व्यवहारवादी क्रमसंख्यात्मक सिद्धान्त के कई दोष हैं :

(1) प्रकटित अधिमान सिद्धान्त उपभोक्ता के व्यवहार में जोखिम या अनिश्चितता वाले चुनावों का विश्लेषण करने में असफल रहा है। यदि तीन स्थितियाँ A, B, C हों तो उपभोक्ता A को B से अधिमान देता है और C को A से। इनमें से A निश्चित है, परन्तु B या C की संभावना 50-50 है। ऐसी अवस्था में, उपभोक्ता का C को A से अधिमान देना उसके अवलोकित व्यवहार पर आधारित नहीं कहा जा सकता।

(2) टी. मजूमदार के अनुसार, प्रकटित अधिमान उपकल्पना उन स्थितियों के लिए असमर्थ है जहाँ व्यक्तिगत चुनावकर्ता खेल सिद्धान्त किस्म की कूटनीतियां प्रयोग करने में समर्थ हैं।

(3) प्रकटित अधिमान सिद्धान्त केवल व्यक्तिगत उपभोक्ता पर लागू होता है। इस सिद्धान्त की सहायता से, 'अन्य सब बातें समान रहती हैं' यह मानकर, हर उपभोक्ता के लिए ऋणात्मक ढलान वाले माँग वक्र खींचे जा सकते हैं। परन्तु यह तकनीक मार्किट माँग अनुसूचियों को खींचने में सहायता नहीं देती। क्योंकि मार्किट में जब वस्तु X की कीमत गिरती है, तो इससे अन्य वस्तुओं की कीमतें प्रभावित हो सकती हैं जो समाज में वास्तविक आय के वितरण को बदल देंगी। यद्यपि इस वस्तु X के लिए प्रत्येक व्यक्ति का माँग वक्र नीचे की ओर ढालू होता है, फिर भी, कीमतों के किसी विशेष क्षेत्र में, वास्तविक आय के पुनर्वितरण में मार्किट का माँग वक्र ऊपर को ढालू पाया जाता है।

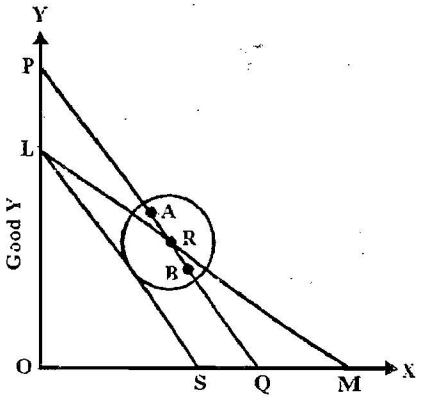

चित्र-8

(4) इस मान्यता की भी आलोचना की गई है कि "चुनाव अधिमान को प्रकट करता है।" चुनाव विचारशील उपभोक्ता व्यवहार की अपेक्षा रखता है, क्योंकि एक उपभोक्ता हर समय विचारशीलता से काम नहीं करता, इसलिए हो सकता है कि वस्तुओं के एक विशेष संयोग का चुनाव उसके प्रति उपभोक्ता के अधिमान को प्रकट न करे।

(5) यह मान्यता कि उपभोक्ता दी हुई कीमत-आय स्थिति पर केवल एक ही संयोग चुनता है, गलत है। इसका मतलब है कि उपभोक्ता दोनों वस्तुओं में से थोड़ा-थोड़ा चुनाव करता है। परन्तु ऐसा बहुत कम होता है कि कोई भी व्यक्ति हर वस्तु का थोड़ा-थोड़ा भाग खरीदे।

(6) सेम्युलसन का प्रकटित अधिमान सिद्धान्त **गिफ्फन** के विरोधाभास का हल नहीं देता है, क्योंकि यह केवल माँग की धनात्मक आय-लोच पर विचार करता है, जबकि गिफ्फन विरोधाभास का ऋणात्मक आय-लोच से सम्बन्ध है। मार्शल के माँग के सिद्धान्त की भाँति, सेम्युलसन का प्रमेय भी इन दो में भेद नहीं कर पाता।

(7) सेम्युलसन का आधारभूत प्रमेय शर्त बंद है, सामान्य नहीं। यह इस तथ्य पर आधारित है कि धनात्मक आय-लोच में ऋणात्मक आय-लोच निहित है। क्योंकि कीमत-प्रभाव आय तथा स्थानापन्नता-प्रभावों के मेल से बनता है, इसलिए निरीक्षण के स्तर पर स्थानापन्नता-प्रभाव को आय-प्रभाव से अलग नहीं किया जा सकता।

(8) **प्रोफेसर हिक्स** के अनुसार क्योंकि प्रकटित अधिमान सिद्धान्त **सशक्त आदेश** पर आधारित है, इसलिए यह मान सकना संभव नहीं कि "वे सब रेखागणितीय बिन्दु, जो त्रिभुज के अन्दर या ऊपर स्थित हों, प्रभावशाली विकल्पों को व्यक्त करें। एक द्वि-आयाम संतति (two-dimensional continuum) का सशक्त आदेश संभव नहीं। इसलिए

हमारे पास यह मान लेने के सिवाय कोई चारा नहीं कि वस्तुएँ केवल अलग-अलग इकाइयों में मिलती हैं, इसलिए चित्र को केवल वर्ग-पत्र पर ही खींचने का विचार किया जा सकता है और प्रभावशाली-विकल्प वर्गों के कोनों पर ही स्थित हो सकते हैं। स्वयं बिन्दु R भी स्पष्ट रूप से वर्ग कोण पर ही स्थित होगा।"

(9) यह उपभोक्ता के व्यवहार में 'उदासीनता' की एकदम उपेक्षा करता है। यह तो ठीक है कि जब उपभोक्ता वस्तुओं के एक संयोग का बिन्दु R पर चुनाव करता है तो वह कीमत-आय रेखा पर या अंदर किसी एक-मूल्य वाले माँग फलन के द्वारा अपनी उदासीनता को प्रकट नहीं करता। परन्तु यह संभव है कि चित्र 8 में दिए हुए बिन्दु में R के हर तरफ ऐसे बिन्दु हों जैसे A तथा B जिनके प्रति उपभोक्ता उदासीन रहता है जिन्हें वृत्त में दिखाया गया है। यदि आर्मस्ट्रांग (Armstrong) की इस आलोचना को स्वीकार कर लिया जाये तो सेम्युलसन का 'आधारभूत प्रमेय' ही समाप्त हो जाता है। मान लीजिए कि X की कीमत बढ़ जाती है और उपभोक्ता की नई बजट रेखा LS हो जाती है। अब उसे कुछ अतिरिक्त मुद्रा दीजिए ताकि वह मूल संयोग R को रेखा PQ पर खरीद सके। इस नई कीमत-आय स्थिति में वह मान लो कि R से नीचे B बिन्दु को चुनता है। ऐसा इसलिए कि आर्मस्ट्रांग यह मानता है कि उपभोक्ता चुने हुए बिन्दु के इर्दगिर्द बिन्दुओं के प्रति उदासीन है। परन्तु PQ कीमत-आय स्थिति में B के चुनाव से मतलब है कि उपभोक्ता X की अधिक मात्रा खरीदता है जब उसकी कीमत बढ़ती है। इससे सेम्युलसन का आधारभूत प्रमेय समाप्त हो जाता है क्योंकि X की कीमत बढ़ने से इसकी माँग संकुचित होने के बजाय विस्तृत हुई है।

2.8 सारांश

आर्थिक विश्लेषण के विभिन्न क्षेत्रों में माँग की लोच का अत्यधिक महत्व एवं उपयोग है। माँग की लोच के विभिन्न प्रकार जैसे आय लोच, माँग की आड़ी लोच, माँग की कीमत लोच विभिन्न विश्लेषणों में महत्वपूर्ण हैं। उपभोक्ता पसंद सिद्धांत उपभोक्ता के उन बिन्दुओं को उजागर करता है। जो उसे निर्णय लेने में सहायक होता है। व्यावसायिक निर्णय उपभोक्ता के पसंद सिद्धान्त पर आधारित होते हैं। मार्शल ने उपभोक्ता के व्यवहार विश्लेषण को मुद्रा के मापदण्ड से मापकर गणनावाचक रूप दिया। मार्शल के इस विचार से प्रो. जे.आर. हिक्स, प्रो. ऐलन आदि आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने कठोर अलोचना की और उपभोक्ता व्यवहार का विश्लेषण करने के लिए क्रमवाचक दृष्टिकोण अपनाते हुए उदासीनता वक्रों की धारणा दी।

2.9 शब्दावली

उदासीनता विश्लेषण माँग, लोच, उपयोगिता, विश्लेषण, पूरक वस्तुएँ।

बोध प्रश्न

1. माँग की लोच से आप क्या समझते हैं माँग की मूल्य लोच के विभिन्न प्रकारों को समझाइये।

.....

.....

.....

.....

2. उदासीन वक्रों से आप क्या समझते हैं। इन वक्रों की सहायता से उपभोक्ता के साम्य की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

3. प्रकट अधिमान सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा करें।

.....

.....

.....

NOTES

2.10 अभ्यास प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. माँग का नियम क्या है ? चित्रों की सहायता से विवेचना कीजिए।
   What is the law of Demand? Explain it with the help of diagrams.
2. माँग की लोच से आप क्या समझते हैं ? माँग की मूल्य लोच के विभिन्न प्रकारों को समझाइये।
   What do you understand by elasticity of demand? Explain the different types of price elasticity.
3. माँग की आय लोच का अर्थ बताइये। इसके वर्गीकरण को समझाइये।
   Explain the elasticity of Income. Discuss its classification.
4. माँग की आड़ी लोच क्या है ? स्थानापन्न एवं पूरक वस्तुओं की माँग की आड़ी लोच की विवेचना कीजिए।
   What is cross elasticity of demand? Discuss the cross elasticity of demand of substitute and complementary goods.
5. उदासीनता वक्र क्या है ? इनकी तकनीक की व्याख्या कीजिये।
   What is indifference curve? Discuss its technique.
6. सीमान्त प्रतिस्थापन दर क्या है ? घटती हुई सीमान्त प्रतिस्थापन दर के सिद्धान्त को समझाइये।
   What do you mean by marginal rate of substitution? Discuss the principle of diminishing marginal rate of substitution.
7. उदासीन वक्रों की विशेषताओं को विस्तार से समझाइये।
   Explain in detail the characteristics of indifference curves.
8. उपभोक्ता के साम्य से आप क्या समझते हैं ? उपभोक्ता के साम्य के कौन-कौन से आधार हैं ?
   What do you understand by consumer's equilibrium? What are the basis of consumer's equilibrium?
9. उदासीन वक्रों से आप क्या समझते हैं ? इन वक्रों की सहायता से उपभोक्ता के साम्य की व्याख्या कीजिए।
   What do you mean by indifference curve? Explain consumer's equilibrium with the help of there curves.
10. उपभोग सिद्धान्त के आधारभूत प्रमेय की विवेचना करें।
    Discuss Fundamental Theorem of Consumer Theory.
11. क्या सैम्युलसन का प्रकट अधिमान सिद्धान्त उदासीनता वक्र विश्लेषण से श्रेष्ठ है ? स्पट करें।
    Is Samuelson Theory of Revealed Preference an improvement over Hicksian Indifference Curve Analysis? Discuss.
    [संकेत : प्रकट अधिमान सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या करके निष्कर्ष दें कि यह हिक्स द्वारा प्रतिपादित उदासीनता वक्र विश्लेषण पर सुधार नहीं कहा जा सकता।]
12. प्रकट अधिमान तकनीक से उपभोक्ता का सन्तुलन स्पष्ट करें।
    Explain Consumer's Equilibrium with the help of Revealed Preference technique.
13. प्रकट अधिमान सिद्धान्त की आलोचनात्मक समीक्षा करें।
    Critically examine Revealed Preference Theory.
14. उपभोक्ता के व्यवहार के प्रकट अधिमान सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। इस सिद्धान्त की सहायता से माँग के नियम की व्युत्पत्ति कीजिए।
    Make an appraisal of Revealed Preference Theory. Derive the law of demand with this theory.

लघुउत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1 माँग में विस्तार एवं संकुचन ।

2. माँग की आय लोच को समझाइये ।

3. हीन वस्तुओं की आय लोच क्या है ?

4. माँग की आड़ी लोच को स्पष्ट कीजिए।

5. चयन की समस्या आर्थिक जीवन की आधारभूत समस्या है। समझाइये।

6. चयन का सिद्धान्त क्या है ?

7. उदासीनता वक्र क्या है ?

8. सीमान्त प्रतिस्थापन दर क्या है ?

9. उपभोक्ता के साम्य से आप क्या समझते हैं ?

10. 'सबल क्रम बद्धता' का अर्थ बतलाइए।

11. प्रकट अधिमान परिकल्पना क्या है ?

12. उपभोग सिद्धान्त का आधारभूत नियम क्या है ?

13. प्रकट अधिमान सिद्धान्त की मान्यताएँ क्या हैं ?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

निम्नलिखित प्रश्नों में दिये गये वैकल्पिक उत्तरों में से सही उत्तर छाँट कर लिखिए–

1. माँग की लोच होती हैं–
(अ) गुणात्मक कथन (ब) परिणात्मक कथन (स) दोनों ही (द) दोनों ही नहीं

2. जब किसी वस्तु की कीमत में 20% वृद्धि होने पर माँग में केवल 5% की कमी होती है तब माँग की लोच होगी–
(अ) इकाई से कम (ब) इकाई से अधिक (स) इकाई के बराबर (द) शून्य

3. हीन वस्तुओं की माँग की लोच किस प्रकार की होती है–
(अ) ऋणात्मक (ब) धनात्मक (स) शून्य (द) अनन्त

4. पूरक वस्तुओं की माँग की आड़ी लोच किस प्रकार की होती है–
(अ) ऋणात्मक (ब) धनात्मक (स) शून्य (द) अनन्त

5. यदि दो वस्तुओं में से किसी एक के मूल्य में कमी होती है तब कौन- सा प्रभाव पड़ता है ?
(अ) आय प्रभाव (ब) प्रतिस्थापन प्रभाव
(स) आय एवं प्रतिस्थापन प्रभाव दोनों (द) कोई प्रभाव नहीं पड़ता

6. उदासीन वक्र से माँग वक्र निकालने वाली रेखा को कहते हैं-
(अ) कीमत वक्र (ब) कीमत उपयोग वक्र (स) आय वक्र (द) कीमत आय वक्र

7. उदासीनता वक्रों को उत्पादन के क्षेत्र में कहते हैं-
(अ) उत्पादन वक्र (ब) समोत्पादन वक्र (स) आय उत्पादन वक्र (द) उपरोक्त सभी।

8. उदासीनता वक्र विश्लेषण का यह दोष है कि यह–
(अ) जटिल प्रणाली है (ब) गलत मान्यताएँ हैं
(स) दुर्बल क्रमबद्धता है (द) उपरोक्त सभी।

9. उपभोक्ता के साम्य की मान्यता है-
(अ) उपभोक्ता विवेकशील रहता है (ब) कीमतों में परिवर्तन होता है
(स) उपभोक्ता को कीमत ज्ञात नहीं रहती (ब) उपरोक्त सभी

NOTES

NOTES

10. कीमत गिरने पर उपभोक्ता की-

(अ) मौद्रिक आय बढ़ती है (ब) वास्तविक आय कम हो जाती है

(स) वास्तविक आय स्थिर रहती है (द) उपरोक्त सभी गलत।

11. गिफिन के अनुसार कीमत कम होने पर उन वस्तुओं को खरीदता है जो–

(अ) श्रेष्ठ होती हैं (ब) घटिया होती हैं

(स) साधारण होती हैं (द) विलासिता की होती हैं

12. उदासीनता वक्र विश्लेषण किस दृष्टिकोण पर आधारित है-

(अ) मनोवैज्ञानिक (ब) गणदाचक (स) क्रमवाचक (द) काल्पनिक

13. एक उदासीनता वक्र के सभी बिन्दु क्या दर्शाते हैं-

(अ) अधिकतम सन्तुष्टि (ब) न्यूनतम सन्तुष्टि

(स) समान सन्तुष्टि (द) सन्तुष्टि का वह स्तर जो उपभोक्ता की सामर्थ्य में है

14. उपभोक्ता के साम्य की दशा में सीमान्त प्रतिस्थापन की दर किस प्रकार की रहती है ?

(अ) घटती हुई (ब) बढ़ती हुई (स) स्थिर (द) उपरोक्त सभी।

15. प्रकट अधिमान सिद्धान्त के प्रतिपादक थे –

(अ) रॉबर्टसन (ब) सैम्युलसन (स) आर्मस्ट्रांग (द) मार्शल

16. प्रकट अधिमान सिद्धान्त का आधार है –

(अ) निर्बल क्रमबद्धता (ब) सबल क्रमबद्धता

(स) उपर्युक्त दोनों सत्य (द) उपर्युक्त दोनों असत्य

17. प्रकट अधिमान सिद्धान्त व्यक्त किया जा सकता है–

(अ) दृढ़ क्रम-स्थापन (Strong ordering) तथा शाब्दिक (Lexicographic) अधिमान पेटर्न

(ब) विवेकपूर्णता, सुसंगति एवं संक्रामिता (Rationality , Consistency and Transivity)

(स) विवेकपूर्णता एवं दुर्बल क्रम-स्थापना (Rationality and Weak ordering)

(स) संक्रामिता एवं दुर्बल क्रम-स्थापना (Transivity and Weak ordering)

18. प्रकटित अधिमान उपागम का वर्णन इस रूप में कर सकते हैं–

(अ) दृढ़ क्रम स्थापन (ब) विवेकपूर्णतया, सुसंगति तथा संक्रामिता

(स) विवेकपूर्णता तथा दुर्बल क्रम-स्थापना (द) संक्रामिता तथा दुर्बल क्रम-स्थापन

19. प्रकट अधिमान पर आधारित सैम्युलसन की माँग प्रमेय दर्शाती है –

(अ) धनात्मक आय लोच एवं ऋणात्मक कीमत लोच

(ब) ऋणात्मक आय लोच एवं धनात्मक कीमत लोच

(स) धनात्मक आय लोच एवं धनात्मक कीमत लोच

(द) ऋणात्मक आय लोच एवं ऋणात्मक कीमत लोच

उत्तर– 1. (ब), 2. (अ), 3. (अ), 4. (अ), 5. (स), 6. (ब), 7. (ब), 8. (द), 9. (अ), 10. (अ), 11. (अ), 12. (स), 13. (स), 14. (अ), 15. (ब), 16. (ब), 17. (अ), 18. (अ), 19. (अ)

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

डॉ. एस.सी. जैन, प्रबंधकीय अर्थशास्त्र–कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल

अध्याय–3 उत्पादन-प्रकार्य (फलन)

(PRODUCTION FUNCTION)

NOTES

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 उत्पादन प्रकार्य की परिभाषा

3.2.1 उत्पादन फलन की मान्यताएँ

3.2.2 उत्पादन फलन का स्वरूप

3.3 परिवर्तनशील अनुपात का नियम

3.4 पैमान का प्रतिफल

3.5 सारांश

3.6 शब्दावली

3.7 अभ्यास प्रश्न

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

3.0 उद्देश्य

इकाई का उद्देश्य है–

1. उत्पादन-प्रकार्य का अर्थ एवं इसकी विशेषताएँ समझना।
2. परिवर्तनशील अनुपात नियम एवं इसकी उपयोगिता का अध्ययन।
3. पैमाने का प्रतिफल, इसके विभिन्न चरण एवं प्रबंधकीय अर्थशास्त्र में इसकी उपयोगिता को समझना।

3.1 प्रस्तावना

फलन गणित का शब्द है। जब यह कहा जाता है कि y फलन X का है तो इसका अभिप्राय यह है कि y निर्भर करता X पर है, अर्थात् X का मूल्य प्रदान करने पर y के मूल्य को ज्ञात किया जा सकता है। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों के पारस्परिक संयोग के आधार पर वस्तु का उत्पादन सम्भव हो पाता है। जिन साधनों द्वारा उत्पादन किया जाता है उसे पड़त (Input) तथा जिस वस्तु का उत्पादन किया जाता है उसे उत्पाद (Output) कहते हैं। **किसी भी फर्म के पड़तों एवं उत्पादों के मध्य के सम्बन्ध को उत्पादन-प्रकार्य कहा जाता है।** उत्पादन प्रकार्य में इस बात को स्पष्ट किया जाता है कि निश्चित तकनीकी ज्ञान एवं प्रबन्ध-योग्यता की सहायता से उत्पादक पड़तों के विभिन्न संयोग से किस प्रकार अधिकतम उत्पादन प्राप्त कर सकते हैं। **अतः उत्पादन सम्भावनाओं की सूची को उत्पादन-फलन कहा जाता है।**

उत्पत्ति के नियम द्वारा अदा एवं प्रदा के मध्य कार्यात्मक सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। गणित में कार्य से आशय अनेक चरों के मध्य विद्यमान सम्बंधों से है, जबकि एक चर का मूल्य दूसरे चर के मूल्य पर निर्भर करता है।

3.2 परिभाषाएँ

उत्पादन-प्रकार्य की मुख्य परिभाषाएँ निम्न हैं –

(1) **सेम्युलसन** – "उत्पादन-फलन वह प्राविधिक सम्बन्ध है जिसमें पड़तों के समूह द्वारा कितना उत्पादन किया जाता है, यह बताया जाता है। यह किसी दी हुई प्राविधिक ज्ञान की स्थिति को स्पष्ट करता है।"

(2) **प्रो. लेफ्टविच** – "उत्पादन-फलन उस भौतिक शब्द का बोध कराता है जो एक फर्म के उत्पत्ति के साधनों की इकाइयों एवं प्रति इकाई समयानुसार प्राप्त वस्तुओं व सेवाओं के मध्य पाया जाता है।"

NOTES

(3) **प्रो. साइट्वस्की** – "उत्पत्ति के साधनों का फलन ही किसी फर्म का उत्पादन है और गणितीय रूप में उसे उत्पादन-प्रकार्य कहते हैं।"

(4) **प्रो. वाटसन** – "किसी भी फर्म की भौतिक पड़तों एवं भौतिक उत्पादन के मध्य के सम्बन्ध को ही उत्पादन-फलन कहा जाता है।"

समीकरण – $P = F (A, B, C, D .....)$

यहाँ पर, P = उत्पत्ति की मात्रा, F = प्रवाह,

A, B, C, D = प्रति इकाई उत्पादन के साधन।

अतः स्पष्ट है कि कुल उत्पादन, उत्पादन साधनों (A, B, C, D) की मात्रा पर निर्भर करता है। इस प्रकार उत्पादन (P) परतन्त्र है तथा A, B, C, D साधन स्वाधीन चर हैं।

उत्पादन फलन को सदैव समयावधि से जोड़ा जाता है। यदि किसी समय में किसी कारखाने में प्रति 8 घण्टे की पारी में 100 कुर्सियों का निर्माण किया जाता हो, तो यह कहा जा सकता है कि कुर्सी बनाने वाले कारखाने के उत्पादन-फलन से अभिप्राय कुर्सियों की उन अधिकतम संख्याओं से है, जिनका उत्पादन लकड़ी, यन्त्र, समय, श्रम आदि की दी गई मात्राओं से किया जा सकता है। **प्रो. वाटसन** का मत है कि "उत्पादन-फलन साधनों का वह प्रवाह है जिससे निश्चित समयावधि में उत्पादन का प्रवाह उत्पन्न होता है।"

उत्पादन-प्रकार्य को निम्न उदाहरण से समझ सकते हैं :-

उपर्युक्त तालिका में पड़ी रेखा पर श्रम तथा खड़ी रेखा पर पूँजी को दिखाया गया है। चित्र-1 से स्पष्ट है कि श्रम व पूँजी के एक-एक इकाई के संयोजन से X वस्तु की 120 इकाइयाँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार दोनों साधनों के सात-सात इकाइयों के संयोजन से 790 वस्तुयें उत्पादित की जाती हैं। इसी प्रकार श्रम की 1 इकाई व पूँजी की 7 इकाइयों के संयोग से 900 वस्तुओं का उत्पादन किया जा सकता है। अतः उत्पादन-प्रकार्य श्रम व पूँजी के विभिन्न संयोजनों से प्राप्त होने वाला अधिकतम उत्पादन बताता है।

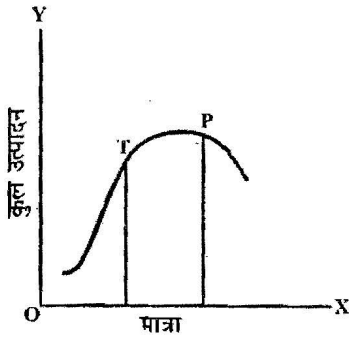

चित्र - 1

इस चार्ट की सहायता से हम वांछित उत्पादन प्राप्त करने हेतु यह ज्ञात कर सकते हैं कि श्रम व पूँजी की कितनी इकाइयों का संयोग स्थापित करना होगा। उदाहरणार्थ 706 इकाइयों का उत्पादन करने हेतु श्रम की 5 एवं पूँजी की 5 इकाइयों का प्रयोग करना होगा। इस प्रकार उत्पत्ति के साधनों के विभिन्न संयोग स्थापित करके उत्पादन फलन प्राप्त किया जा सकता है। यदि पड़तों के अनुपात में परिवर्तन किया जाए तो इसके लिए एक पड़त के बदले में दूसरे पड़त का प्रतिस्थापन करना होगा।

यह विभिन्न संयोग आर्थिक रूप से उस समय लाभकारी सिद्ध होंगे, जबकि निश्चित उपज की मात्रा कम से कम लागत पर प्राप्त की जाए। अतः उत्पत्ति के साधनों के मूल्य पर साधनों के विभिन्न संयोजन निर्भर करेंगे। यदि साधनों के सापेक्ष मूल्य में परिवर्तन हो जाता है तो फर्मों को अपने पड़त अनुपात में भी परिवर्तन करना होगा। उदाहरणार्थ यदि कोई फर्म 492 इकाइयाँ उत्पन्न करना चाहती है तो वह श्रम व पूँजी के निम्न संयोगों में से कोई भी एक संयोग का चुनाव करेगा जो कि पड़तों की इकाइयों के सापेक्ष मूल्य पर निर्भर करेगा। इसे निम्न प्रकार रख सकते हैं :-

न्यूनतम लागत संयोग
(X वस्तु की 492 इकाई प्राप्त करने हेतु)

श्रम व पूँजी	प्रथम स्थिति श्रम = 5 रु., पूँजी = 8 रु.	द्वितीय स्थिति श्रम = 5 रु., पूँजी = 6 रु.
4 + 3	20 + 24 = 44	20 + 18 = 38
1 + 7	5 + 56 = 61	5 + 42 = 47
2 + 6	10 + 48 = 58	10 + 36 = 46
3 + 5	15 + 40 = 55	15 + 30 = 45
6 + 2	30 + 16 = 46	30 + 12 = 42

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट है कि प्रथम स्थिति में यदि श्रम का मूल्य 5 रु. व पूँजी का मूल्य 8 रु. प्रति इकाई हो तो 4 श्रम व 3 पूँजी के संयोग से ही न्यूनतम लागत 44 रु. आती है। इसी प्रकार द्वितीय स्थिति में जबकि श्रम का मूल्य 5 रु. प्रति इकाई तथा पूँजी का मूल्य 6 रु. प्रति इकाई हो, तो 4 श्रम व 3 पूँजी की इकाइयों के संयोग से ही न्यूनतम लागत 38 रु. व्यय होती है। यदि अन्य कोई संयोग चुनेंगे तो उसमें लागत व्यय बढ़ जाएगा।

उत्पादन- प्रकार्य में उत्पादन-पड़त के दो प्रकार के सम्बन्धों पर ध्यान दिया जाता है :-

(i) यदि उत्पत्ति के कुछ साधन स्थिर एवं कुछ साधन परिवर्तनशील हों।

(ii) यदि सभी साधन परिवर्तनशील हों तो उसका उत्पादन पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

प्रथम प्रकार को अल्पकालीन एवं द्वितीय प्रकार को दीर्घकालीन उत्पादन-फलन कहते हैं।

3.2.1 उत्पादन फलन की मान्यताएँ (Assumption of Production Function)

उत्पादन फलन निम्न मान्यताओं पर आधारित है :-

(i) **विशिष्ट अवधि** :- यह एक विशिष्ट अवधि से सम्बन्धित होता है।

(ii) **तकनीकी ज्ञान** :- यह माना जाता है कि तकनीकी ज्ञान की स्थिति में कोई भी परिवर्तन नहीं होता है।

(iii) **कुशल तकनीक का उपयोग** :- यह माना गया है कि फर्म द्वारा सर्वोत्तम व उत्तम तकनीक का प्रयोग किया जा रहा है।

(iv) **उत्पत्ति के घटक** :- यह माना गया है कि उत्पत्ति के घटक विभाजन योग्य हैं।

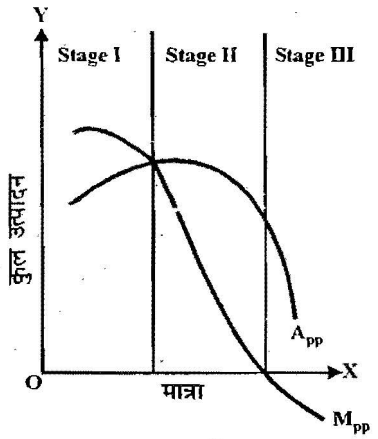

चित्र - 2

उत्पादन-फलन की विशेषताएँ (Characteristics of a Production Function)

उत्पादन फलन की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं :-

(1) उत्पादन फलन साधनों की भौतिक मात्रा एवं उत्पादन की भौतिक मात्रा में सम्बन्ध को प्रदर्शित करता है।

(2) उत्पादन फलन को दी हुई तकनीकी ज्ञान की स्थिति के सन्दर्भ में परिभाषित किया जा सकता है।

(3) एक ही फलन के अन्दर साधनों को एक-दूसरे के स्थान पर एक या अधिक मात्रा में प्रतिस्थापित किया जा सकता है।

(4) उत्पादन फलन का अध्ययन अल्पकाल में ही करते हैं, क्योंकि अल्पकाल में कुछ साधन सीमित रहते हैं।

(5) फलन में कुछ साधनों को स्थिर तथा दो साधनों को परिवर्तनीय रखकर भी अध्ययन किया जा सकता है।

(6) उत्पादन फलन में भी साधन परिवर्तनशील तथा कोई भी साधन स्थिर नहीं हो सकता है।

(7) फलन के स्वभाव को जानने हेतु यह आवश्यक है कि उत्पादन में परिवर्तन करने हेतु साधनों की मात्राओं में कितना परिवर्तन करें।

(8) उत्पादन फलन एक दिए हुए समय या प्रति इकाई समय के सन्दर्भ में रहता है।

NOTES

(9) उत्पादन फलन उत्पादित वस्तु की कीमत तथा साधनों की कीमतों से पूर्णतया स्वतन्त्र होता है।

अर्थशास्त्रियों ने सांख्यिकीय विधियों की सहायता से पड़तों एवं उत्पादन के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन किया है, जिनमें कॉब-उगलस उत्पादन प्रकार्य तथा स्थानापत्ति सीमा उत्पादन प्रकार्य (Constant elasticity of Substitution production function) विशेष उल्लेखनीय हैं।

3.3.2 उत्पादन-फलन का स्वरूप (Form of Production Function)

यदि इस स्थिति को चित्र द्वारा दिखावें, तो बायें से दायें को गिरती हुई एक रेखा प्राप्त होगी जिसे सम-उत्पाद रेखा कहा जाता है। यदि रेखा समान उत्पादन को प्रदर्शित करती है जो दो साधनों के विभिन्न संयोगों द्वारा प्राप्त होता है। इसी प्रकार द्वितीय स्थिति को चित्र द्वारा प्रदर्शित करें, तो दूसरी 'सम-उत्पाद रेखा' प्राप्त होगी जो उत्पादन के दूसरे 'समान स्तर' को प्रदर्शित करती है। दो परिवर्तनशील साधनों वाले उत्पादन फलन को सम-उत्पाद रेखाओं के परिवार के रूप में दिखाया जा सकता है। प्राविधिक ज्ञान की अवस्था किसी देश के उत्पादन-फलन के रूप को निर्धारित करती है। प्राविधिक स्तर में सुधार होने पर पुराना उत्पादन-फलन निरर्थक हो जाता है तथा नवीन उत्पादन-फलन प्राप्त हो जाता है। इस नवीन फलन में पुराने उत्पत्ति के साधनों के द्वारा ही अधिक उत्पादन प्राप्त होता है जिससे लागत प्रति इकाई कम हो जाती है। इसी प्रकार से कम पड़तों का उपयोग करके अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। अत: स्पष्ट है कि प्राविधिक ज्ञान का स्तर ही उत्पादन-फलन के स्वरूप को ही निर्धारित करता है। नवीन प्राविधिक का उपयोग करके ही अधिक उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है।

कॉब-डगलस उत्पादन फलन
(The Cobb-douglas Production Function)

कॉब-डगलस उत्पादन फलन पाल डगलस और सी.डी. कॉब द्वारा अमेरिकी निर्माणकारी उद्योग के आनुभविक अध्ययन पर आधारित है। यह रेखीय प्रथम कोटि का उत्पादन फलन है जो निर्माणकारी उद्योग के समस्त उत्पादन के लिए केवल दो आगतों, श्रम और पूँजी को लेता है। कॉब-डगलस उत्पादन फलन को इस प्रकार व्यक्त किया जाता है,

$$Q = AL^{\alpha} C^{\beta}$$

जहाँ Q उत्पादन है और L तथा C क्रमश: श्रम और पूँजी की आगतें हैं। A, α और β धनात्मक प्राचल हैं, जहाँ $\alpha > 0, \beta > 0$

समीकरण बताता है कि उत्पादन सीधे तौर से L और C पर निर्भर करता है और उत्पादन का वह भाग जिसकी व्याख्या L और C द्वारा नहीं की जा सकती, उसकी A द्वारा व्याख्या की जाती है जो 'अवशेष' (residual) है जिसे प्राय: तकनीकी परिवर्तन कहा जाता है।

जो उत्पादन फलन कॉब-डगलस ने हल किया उसमें निर्माणकारी उद्योग की वृद्धि में श्रम का भाग $\frac{3}{4}$ और पूँजी का भाग $\frac{1}{4}$ था, जिससे $C - D$ उत्पादन फलन है,

$$Q = AL^{3/4} C^{1/4}$$

जो पैमाने के स्थिर प्रतिफल दर्शाता है क्योंकि L और C के मूल्यों का जोड़ $(\frac{3}{4} + \frac{1}{4})$ एक के बराबर है, अर्थात् $(\alpha + \beta = 1)$.

$C - D$ फलन में श्रम का गुणांक (Coefficient) α उत्पादन (Q) में प्रतिशतता वृद्धि को मापता है, जो C को स्थिर रखकर, L में एक प्रतिशत वृद्धि से होती है। इसी प्रकार, β उत्पादन में वृद्धि प्रतिशतता है जो C में एक प्रतिशत से होती है, L को स्थिर रखकर।

पैमाने के स्थिर प्रतिफल को दर्शाता $C - D$ उत्पादन फलन चित्र 1 में दिखाया गया है। श्रम आगत को समानान्तर अक्ष पर और पूँजी को अनुलम्ब अक्ष पर लिया गया है। उत्पादन की 100 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए पूँजी की $O\ G$ इकाइयों और श्रम की OL_1 इकाइयों का प्रयोग किया गया है। यदि उत्पादन को बढ़ाकर 200 इकाइयाँ करना हो तो पूँजी एवं श्रम की दुगुनी आगतों की

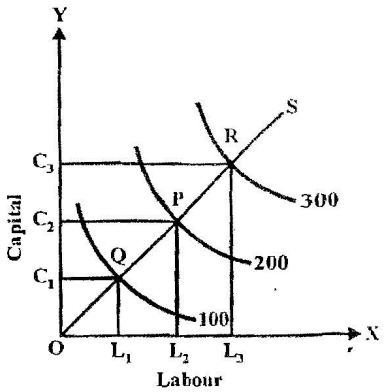

चित्र 1

आवश्यकता पड़ेगी। $OC2$ बिलकुल OC_1 का दुगुना है तथा OL_2 दुगुना है OL_1 का। इसी प्रकार उत्पादन की 300 इकाइयाँ उत्पादित करने के लिए, श्रम तथा पूँजी की इकाइयाँ पहले उत्पादन 100 से तीन गुणा होंगी। OC_3 और OL_3 क्रमशः OC_1 तथा OL_1 से तिगुनी है।

इसके वर्णन करने का अन्य तरीका यह है कि विस्तार पथ लिया जाए जो Q, P, R सन्तुलन बिन्दुओं को एक रेखा द्वारा मिलाए। OS ऐसी माप-रेखा है। यह बताती है कि सममात्रा-वक्र 100, 200 तथा 300 एक-दूसरे से सम-अन्तर पर हैं। अतः विस्तार पथ OS पर $OQ = QP = PR$, जो यह दर्शाता है कि जब पूँजी एवं श्रम आगतों को कुछ मात्राओं में बढ़ाया जाए तो उत्पादन भी उसी अनुपात में बढ़ता है।

$C-D$ उत्पादन फलन की विशेषताएँ
(Properties of C-D Production Function)

$C-D$ उत्पादन फलन की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं–

(1) **L और C से संबंधित α और β उत्पादन लोचें हैं** (α and β are Output Elasticities with respect to L and C) – $C-D$ उत्पादन फलन में, C को स्थिर मानते हुए, L से संबंधित α उत्पादन (Q) की आंशिक लोच है; और L को स्थिर मानते हुए, C से संबंधित β उत्पादन (Q) की आंशिक लोच है। अतः L और C से संबंधित α और β इकट्ठे उत्पादन की लोच को मापते हैं।

(2) **गुणात्मक फलन** (Multiplicative Function) – $C-D$ उत्पादन फलन गुणात्मक फलन है। इसका अर्थ है कि यदि एक आगत का मूल्य शून्य है, तो उत्पादन भी शून्य होगा।

(3) **उत्पादन की दक्षता** (The Efficiency of Production) – $C-D$ उत्पादन फलन में A गुणांक उत्पादन के साधनों के संगठन में दक्षता को मापने में सहायता करता है। यदि दो फर्मों के α, β, L और C समान हैं, परन्तु वे वस्तु की विभिन्न मात्राएँ उत्पादित करती हैं, तो दूसरी फर्म की अपेक्षा यह अन्तर अधिक दक्ष फर्म के बेहतर संगठन के कारण हो सकता है।

(4) **साधन गहनता** (Factor Intensity) – $C-D$ उत्पादन फलन में; $\frac{\alpha}{\beta}$ अनुपात साधन गहनता को मापता है।

(5) **आइलर प्रमेय** (Euler's Theorem) – वितरण पर आइलर प्रमेय की व्यवहार्यता $C-D$ उत्पादन फलन की एक महत्वपूर्ण विशेषता है। यदि उत्पादन फलन $Q = f(C, L)$ एक कोटि का समरूप है, तो आइलर प्रमेय के अनुसार

$$Q = \frac{\partial Q}{\partial C} C + \frac{\partial Q}{\partial L} L$$

जहाँ $\frac{\partial Q}{\partial C}$ पूँजी का सीमांत उत्पाद है और $\frac{\partial Q}{\partial L}$ श्रम का सीमांत उत्पाद है। $\frac{\partial Q}{\partial C.C}$ कुल उत्पाद Q में पूँजी का हिस्सा है और $\frac{\partial Q}{\partial L.L}$ कुल उत्पाद Q में श्रम का हिस्सा। सिद्ध करने के लिए, मान लीजिए

$$Q = f(CL) = AC^{\alpha} L^{\beta} \qquad [A, \alpha \text{ and } \beta \text{ are constants}]$$

$$\frac{\partial Q}{\partial C} = A \alpha C^{\alpha - 1} L^{\beta}$$

$$\frac{\partial Q}{\partial L} = AC^{\alpha} \beta L^{\beta - 1}$$

$$\frac{\partial Q}{\partial C} + \frac{\partial Q}{\partial L} L = C (A \alpha C^{\alpha - 1} L^{\beta}) + L (AC^{\alpha} \beta L^{\beta - 1})$$

$$= A \alpha C^{\alpha} L^{\beta} + AC^{\alpha} \beta L^{\beta}$$

$$= AC^{\alpha} L^{\beta} (\alpha + \beta)$$

$$= Q (\alpha + \beta) \qquad [\because Q = AC^{\alpha} L^{\beta}]$$

अतः $$\frac{\partial Q}{\partial C} C + \frac{\partial Q}{\partial L} L = (\alpha + \beta) Q$$

NOTES

क्योंकि $C-D$ उत्पादन फलन $\alpha + \beta = 1$ है, सभी साधनों का पारितोषक $(\alpha + \beta)\ Q = Q$ होने पर, कुल उत्पादन पूरी तरह से खप जाता है।

(6) **साधन स्थानापन्नता की लोच** (The Elasticity of Factor Substitution) – $C - D$ उत्पादन फलन की साधन स्थानापन्नता की लोच एक के बराबर है।

इसका प्रमाण (Its Proof) : C और L के बीच स्थानापन्नता की लोच (es) परिभाषित की गई है,

$$es = \frac{d\,(C/L)/(C/L)}{d\,(MRS)/(MRS)}$$

(7) में दिए गए MRS_{LC} के मूल्य स्थानापन्न करके,

$$es = \frac{d\,(C/L)/(C/L)}{d\left(\frac{\alpha}{\beta}\cdot\frac{C}{L}\right)/\left(\frac{\alpha}{\beta}\cdot\frac{C}{L}\right)}$$

क्योंकि $\frac{\alpha}{\beta}$ स्थिर है, यह अवकलज (derivate) को प्रभावित नहीं करता है जिससे

$$es = \frac{d\left(\frac{C}{L}\right)\left(\frac{\alpha}{\beta}\right)}{\left(\frac{\alpha}{\beta}\right)\cdot d\left(\frac{C}{L}\right)} = 1$$

जब स्थानापन्नता की लोच इकाई है, तो उत्पादन फलन एक कोटि का समरूप है, अर्थात् पैमाने के स्थिर प्रतिफल हैं। चित्र 1 में TS वक्र पर बिन्दु L जो मूल 0 से 45° पर है स्थानापन्नता की इकाई लोच व्यक्त करता है जहाँ $MRTS$ में एक दिया हुआ प्रतिशत परिवर्तन पूँजी-श्रम अनुपात $(\frac{C}{L})$ में समान अनुपातिक परिवर्तन लाता है।

(7) **पूँजी और श्रम के बीच स्थानापन्नता की सीमांत दर** MRS_{LC} (The Marginal Rate of Substitution between C &L) -- MRS_{LC} को $C - D$ उत्पादन फलन से व्युत्पन्न किया जा सकता है,

$$MRS_{LC} = \frac{\partial Q/\partial L}{\partial Q/\partial C} = \frac{\alpha\,(Q/L)}{\beta\,(Q/C)} = \frac{\alpha}{\beta}\cdot\frac{C}{L}$$

(8) **साधनों का औसत उत्पाद और सीमांत उत्पाद** (AP and MP of Factors) – $C - D$ उत्पादन फलन बताता है कि साधनों का AP और MP साधनों के अनुपात का फलन है। श्रम के MP को $C - D$ उत्पादन फलन से व्युत्पन्न किया जा सकता है :

$$MP_L = \frac{\partial Q}{\partial L} = \alpha AL^{\alpha-1}C^{\beta}$$

$$= \alpha\,(AL^{\alpha}C^{\beta})\,L^{-1} = \alpha\,QL^{-1}$$

$$= \alpha\cdot\frac{Q}{L} = \alpha\,(AP_L) \qquad [\because Q = AL^{\alpha}C^{\beta}]$$

जहाँ AP_L श्रम का औसत उत्पाद है।

क्योंकि $C - D$ उत्पादन फलन स्थिर मूल्य मानती है, $AP_L = f(\frac{C}{L})$. इसका मतलब है कि जितनी देर तक $\frac{C}{L}$ स्थिर रहता है, AP_L वही रहता है, चाहे उत्पादन में C और L की कितनी ही मात्राएँ प्रयोग की जाएँ। इसलिए, यही MP_L पर लागू होता है, क्योंकि $MP_L = \alpha\,(AP_L) = f(\frac{C}{L})$ इसी प्रकार, पूँजी के सीमांत उत्पादन (MP_C) के लिए,

$$MP_C = \frac{\partial Q}{\partial C} = \beta\,(AP_C) = f(\frac{C}{L})$$

(9) **पैमाने के स्थिर प्रतिफल** (Constant Returns to Scale) – $C - D$ फलन पैमाने के स्थिर प्रतिफल दर्शाती है। उसे सिद्ध करने के लिए, L और C की मात्राओं को n- गुणा करते हैं। तब बढ़ा हुआ उत्पादन Q^* होगा,

$$Q^* = A\,(nL)^{\alpha}\,(nC)^{\beta}$$

$$= n^{\alpha+\beta}\,(AL^{\alpha}C^{\beta})$$

$$= n^{\alpha+\beta} Q \qquad [Q = AL^{\alpha} C^{\beta}]$$

$$= nQ \qquad [\alpha + \beta = 1]$$

इस प्रकार मूल उत्पादन Q बढ़कर Q^* स्तर हो गया है, जब आगतों को गुणक n द्वारा बढ़ाया गया है। इसका अभिप्राय है कि जब आगतें n-गुणा बढ़ा दी जाती हैं, तो उत्पादन भी nQ जितना बढ़ता है। यह दर्शाता है कि $C-D$ फलन रेखीय और समरूप प्रथम कोटि का है $(\alpha + \beta = 1)$ क्योंकि $(\alpha + \beta)$ का मूल्य ≥ 1 या ≤ 1 भी हो सकता है, इसलिए $C-D$ फलन बताता है कि यदि $\alpha + \beta > 1$ तो पैमाने के प्रतिफल बढ़ रहे हैं, और यदि $\alpha + \beta < 1$, तो पैमाने के प्रतिफल घट रहे हैं।

NOTES

$C-D$ उत्पादन फलन की आलोचनाएँ
(Criticisms of C-D Production Function)

$C-D$ उत्पादन फलन की ऐरो, चेनेरी, मिनहास और सोलो द्वारा आलोचना की गई है।

(1) यह फलन साधन मार्किट में पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता पर आधारित है, जो अवास्तविक है।

(2) कॉब-डगलस फलन साधनों की स्थानापन्नता की मान्यता पर आधारित है और साधनों की पूरकता को शामिल नहीं करता है, क्योंकि साधनों की पूरकता अल्पकाल में संभव होती है, इसलिए वह फलन दीर्घकाल के लिए अधिक उपयुक्त है।

(3) कॉब-डगलस फलन की एक मुख्य कमी समूहन समस्या की है। यह समस्या उस समय पैदा होती है जब इस फलन को एक उद्योग में प्रत्येक फर्म पर तथा समस्त उद्योग पर लागू किया जाता है।

(4) कॉब-डगलस उत्पादन-फलन की आलोचना इस कारण की जाती है कि यह पैमाने के स्थिर प्रतिफल को प्रदर्शित करता है। पैमाने के स्थिर प्रतिफल वास्तविक नहीं हैं, पैमाने के बढ़ते प्रतिफल या घटते प्रतिफल उत्पादन में लागू होते हैं।

(5) $C-D$ उत्पादन फलन में, पूँजी के माप की समस्या उत्पन्न होती है क्योंकि यह केवल उत्पादन के लिए उपलब्ध पूँजी की मात्रा को लेता है। परन्तु उपलब्ध पूँजी का पूरा प्रयोग केवल पूर्ण रोजगार की अवधियों में ही किया जा सकता है।

(6) $C-D$ उत्पादन फलन केवल दो आगतों श्रम और पूँजी पर विचार करता है तथा कच्चे माल आदि अन्य महत्वपूर्ण आगतें जो उत्पादन में प्रयोग की जाती हैं उनकी उपेक्षा करता है। इसलिए फलन को दो से अधिक आगतों के लिए सामान्यीकरण करना संभव नहीं है।

निष्कर्ष – अतः निर्माणकारी उद्योग में कॉब-डगलस उत्पादन-फलन की व्यावहारिकता के बारे में संदेह किया जाता है। यह तो कृषि में भी लागू नहीं होता, जहाँ गहन खेती के लिए आगतों की मात्राएँ बढ़ाने से उत्पादन में अनुपात से अधिक वृद्धि होती है। फिर भी, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि पैमाने के स्थिर प्रतिफल किसी भी एक फर्म, उद्योग व अर्थव्यवस्था के जीवन में एक अवस्था होती है।

महत्व (Importance)

(1) अर्थशास्त्रियों ने इस फलन को दो से अधिक चरों पर भी फैलाया है।

(2) यह फलन रेखीय समरूप है जिसका मूल्य एक के बराबर लिया जाता है जो पैमाने के स्थिर प्रतिफल को व्यक्त करता है। यदि एक एक से अधिक हो तो पैमाने के बढ़ते प्रतिफल और यदि एक से कम हो तो पैमाने के घटते प्रतिफल पाए जाते हैं।

(3) इसके पैरामीटर α और β लोच-गुणांकों (elasticity coefficients) को लक्ष्य करते हैं जो अन्तः क्षेत्रक तुलनाओं में प्रयोग किए जाते हैं।

(4) आइलर प्रमेय को प्रमाणित करने के लिए इसका प्रयोग किया गया है।

(5) अर्थशास्त्रियों द्वारा कॉब-डगलस फलन, कुल उत्पादन में श्रम एवं पूँजी के सापेक्ष भागों को निर्धारित करने के लिए किया गया है।

(6) इन आलोचनाओं के बावजूद, $C-D$ फलन का निर्माणकारी उद्योगों और अतर-उद्योग तुलनाओं के आनुभविक अध्ययनों में विस्तृत प्रयोग किया गया है।

NOTES

3.4 परिवर्तनशील अनुपात का नियम (Law Of Variable Proportion)

उत्पादन विभिन्न उत्पत्ति के साधनों के सामूहिक प्रयत्नों का फल है। उत्पत्ति के चार आधारभूत साधन– भूमि, श्रम एवं साहस-परस्पर विभिन्न अनुपात में एकत्रित एवं कार्यशील होकर एक निश्चित उत्पादन देते हैं। **प्रो. लेफ्टविच** के शब्दों में "**उत्पादन फलन का अभिप्राय फर्म के उत्पत्ति साधनों और प्रति समय इकाई वस्तुओं और सेवाओं के बीच का भौतिक सम्बन्ध है, जबकि मूल्यों को छोड़ दिया जाए।**"

गणितीय रूप में

$$X = f(A, B, C, D)$$

जहाँ X फर्म के उत्पादन को तथा A, B, C तथा D विभिन्न उत्पत्ति के साधनों को प्रदर्शित कर रहे हैं। इस प्रकार फलन एक आर्थिक नहीं वरन् तकनीकी समस्या है। किसी फर्म का उत्पादन फलन उत्पादन तकनीक पर आधारित होता है। एक फर्म उस उत्पादन तकनीक का चुनाव करेगी जिसकी सहायता से वह अपने पास उपलब्ध उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण विदोहन करते हुए अपने उत्पादन को अधिकतम कर सके। "**उत्पादन फलन एक ऐसी सारणी पर आधारित है जो दी गई उत्पादन तकनीक के अन्तर्गत उत्पत्ति साधनों को एक निश्चित संयोग द्वारा प्रयोग करके प्राप्त होने वाले अधिकतम उत्पादन को प्रदर्शित करती है।**"

उत्पादन फलन में यदि स्थिर तथा दी गई तकनीक को सम्मिलित कर लिया जाए, तब

$$X = f[A, B, C, D, \overline{T}]$$

जहाँ $\overline{T}$ उपलब्ध तकनीक का सूचक है।

उत्पादन फलन की विशेषताएँ
(Characteristics of Production Function)

1. उत्पादन फलन उत्पत्ति साधनों की मात्रा एवं उनके द्वारा उत्पादित वस्तु मात्रा के भौतिक सम्बन्धों को दर्शाता है।
2. उत्पादन फलन का सम्बन्ध उत्पत्ति साधनों की कीमतों एवं उत्पादित वस्तुओं की कीमतों से नहीं होता।
3. उपादन फलन सम्बन्ध समय-अवधि से है। समयावधि के अनुसार उत्पत्ति साधनों की पूर्ति बदलती है जिसके कारण उत्पादन फलन के स्वरूप में परिवर्तन आ जाता है।
4. उत्पादन फलन के स्वरूप पर तकनीकी स्तर का सबल प्रभाव पड़ता है, किन्तु प्रत्येक उत्पादन फलन में सम्मिलित तकनीकी स्तर को स्थिर मान लिया जाता है।
5. उत्पादन फलन के उत्पत्ति साधनों में स्थानापन्नता (Substitution) का गुण विद्यमान होता है। एक ही उत्पादन मात्रा प्राप्त करने के लिए परिवर्तनशील साधनों के कई संयोगों का प्रयोग किया जा सकता है।

अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन उत्पादन फलन
(Short Run & Long Run Production Function)

उत्पादन फलन में **समय-तत्व** एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अल्पकालीन उत्पादन अवधि का अभिप्राय उस समयावधि से है जिसमें उत्पत्ति के सभी साधनों को परिवर्तित नहीं किया जा सकता। अल्पकाल में उत्पादन की सूक्ष्म समयावधि के कारण जिन उत्पत्ति के साधनों को परिवर्तित नहीं किया जा सकता उन्हें **स्थिर साधन** कहा जाता है। अल्पकाल में कुछ उत्पत्ति के साधन **परिवर्तनशील** हैं। अल्पकाल में उत्पादन के संयन्त्र अथवा **प्लाण्ट का** आकार अपरिवर्तित रहा है। इस प्रकार अल्पकालीन उत्पादन फलन में कुछ उत्पत्ति के साधन स्थिर हैं तथा कुछ परिवर्तनीय। इसके विपरीत, दीर्घकालीन उत्पादन अवधि का अभिप्राय उस लम्बी समयावधि से है जिसमें फर्म अपने उत्पादन-क्षेत्र में प्रयोग होने वाले सभी उत्पत्ति के साधनों को आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर सकती है। दीर्घकाल में उत्पत्ति का प्रत्येक साधन परिवर्तनीय होता है। दीर्घकालीन उत्पादन फलन में फर्म के पास उत्पत्ति के साधनों के चुनाव का पर्याप्त समय होता है और फर्म जिस रूप में चाहे, उत्पत्ति के साधन को परिवर्तित कर सकती है।

NOTES

अल्पकालीन उत्पादन फलन अथवा परिवर्तनशील अनुपात का नियम
(Short-Run Production Function Or Laws of Variable Proportion)

अल्पकाल का अभिप्राय उस समयावधि से है जिसमें उत्पत्ति के साधनों को परिवर्तित नहीं किया जा सकता। अल्पकाल में सूक्ष्म समयावधि के कारण जिन उत्पत्ति के साधनों को परिवर्तित नहीं किया जा सकता उन्हें स्थिर साधन कहा जाता है। अल्पकाल में उत्पादन के संयन्त्र अथवा प्लाण्ट का आकार अपरिवर्तित रहता है। इस प्रकार अल्पकालीन उत्पादन फलन में कुछ उत्पत्ति के साधन स्थिर होते हैं तथा कुछ परिवर्तनीय। परिवर्तशील साधनों में परिवर्तन करके उत्पादन स्तर में परिवर्तन किया जा सकता है।

अल्पकाल में जब एक फर्म उत्पत्ति के कुछ साधनों को स्थिर रखकर अन्य साधनों की मात्रा में परिवर्तन करती है तब उत्पादन की मात्रा में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें **'उत्पत्ति के नियम'** के नाम से जाना जाता है।

परिवर्तनशील अनुपात के नियम की व्याख्या निम्नलिखित बिन्दुओं की सहायता से की जा सकती है:

1. **कुल उत्पादकता** – किसी परिवर्तनशील साधन की निश्चित इकाइयों के अन्य स्थिर साधन इकाइयों के साथ प्रयोग से जो उत्पादन प्राप्त होता है, उसे कुल उत्पादकता कहते हैं। **कुल उत्पादकता मुख्यतः परिवर्तनशील साधन की मात्रा पर निर्भर करती है,**

अर्थात् $TP = f(TVF)$

जहाँ TVF = **कुल परिवर्तनशील साधन**

2. **औसत उत्पादकता** (Average Productivity or AP) – औसत उत्पादकता **विभिन्न उत्पादन स्तरों पर उत्पादन-साधन अनुपात** (Output-Input ratio) है।

दूसरे शब्दों में,

$$\text{औसत उत्पादकता } (AP) = \frac{\text{कुल उत्पादकता (TP)}}{\text{कुल परिवर्तनशील साधन (TVF)}}$$

3. **सीमान्त उत्पादकता** (Marginal Productivity or MP) – परिवर्तनशील साधन की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से, जबकि अन्य साधन स्थिर हैं कुल उत्पादन में जो वृद्धि होती है उसे उस साधन की सीमान्त उत्पादकता कहते हैं।

$$MP_n = TP_n - TP_{(n-1)}$$

जहाँ MP_n = n वें साधन की सीमान्त उत्पादकता

TP_n = n साधनों की कुल उत्पादकता

TP_{n-1} = $(n-1)$ साधनों की कुल उत्पादकता

परिवर्तनशील अनुपात नियम को कुल उत्पादकता (TP), औसत उत्पादकता (AP) तथा सीमान्त उत्पादकता (MP) की सहायता से तालिका तथा चित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

तालिका

स्थिर साधन	परिवर्तनशील साधन TVF	कुल उत्पादकता TP	औसत उत्पादकता $AP = \frac{TP}{TVF}$	सीमान्त उत्पादकता MP	अवस्थाएँ (Stages)
1	1	6	6	6	I Stage
1	2	16	8	10	(उत्पादन की पहली अवस्था)
1	3	30	10	14	
1	4	40	10	10	→ मोड़ का बिन्दु
1	5	45	9	5	II Stage
1	6	48	8	3	
1	7	48	6.8	0	(उत्पादन की दूसरी अवस्था)
1	8	44	5.5	–4	III Stage
1	9	38	4.2	–6	(उत्पादन की तीसरी अवस्था)

तालिका उत्पादन की तीन अवस्थाओं का स्पष्टीकरण देती है :

NOTES

प्रथम अवस्था में स्थिर साधन के साथ जैसे-जैसे परिवर्तनशील साधन की इकाइयाँ प्रयोग में बढ़ जाती हैं हमें बढ़ता हुआ उत्पादन प्राप्त होता है जिसका प्रमुख कारण है कि परिवर्तनशील साधन बढ़ने पर स्थिर साधनों का पूर्ण विदोहन सम्भव हो पाता है।

प्रथम अवस्था में दो भाग हैं। प्रथम भाग में सीमान्त उत्पादकता तथा औसत उत्पादकता बढ़ती है। परिवर्तनशील साधन की तीसरी इकाई पर सीमान्त उत्पादकता (MP) अधिकतम है। चौथी इकाई के लिए सीमान्त उत्पादकता घट जाती है, किन्तु औसत उत्पादकता (AP) बढ़ती रहती है।

प्रथम चरण और द्वितीय चरण के बीच के बिन्दु औसत उत्पादकता (AP) अधिकतम हो जाए। प्रथम अवस्था का समापन उस बिन्दु पर होता है जहाँ औसत उत्पादकता (AP) अधिकतम हो जाए। प्रथम अवस्था में आरम्भ से अन्त तक औसत उत्पादकता (AP) निरन्तर बढ़ती हुई है इसलिए इस अवस्था को **बढ़ते औसत उत्पादन की अवस्था** अथवा **उत्पत्ति के बढ़ते प्रतिफल कहा जाता है।**

द्वितीय अवस्था में उत्पादन (AP) तथा सीमान्त उत्पादन (MP) दोनों घट रहे हैं। इस अवस्था का समापन उस बिन्दु पर होता है जहाँ सीमान्त उत्पादकता (MP) शून्य हो जाती है। इस अवस्था में कुल उत्पादन (TP) भी बढ़ता है, किन्तु घटती दर से बढ़ते है क्योंकि इस अवस्था में सीमान्त उत्पादन (MP) घट रहा है किन्तु धनात्मक है (देखें तालिका)।

इस अवस्था में औसत उत्पादन (AP) घटता हुआ होने के कारण इस अवस्था को घटते औसत उत्पादन की अवस्था भी कहा जाता है।

तृतीय अवस्था में सीमान्त उत्पादकता शून्य से कम अर्थात् ऋणात्मक हो जाती है। इसमें सीमान्त उत्पादकता (MP) के ऋणात्मक (Negative) हो जाने के कारण कुल उत्पादकता (TP) घटने लगती है। तालिका में यह अवस्था प्रदर्शित की गई है। घटती कुल उत्पादकता तथा ऋणात्मक सीमान्त उत्पादकता के कारण इस अवस्था को **'ऋणात्मक प्रतिफल की अवस्था'** कहा जाता है।

किस अवस्था में उत्पादन कार्य लाभ प्रद है?
(Under Which Stage Production Work is Advantageous?)

एक विवेकशील उत्पादन सदैव द्वितीय अवस्था में उत्पादन कार्य करना पसन्द करेगा। प्रथम अवस्था में जब परिवर्तनशील साधन की मात्रा को बढ़ाया जाता है तब कुल उत्पादकता में वृद्धि होती है, क्योंकि अविभाज्य स्थिर साधनों का पूर्ण विदोहन हो पाता है। प्रथम अवस्था में ही यदि उत्पादन उत्पादन कार्य रोक देता है तो इसका अर्थ है कि वह उस अतिरिक्त लाभ से वंचित है जिसे वह परिवर्तनशील साधन की अतिरिक्त इकाइयाँ उत्पादन क्षेत्र में लगाकर प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार उत्पादक के लिए लाभप्रद यह है कि वह परिवर्तनशील साधन की इकाइयों को उत्पादन क्षेत्र में तब तक बढ़ाता जाए जब उसे तक कुल उत्पादकता में तीव्र वृद्धि प्राप्त होती है। एक विवेकशील उत्पादक इस प्रकार परिवर्तनशील साधन की ON इकाइयों से कम का प्रयोग नहीं करेगा। परिवर्तनशील साधन की OS इकाई पर साधन की सीमान्त उत्पादकता शून्य तथा इसके बाद साधन की सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक हो जाती है जिसका अर्थ है कि इस तृतीय अवस्था में उत्पादक के लाभ में कमी होगी। अतः उत्पादक परिवर्तनशील साधन की OS इकाई से अधिक प्रयोग नहीं करेगा। केवल द्वितीय अवस्था-साधन की ON मात्रा से अधिक किन्तु OS मात्रा से कम-ही उत्पादन को सम्भव एवं लाभदायक बनाती है। द्वितीय अवस्था में साधन की सीमान्त उत्पादकता घट तो रही है किन्तु धनात्मक है जो कुल उत्पादकता में कुछ न कुछ वृद्धि अवश्य करेगी। घटती सीमान्त उत्पादकता उत्पादन के लिए खतरे की सूचना अवश्य देती है क्योंकि घटती सीमान्त उत्पादकता शून्य तक पहुँच कर तदुपरान्त ऋणात्मक भी हो जाती है। उत्पादक तीसरी अवस्था के आरम्भ होने के पहले ही अपने उत्पादन स्तर को नियंत्रित करता है। इस प्रकार **द्वितीय अवस्था ही** उत्पादन कार्य योग्य है।

परिवर्तनशील अनुपात के नियम की मान्यताएँ

1. स्थिर साधन सीमित एवं दुर्लभ हैं।
2. विभिन्न उत्पत्ति साधन अपूर्ण स्थानापन्न (Imperfect Substitutes) होते हैं।
3. स्थिर साधन अविभाज्य (Indivisible) होते हैं।
4. तकनीकी स्तर में कोई परिवर्तन नहीं होता।

5. परिवर्तनशील साधन की समस्त इकाइयाँ समरूप (Homogeneous) होती हैं।

6. उत्पादन प्रक्रिया में एक उत्पत्ति साधन परिवर्तनशील रहता है, जबकि अन्य स्थिर रहते हैं।

NOTES

परिवर्तनशील अनुपात के नियम के लागू होने के कारण

आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने के निम्न कारण मानते हैं :

(1) **एक या एक से अधिक का स्थिर होना** (Fixity of One or More than One Factors of Production) – जब अन्य साधनों की मात्रा को स्थिर रखते हुए एक साधन की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि की जाती है तो परिवर्तनशील साधन श्रम का स्थिर साधनों के साथ अनुपात परिवर्तित होता चला जाता है। दूसरे शब्दों में, बढ़ती हुई श्रम मात्रा को स्थिर साधनों के साथ अनुपात परिवर्तित होता चला जाता है। दूसरे शब्दों में, बढ़ती हुई श्रम मात्रा को स्थिर साधनों की ओर कम मात्रा के साथ काम करना पड़ता है।

(2) **साधनों की अविभाज्यता** (Indivisibility of Factors) – उत्पत्ति के अधिकांश साधन अविभाज्य होते हैं। ये अविभाज्य साधन अनुकूलतम बिन्दु की प्राप्ति तक तो उत्पादकता को बढ़ाते हैं किन्तु जब अनुकूलतम बिन्दु की प्राप्ति के बाद भी साधनों का निरन्तर उपयोग जारी रहता है तब साधन की उत्पादकता घटने लगती है और उत्पत्ति ह्रास-नियम लागू हो जाता है।

(3) **उत्पत्ति के साधनों का पूर्ण स्थानापन्न न होना** (Factors of Production are not Perfect Substitutes to each-other) – **श्रीमती जॉन रॉबिन्सन** साधनों की अपूर्ण स्थानापन्नता को उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता का मुख्य कारण मानती हैं। उनके अनुसार उत्पादकता प्रक्रिया में एक साधन को दूसरे साधन के स्थान पर केवल एक सीमा तक ही प्रतिस्थापित किया जा सकता है। उनके अनुसार उत्पत्ति के विभिन्न साधन परस्पर अपूर्ण स्थानापन्न होते हैं जिसके कारण सीमित साधन की कमी को किसी अन्य साधन से पूरा नहीं किया जा सकता।

(4) **साधनों की सीमितता** (Scarcity of Factors) – कुछ उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति स्थिर एवं सीमित होती है जैसे भूमि। अतः जब एक उत्पादन किसी साधन की पूर्ति को नहीं बढ़ा पाता तो उसे उस साधन की सीमित मात्रा से ही काम चलाना पड़ता है। परिणामस्वरूप सीमित साधन का अन्य परिवर्तनशील साधनों से प्रयोग अनुपात में बदल जाता है और उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील हो जाता है।

परिवर्तनशील अनुपात के नियम की व्यावहारिकता (Practicability of Law of Variable Proportion)

स्थिर साधनों की अविभाज्यताओं के कारण ही बढ़ते तथा घटते प्रतिफल उत्पन्न होते हैं। बढ़ते प्रतिफल उत्पादन की प्रथम अवस्था में इसलिए प्राप्त होते हैं क्योंकि आरम्भ में परिवर्तनशील साधन की मात्रा में वृद्धि स्थिर साधनों का पूर्ण उपभोग सम्भव बनाती है। परिवर्तनशील साधन की मात्रा की निरन्तर वृद्धि एक बिन्दु पर स्थिर साधन का पूर्ण विदोहन कर लेती है। इस बिन्दु पर परिवर्तनशील साधन तथा स्थिर साधनों का संयोग अनुपात अनुकूलतम होता है। यदि इस अनुकूलतम बिन्दु के बाद भी परिवर्तनशील साधन की मात्रा में वृद्धि की जाती है तो स्थिर साधन अति उपयोग होने के कारण परिवर्तनशील साधन का औसत उत्पादन घटने लगता है। यही घटते प्रतिफल का नियम है। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्री **रिकार्डो एवं माल्थस** ने इस सिद्धान्त को कृषि क्षेत्र पर लागू किया था। उनके अनुसार कृषि क्षेत्र तथा उससे सम्बन्धित व्यवसाय में कुछ समय बाद घटते प्रतिफल उत्पन्न होते हैं। **रिकार्डो** के अनुसार भूमि की सीमित मात्रा तथा ह्रासमान उर्वरा-शक्ति के कारण कृषि क्षेत्र में घटते प्रतिफल उत्पन्न होते हैं। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने घटते प्रतिफल नियम को केवल कृषि क्षेत्र में लागू करके इसके क्षेत्र को सीमित कर दिया। आधुनिक अर्थशास्त्री उद्योग उत्पादन के सभी क्षेत्रों में इस सिद्धान्त की व्यावहारिकता स्वीकार करते हैं। यह एक सार्वभौमिक सिद्धान्त है। चाहे कोई भी क्षेत्र क्यों न हो, अन्य साधनों की तुलना में एक साधन की कमी सदैव घटते प्रतिफल को जन्म देगी। **श्रीमती जॉन राबिन्सन उत्पत्ति के साधनों की अपूर्ण स्थानापन्नता को घटते प्रतिफल का कारण मानती हैं।** उनके अनुसार उत्पत्ति के विभिन्न साधन परस्पर अपूर्ण स्थानापन्न होते हैं जिसके कारण स्थिर साधन की कमी को किसी अन्य साधन से पूरा नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों में, **श्रीमती रॉबिन्सन** के अनुसार साधनों में स्थानापन्नता की लोच अनन्त नहीं है जिसके कारण घटते प्रतिफल उत्पन्न होते हैं। घटते प्रतिफल की व्यावहारिकता को देखते हुए **विक्स्टीड** ने कहा है कि घटते प्रतिफल का नियम 'उतना ही सार्वभौमिक है जितना कि जीवन का नियम'।

NOTES

परिवर्तनशील अनुपात के नियम का महत्व
(Importance of Law of Variable Proportion)

(1) **अर्थशास्त्र का आधारभूत नियम** (Fundamental Law of Economics) – यह नियम कृषि पर ही लागू नहीं होता बल्कि खनन, मछली-पालन, उद्योग, मकान-निर्माण आदि सभी उत्पादन क्षेत्रों में क्रियाशील होने के कारण इस नियम का कार्य-क्षेत्र बहुत व्यापक है।

(2) **माल्थस के जनसंख्या सिद्धांत का आधार** (Basis of Malthusian Population Theory)– **माल्थस** का सिद्धान्त यह बताता है कि देश में खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि जनसंख्या में वृद्धि से कम होती है। खाद्यान्नों में धीमी वृद्धि का कारण उत्पत्ति ह्रास नियम ही है।

(3) **रिकार्डो के लगान सिद्धान्त का आधार** (Basis of Recardian Rent Theory) – **रिकार्डो** के गहरी खेती व विस्तृत खेती दोनों में लगान उत्पन्न होने का कारण उत्पत्ति ह्रास नियम है। गहरी खेती में जब दिए गए भू-खण्ड पर श्रम व पूँजी के अतिरिक्त इकाइयों का प्रयोग जाता है तो उत्तरोत्तर इकाइयों की उत्पादकता घटती जाती है क्योंकि उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होता है।

(4) **सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त का आधार** (Basis of Marginal Productivity Theory) – इस सिद्धान्त में उत्पत्ति के साधनों को उनकी सीमान्त उत्पादकता के अनुसार पुरस्कार दिया जाता है।

(5) **एक क्षेत्र के लोगों का जीवन-स्तर प्रभावित करता है** (Affects Standard of Living of People Residing in an Area) – एक क्षेत्र में जनसंख्या उत्पत्ति के अन्य साधनों की तुलना में अधिक तेजी से बढ़ती है तब वहाँ उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने के कारण उस क्षेत्र के लोगों का रहन-सहन स्तर गिर जाएगा।

(6) **आविष्कारों एवं खोजों के लिए प्रेरणादायक** (Incentive for Inventions) – उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता को स्थगित करने के लिए अनेक आविष्कार एवं खोज करने की प्रेरणा मिलती है।

इस प्रकार परिवर्तनशील अनुपात के नियम की अवस्थाएँ सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक (Practical) दोनों दृष्टिकोणों से महत्वपूर्ण है।

उत्पत्ति के नियम
(Laws of Returns)

विभिन्न उत्पत्ति के साधनों के संयोग से किसी वस्तु का उत्पादन होता है। कारखाने में कुशल उत्पादन हेतु यह आवश्यक है कि उत्पत्ति के साधनों को उचित अनुपात में मिलाया जाये। उत्पादन विधि को यथास्थिर मानने पर कारखाने में उत्पादन-मात्रा सदैव उत्पादन के साधनों की मात्रा पर निर्भर करती है। उत्पादन के एक या अधिक साधनों की मात्रा में परिवर्तन किया जाता है तो उत्पादन की मात्रा पर प्रभाव उत्पादन के नियमों द्वारा होता है। अर्थशास्त्र में उत्पादन के निम्न तीन नियम लागू होते हैं :–

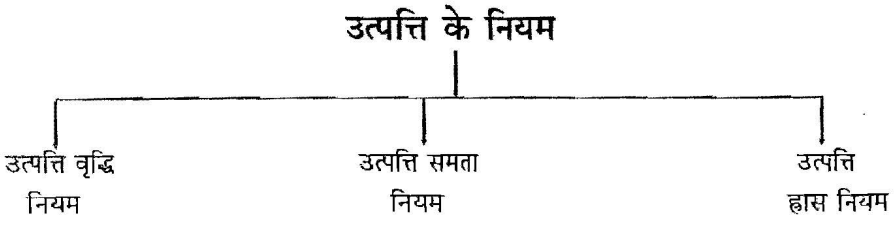

1. उत्पत्ति वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns)
2. उत्पत्ति समता नियम (Law of Constant Returns)
3. उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns)

उत्पत्ति वृद्धि नियम
(Law of Increasing Returns)

यदि किसी उद्योग में श्रम, पूँजी आदि साधनों की अधिकाधिक इकाइयाँ लगाने से उत्पादन में लगाए गये साधनों के अनुपात की तुलना में अधिक वृद्धि होती है तो उसे उत्पत्ति वृद्धि नियम कहते हैं। उदाहरणार्थ यदि उद्योग में साधनों

की मात्रा में 10% की वृद्धि की जाए, परन्तु कुल उत्पादन में 10% से अधिक वृद्धि हो जाए, तो उस उद्योग में उत्पादन वृद्धि नियम लागू होना माना जाता है। इस नियम को लागत ह्रास नियम भी कहा जाता है, क्योंकि उद्योग का विस्तार करने से उत्पादन अपेक्षाकृत अधिक हो जाता है और सीमान्त लागत प्रति इकाई कम होती जाती है, जिससे उत्पत्ति वृद्धि नियम का दूसरा नाम लागत के अर्थों में लागत ह्रास नियम है। **मार्शल** का मत है कि "ऐसे सभी उद्योग जिनमें प्रकृति की प्रधानता रहती है, उनमें उत्पत्ति का ह्रास नियम लागू होता है तथा निर्माण उद्योगों में, जहाँ पर मनुष्यों की प्रधानता रहती है, वहाँ पर उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है।"

परिभाषा –

मार्शल का मत है कि "श्रम व पूँजी में वृद्धि करने से प्रायः संगठन में सुधार हो जाता है, परिणामस्वरूप श्रम व पूँजी की कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है।"

आधुनिक मत –

आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने उत्पत्ति वृद्धि नियम की परिभाषा निम्न प्रकार से दी है –

(1) **श्रीमती जॉन राबिन्सन** – "जब किसी कारखाने में किसी उत्पत्ति के साधन की अधिक मात्रा प्रयोग की जाती है, तो प्रायः संगठन में ऐसे सुधार सम्भव हो जाते हैं, जिससे उत्पादन साधन की इकाई (मानव, एकड़ एवं मुद्रा) की कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है और उत्पादन में वृद्धि करने हेतु साधनों की भौतिक मात्रा को भी उसी अनुपात में बढ़ाना आवश्यक नहीं होता है।"

(2) **चैपमैन** – "अन्य बातों के समान रहने पर किसी उद्योग का विस्तार करने पर जहाँ उत्पादन के उपयुक्त साधनों का कोई अभाव न हो, वहाँ पर उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है।"

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण – इस नियम को निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –

श्रम व पूँजी की इकाइयाँ	कुल उत्पादन	औसत उत्पादन	सीमान्त उत्पादन
1	3	3	3
2	8	4	5
3	15	5	7
4	24	6	9
5	35	7	11
6	48	8	13

उदाहरण से स्पष्ट है कि अन्य साधनों को स्थिर मानकर श्रम की इकाइयों को बढ़ाने से सीमान्त उत्पादन तथा औसत उत्पादन बढ़ते हैं और कुल उत्पादन बढ़ती हुई गति से बढ़ता है।

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि श्रम व पूँजी की इकाइयों की वृद्धि के कारण –

(i) कुल उत्पादन, औसत उत्पादन एवं सीमान्त उत्पादन में वृद्धि हो जाती है।

(ii) सीमान्त उत्पादन की वृद्धि की गति सदैव औसत उत्पादन की वृद्धि की गति से अधिक रहती है।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण – इस नियम को निम्न रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –

चित्र में:

TPC = कुल उत्पादन वक्र

MPC = सीमान्त उत्पादन वक्र

APC = औसत उत्पादन वक्र

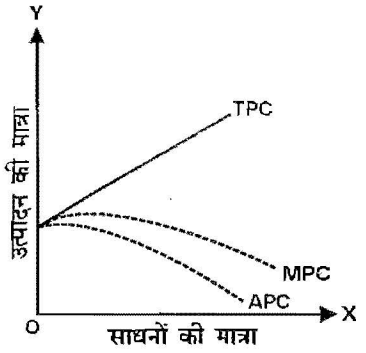

चित्र-1

चित्र-1 से स्पष्ट है कि औसत उत्पादन की अपेक्षा सीमान्त उत्पादन में वृद्धि प्रायः अधिक होती है। जैसे-जैसे कुल उत्पादन बढ़ता है वैसे ही

NOTES

वैसे सीमान्त उत्पादन व औसत उत्पादन भी बढ़ता जाता है, परन्तु सीमान्त उत्पादन में वृद्धि औसत उत्पादन की अपेक्षा अधिक होती है। अतः स्पष्ट है कि अन्य साधनों को स्थिर मानकर परिवर्तनशील साधन (श्रम आदि) की इकाइयों को बढ़ाने से औसत उत्पादन तथा सीमान्त उत्पादन बढ़ जाता है तथा कुल उत्पादन भी बढ़ती हुई गति से बढ़ता है।

उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होने के कारण
(Reasons for Application of Increasing Returns)

उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होने के कारण निम्न हैं –

(1) **श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण** – उत्पत्ति में वृद्धि करने पर श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण की योजनाएँ लागू की जा सकती हैं, जिससे कुशलता एवं साम्य दोनों में बचत होकर उत्पादन लागत भी कम हो जाती हैं और नियम लागू हो जाता है।

(2) **साधनों की अविभाज्यता** – इस नियम के लागू होने का मुख्य कारण साधनों की अविभाज्यता है, जिसमें उत्पादन की उपयुक्तता के आधार पर साधनों को विभाजित नहीं किया जा सकता। अतः उत्पादन के पैमाने में विस्तार होने के साथ-साथ अविभाज्य साधनों का अधिक उपयोग होने लगता है और उत्पादन लागत भी प्रति इकाई कम होने लगती है। उदाहरणार्थ यदि किसी मशीन की क्षमता 200 इकाई उत्पादन की है और अभी माँग कम होने से उत्पादन 50 इकाइयों का होता है। यदि किसी कारणवश माँग में वृद्धि होने पर उस मशीन से 200 इकाइयों का उत्पादन करने लगे तो उत्पादन में 4 गुनी वृद्धि हो जायेगी और उस वस्तु की प्रति इकाई उत्पादन लागत पहले से कम हो जायेगी। इस अविभाज्य साधन की पूरी क्षमता का उपयोग करने के बाद भी यदि उत्पादन का पैमाना बढ़ जाता है, तो उत्पत्ति वृद्धि नियम के स्थान पर उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होना प्रारम्भ हो जाएगा।

(3) **बड़े पैमाने की उत्पत्ति की बचत** – उत्पत्ति के आकार में वृद्धि होने के कारण उस संस्था की आन्तरिक एवं बाह्य बचतें प्राप्त होने लगती हैं, जिससे उत्पादन लागत कम हो जाती है और उत्पत्ति वृद्धि नियम क्रियाशील होने लगता है।

(4) **प्राविधिक बचत** – बड़े स्तर पर उत्पादन करने से प्राविधिक बचत प्राप्त होने लगती है, जिससे उत्पादन लागत अपेक्षाकृत कम होने लगती है।

उत्पत्ति वृद्धि नियम तथा लागत (The Law of Increasing returns and Cost) – लागत की दृष्टि से इस नियम को 'लागत ह्रास नियम' कहा जाता है। जिस अनुपात में साधनों को बढ़ाया जाता है, उससे अधिक उत्पादन प्राप्त हो जाता है जिससे औसत एवं सीमान्त लागत घटती जाती है जिससे इसे लागत ह्रास नियम कहा जाता है।

उत्पत्ति के साधनों की अविभाज्यता के कारण उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू हो जाता है। इसके विपरीत विभाज्य साधनों की यह विशेषता रहती है कि उनमें छोटे-छोटे परिमाण में समान लागत पर वृद्धि की जा सकती है। उदाहरणार्थ एक उत्पादन साधन अविभाज्य तथा दूसरे साधन विभाज्य हैं। यदि अविभाज्य साधन की लागत को छोड़ दिया जाये तो प्रति इकाई उत्पादन लागत कुछ सीमा तक स्थिर रहेगी और जैसे-जैसे उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होगी वैसे ही वैसे अविभाज्य साधन की क्षमता का अधिक प्रयोग होने लगेगा और अविभाज्य साधन लागत की कुल उत्पादन लागत में सम्मिलित करने पर प्रति इकाई उत्पादन लागत में कमी आ जायेगी। लेकिन अविभाज्य साधन की पूर्व क्षमता का प्रयोग करने के बाद भी उत्पादन का पैमाना बढ़ाया गया तो उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील हो जायेगा। इस तथ्य को चित्र-2 में दिखाया गया है –

चित्र- 2 में अविभाज्य साधन के उत्पादन की प्रति इकाई लागत (AFC) एक आयताकार परावृत (Rectangular) है और उत्पादन बढ़ने के साथ-साथ वक्र नीचे गिरता जाता है। अन्य साधनों की औसत लागत OM उत्पादन तक स्थिर रहती है और उसके पश्चात् बढ़ने लगती है। इन दोनों वक्रों के ऊपर 'कुल औसत लागत' (ATC) वक्र है जो परिवर्तनशील एवं अविभाज्य दोनों साधनों की औसत लागत का योग है।

चित्र में :

MC = सीमान्त लागत

ATC = औसत लागत वक्र

AVC = परिवर्तनशील औसत लागत

AFC = अविभाज्य साधन के उत्पादन की प्रति इकाई लागत

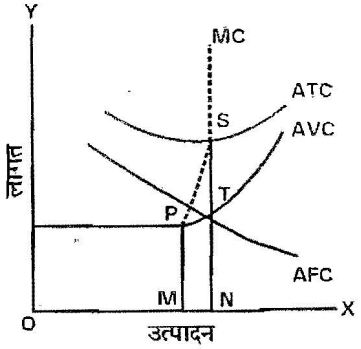

चित्र-2

यह वक्र ON उत्पादन तक नीचे गिरता है और उसके बाद ऊपर उठने लगता है। सीमान्त लागत वक्र भी OM उत्पादन तक स्थिर रहता है और उसके बाद ऊपर उठता जाता है और कुल औसत लागत वक्र को निम्नतम बिन्दु पर काटता है, जहाँ पर उत्पादन ON के बराबर है। ON उत्पादन पर अविभाज्य साधन का अधिकतम उपयोग होने से यह लाभप्रद स्थिति में है।

उत्पत्ति वृद्धि नियम की अधिकतम प्रवृत्ति
(Tendency of Law of Increasing Returns)

उत्पत्ति वृद्धि नियम किसी भी उद्योग में अनिश्चितकाल व अनिश्चित सीमा तक लागू नहीं होता, क्योंकि अविभाज्य साधनों के लाभ तथा मितव्ययितायें एक निश्चित सीमा तक ही प्राप्त हो पाती हैं। अनुकूलतम अनुपात स्थापित हो जाने पर, उसके बाद परिवर्तनशील साधन की मात्रा बढ़ाई जाने पर उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है। **यदि उत्पत्ति वृद्धि नियम अनन्त सीमा तक लागू हो पाता तो विश्व में केवल एक ही फर्म अर्थव्यवस्था की सम्पूर्ण माँग को पूर्ण कर सकती थी और एक छोटे से भूखण्ड पर ही खाद्यान्न उत्पन्न करके विश्व की समस्त जनसंख्या का भरण-पोषण किया जा सकता था,** परन्तु वास्तविकता यह है कि उत्पत्ति वृद्धि नियम एक सीमा तक ही क्रियाशील होता है और उसके बाद उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है। प्रो. क्लार्क ने 'इस सम्बन्ध में एक ऐसे व्यक्ति की कहानी बतायी जो उत्पादन की मितव्ययिता प्राप्त करना चाहता था, परन्तु प्राप्त न कर सका।'१ इससे स्पष्ट है कि बड़ी मशीनें एक सीमा के बाद कम लचीली हो जाती हैं और उनकी मरम्मत करना भी कठिन हो जाता है जिससे उत्पादन इकाई की कमी को सीमित रखना पड़ता है।

उत्पत्ति वृद्धि नियम की सीमाएँ
(Limitation of the Law of Increasing Return)

(1) जब तक उत्पत्ति के साधन अनुकूलतम अनुपात स्थापित नहीं कर लेते, तब तक यह नियम लागू होता है और इसके भी बाद परिवर्तनशील साधन की मात्रा को बढ़ाए जाने पर उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जाता है।

(2) प्रत्येक दशा में यह आवश्यक नहीं है कि परिवर्तनशील साधनों की मात्रा में वृद्धि करने से संगठन में सुधार हो तथा साधनों की कार्यक्षमता में वृद्धि होकर उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू हो।

उत्पत्ति समता नियम
(Law of Constant Returns)

किसी भी उद्योग में जब श्रम और पूँजी की अतिरिक्त इकाइयों के लगाने से उपज में समान अनुपात में ही वृद्धि हो तो उसे उत्पत्ति समता नियम कहते हैं। इसमें सीमान्त उत्पत्ति न तो बढ़ती है और न ही घटती है।

परिभाषा — **मार्शल** के अनुसार, "उत्पत्ति के जिस स्तर पर उत्पादन वृद्धि तथा उत्पादन ह्रास मान दोनों के प्रभाव बराबर हो जाते हों, वहाँ पर स्थिर उत्पादन का नियम लागू हो जाता है।"

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण — निम्न उदाहरण द्वारा इस नियम को स्पष्ट किया जा सकता है :—

श्रम व पूँजी की मात्रा	कुल उत्पादन	औसत उत्पादन	सीमान्त उत्पादन
1	10	10	10
2	20	10	10
3	30	10	10
4	40	10	10
5	50	10	10

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि साधनों की मात्रा में वृद्धि करने पर, कुल उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि होती है, जिससे यह कहा जा सकता है कि उत्पादन उत्पत्ति समता नियम के अनुरूप हो रहा है।

प्रो. स्टिगलर का मत है कि, "जब समस्त उत्पादक सेवाओं को एक दिए हुए अनुपात में बढ़ाया जाता है, तो उत्पादन उसी अनुपात में बढ़ता है।" कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि कोई उत्पत्ति स्थिरता नियम नहीं होता, बल्कि केवल 'पैमाने का स्थिर उत्पादन नियम' होता है।

चित्र द्वारा स्पष्टीकरण –

चित्र- 3 से स्पष्ट है कि RR रेखा उत्पत्ति की रेखा है जो OX अक्ष के समान्तर है और यह स्पष्ट करती है कि सीमान्त उत्पत्ति की मात्रा साधनों के घटने या बढ़ने से भी स्थिर रहती है।

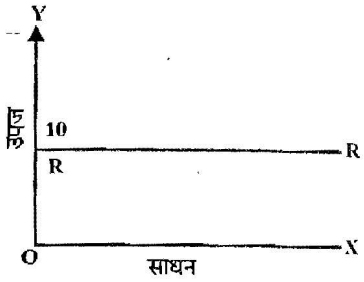

चित्र-3

उत्पत्ति ह्रास नियम
(Law of Diminishing Returns)

(अ) **प्रतिष्ठित मत** – उत्पत्ति ह्रास नियम एक पुराना अर्थशास्त्र का नियम है। प्रकृतिवादी अर्थशास्त्री श्री **तुर्गो** (Torgoz) ने सर्वप्रथम इस नियम का उल्लेख किया जिसे बाद में **रिकार्डो** ने अपने लगान सिद्धान्त तथा **माल्थस** ने अपने जनसंख्या सिद्धान्त में आधार माना, परन्तु **मार्शल** ने सर्वप्रथम इसे वैज्ञानिक रूप में प्रस्तुत किया।

मार्शल के अनुसार, "यदि कृषि कला में कोई उन्नति न हुई हो, तो भूमि पर उपयोग होने वाली पूँजी व श्रम की मात्रा में वृद्धि करने से कुल उपज में प्रायः अनुपात से कम मात्रा में वृद्धि होती है।"

इसमें भूमि की मात्रा को स्थिर रखते हुए यदि पूँजी व श्रम की मात्रा को बढ़ाया जाता है, तो इससे कुल उत्पत्ति में अवश्य वृद्धि होती है, परन्तु यह वृद्धि उत्पादन साधनों में होने वाली वृद्धि के अनुपात में नहीं होती, अर्थात् उत्पादन में आनुपातिक रूप से कम वृद्धि होती है।

कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार, उत्पत्ति का मुख्यतया एक ही नियम है और वह है 'उत्पत्ति ह्रास नियम'। 'उत्पत्ति वृद्धि नियम' तथा 'उत्पत्ति स्थिरता नियम' उत्पत्ति ह्रास नियम की अस्थायी अवस्थाएँ हैं। उत्पत्ति ह्रास नियम कृषि पर ही लागू होता है, परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार यह नियम केवल कृषि पर ही नहीं, बल्कि उद्योगों तथा अन्य सभी क्षेत्रों में लागू होता है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण – इस नियम को अग्र उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है –

श्रम व पूँजी की इकाइयाँ	कुल उत्पादन	सीमान्त उत्पादन
1	12	12
2	22	10
3	30	8
4	36	6
5	40	4
6	42	2

माना कृषक के पास एक हैक्टेयर भूमि है जिसमें वह श्रम व पूँजी की प्रथम इकाई लगाकर 12 इकाई उत्पादन करता है। उपज बढ़ाने हेतु वह श्रम व पूँजी की दूसरी इकाई लगाता है, जिससे कुल उपज बढ़कर 22 हो जाती है, परन्तु साधन दुगना करने से उत्पादन दुगुना नहीं हो पाता। इसी प्रकार श्रम व पूँजी की तीसरी, चौथी, पाँचवीं व छठवीं इकाइयों से क्रमशः 8, 6, 4 व 2 अतिरिक्त उपज प्राप्त होती है, जो यह प्रदर्शित करती है कि श्रम व पूँजी की अतिरिक्त इकाइयों में वृद्धि करने से कुल उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि नहीं हो पाती और सीमान्त उत्पादन क्रमशः घटता जाता है। उत्पादन की इसी प्रवृत्ति को उत्पत्ति ह्रास नियम कहा जाता है।

चित्र द्वारा स्पष्टीकरण –

चित्र-4 से स्पष्ट है कि श्रम व पूँजी की अतिरिक्त इकाइयों के लगाने से उत्पादन में अपेक्षाकृत कम वृद्धि होती है। चित्र में MNOPQR रेखा ऊपर से नीचे की ओर झुकी है जो इस तथ्य को प्रकट करती है कि कृषि में श्रम व पूँजी की इकाइयाँ बढ़ाने पर घटती हुई दर से उत्पादन बढ़ता है।

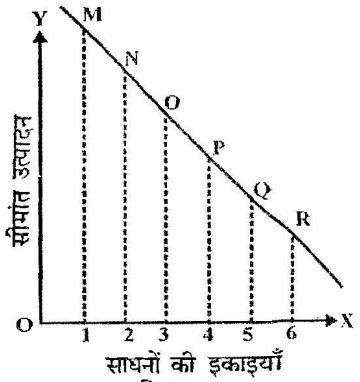

चित्र-4

क्रियाशीलता की शर्तें – (Conditions of Application) यह नियम निम्न दो शर्तों पर ही क्रियाशील होता है :–

(i) **कृषि प्रणाली पूर्ववत्** – इस नियम के क्रियान्वित होने के लिए यह आवश्यक है कि कृषि-प्रणाली में कोई सुधार नहीं होना चाहिए।

(ii) **सामान्यतया सत्य** – यह नियम सामान्यतया ही सत्य सिद्ध होता है और विशेष परिस्थितियों के अभाव में भी यह नियम लागू हो जाता है जैसे श्रम व पूँजी की मात्रा आवश्यकता से कम न हो। "यदि अन्य साधनों की स्थिर मात्राओं के साथ परिवर्तनशील साधन की अधिक इकाइयों का प्रयोग करें, तो अन्य बातों के समान रहने पर, उन बिन्दुओं पर आ जाते हैं, जहाँ पर सीमान्त उत्पादन, औसत उत्पादन तथा अन्त में कुल उत्पादन घटने लगते हैं।"

उत्पत्ति ह्रास नियम का यह प्रतिष्ठित रूप उचित नहीं माना जाता, क्योंकि यह नियम क्यों लागू होता है, इस तथ्य पर कोई प्रकाश नहीं डालता।

(ब) **आधुनिक मत** – आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि उत्पत्ति ह्रास नियम एक व्यापक नियम है जो केवल भूमि व कृषि पर ही लागू नहीं होता, वरन् उत्पादन के समस्त क्षेत्रों में लागू होता है।

उत्पादन के साधनों के संयोग में यदि उत्पत्ति के एक साधन को स्थिर रखकर अन्य साधनों की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि करते जाएँ तो एक निश्चित बिन्दु के पश्चात् इन साधनों से प्राप्त उपज क्रमशः घटती जाती है।

परिभाषाएँ – आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा दी गयी कुछ परिभाषायें निम्न प्रकार हैं :–

(1) **श्रीमती जॉन राबिन्सन** – "उत्पत्ति के विभिन्न साधनों में एक साधन की मात्रा निश्चित रखने पर एक बिन्दु के पश्चात् अन्य साधनों को प्रत्येक अगली वृद्धि से उत्पादन घटती हुई दर से प्राप्त होगा।"

(2) **स्टिगलर** – "यदि उत्पादन के अन्य साधनों की इकाइयों को स्थिर रखकर किसी एक साधन की इकाइयों की मात्रा में निरन्तर वृद्धि की जाये, तो एक निश्चित सीमा के बाद घटती हुई उपज प्राप्त होगी।"

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण – इस नियम को निम्न उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है, जिसमें भूमि को उत्पादन का स्थिर साधन माना है और श्रम को परिवर्तनशील साधन माना गया है :–

स्थिर साधन भूमि	परिवर्तनशील साधन श्रम	कुल उत्पादन	औसत उत्पादन	सीमान्त उत्पादन	विभिन्न अवस्थायें
7	0	0	0	0	
7	1	12	12	12	प्रथम अवस्था
7	2	26	13	14	
7	3	42	14	16	
7	4	56	14	14	
7	5	65	13	9	
7	6	72	12	7	द्वितीय अवस्था
7	7	77	11	5	
7	8	72	9	–5	तृतीय अवस्था

आधुनिक व्याख्या के तीन रूप –

आधुनिक व्याख्या के अनुसार इस नियम के निम्नलिखित तीन रूप हैं :–

(1) **कुल उत्पादन ह्रास नियम** – सारणी से स्पष्ट है कि भूमि की मात्रा को स्थिर रखते हुए परिवर्तनशील साधनों की संख्या में वृद्धि करने से कुल उत्पादन में उस समय तक वृद्धि होती है, जब वह अपनी अधिकतम सीमा तक भी पहुँच जाती है तथा उसके बाद भी परिवर्तनशील साधनों की संख्या में वृद्धि करने से कुल उत्पादन घटने लगता है। सारणी में 7वीं इकाई तक उत्पादन बढ़कर अधिकतम बिन्दु पर पहुँच जाता है और 8वीं इकाई पर वह गिर जाता है।

(2) **सीमान्त उत्पादन ह्रास नियम** – सारणी से स्पष्ट है कि तीसरी इकाई तक सीमान्त उत्पादन बढ़ता जाता है और उसके बाद वह निरन्तर गिरता जाता है और चौथी इकाई पर वह ऋणात्मक हो जाता है।

NOTES

(3) **औसत उत्पादन ह्रास नियम** – सारणी से स्पष्ट है कि तीसरी इकाई तक औसत उत्पादन बढ़ाया जाता है, चौथी इकाई पर यह स्थिर होकर 5वीं इकाई से आगे वह गिरता जाता है। चौथी इकाई पर औसत उत्पादन व सीमान्त उत्पादन दोनों बराबर हैं। पाँचवीं इकाई से सीमान्त व औसत उत्पादन दोनों गिरते जाते हैं परन्तु सीमान्त उत्पादन में गिरावट तेजी से होती है। समस्त उत्पादन को तीन अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है :–

प्रथम अवस्था – प्रारम्भ में प्रथम अवस्था में कुल, औसत तथा सीमान्त उत्पादन तीनों बढ़ते हैं। इसे बढ़ते हुए औसत उत्पादन की अवस्था कहते हैं।

दूसरी अवस्था – इसमें औसत उत्पादन गिरने लगता है। सीमान्त उत्पादन गिरने के कारण कुल उत्पादन घटती हुई दर से बढ़ता है। इसमें घटते हुए औसत उत्पादन का नियम लागू होता है।

तीसरी अवस्था – सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक होने के कारण इस अवस्था में घटते हुए कुल उत्पादन का नियम लागू होता है।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण –

इस नियम को निम्न रेखाचित्र द्वारा अधिक स्पष्ट किया जा सकता है :–

चित्र में :

TP = कुल उत्पादन

AP = औसत उत्पादन

MP = सीमान्त उत्पादन

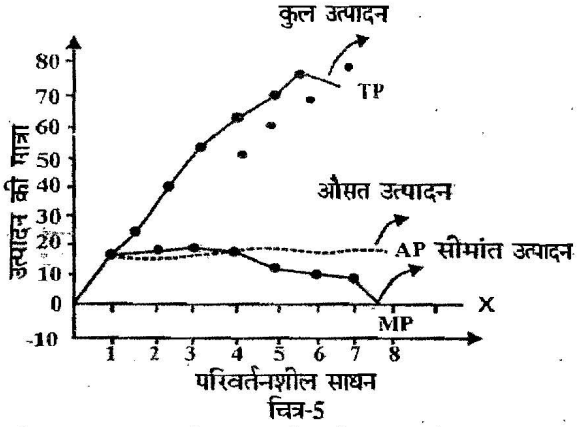

चित्र-5

चित्र-5 में TP कुल उत्पादन रेखा है जिसमें भूमि को स्थिर साधन और श्रम की मात्रा बढ़ने पर एक सीमा तक कुल उत्पादन बढ़ता जाता है और उस सीमा के बाद भी श्रम की मात्रा बढ़ने से कुल उत्पादन में कमी हो जाती है। अतः कुल उत्पादन में उस समय तक वृद्धि होती रहती है जब तक कि सीमान्त उत्पादन वक्र X अक्ष के ऊपर रहता है। जहाँ पर यह वक्र X को काटता है, वहाँ पर कुल उत्पत्ति अधिकतम होती है, तत्पश्चात् यह घटती जाती है। सीमान्त वक्र का ढलान घटनात्मक होने पर कुल उत्पत्ति बढ़ती हुई दर से बढ़ती है और ऋणात्मक होने पर यह घटती हुई दर से बढ़ती है।

चित्र-5 में OM सीमान्त उत्पत्ति वक्र है, जो एक निश्चित सीमा तक बढ़ती हुई उत्पत्ति दर्शाता है और यह बिन्दु अनुकूलतम बिन्दु होता है। जब श्रम की मात्रा इस अनुकूलतम बिन्दु से भी आगे बढ़ा दी जाती है तो सीमान्त उत्पत्ति घटने लगती है और घटते-घटते ऋणात्मक तक पहुँच जाती है।

अतः जब तक कुल उत्पत्ति में बढ़ती हुई दर से वृद्धि होती रहती है सीमान्त उत्पत्ति में भी वृद्धि होती है। कुल उत्पत्ति की वृद्धि दर में कमी होने पर सीमान्त उत्पत्ति में भी कमी हो जाती है और यदि कुल उत्पत्ति में कमी हो जाती है तो सीमान्त उत्पत्ति भी ऋणात्मक हो जाती है।

चित्र-5 से स्पष्ट है कि जब तक औसत उत्पत्ति में वृद्धि होती है, तब तक सीमान्त उत्पत्ति औसत उत्पत्ति से अधिक रहती है। औसत उत्पत्ति के अधिकतम रहने पर वह सीमान्त उत्पत्ति के बराबर हो जाती है। जब औसत उत्पत्ति गिरने लगती है तो सीमान्त उत्पत्ति औसत उत्पत्ति की तुलना में कम रहती है। उत्पत्ति गिरने से औसत लागत में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार जब तक औसत वक्र का ढाल धनात्मक रहता है, तब तक सीमान्त उत्पत्ति वक्र औसत उत्पत्ति वक्र के ऊपर रहता है और जब औसत उत्पत्ति वक्र का ढाल ऋणात्मक हो जाता है तो सीमान्त उत्पत्ति वक्र औसत उत्पत्ति वक्र के नीचे रहता है तथा इसका ढाल भी ऋणात्मक हो जाता है।

उत्पत्ति ह्रास नियम तथा लागत (Law of Diminishing Returns and Cost) – उत्पत्ति ह्रास नियम में लागत वृद्धि नियम लागू होता है। प्रारम्भ में अनुपात से अधिक अनुपात प्राप्त होने से सीमान्त लागत एवं औसत लागत दोनों ही घटते हैं। यदि परिवर्तनशील साधन की ओर अधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाता है तो सीमान्त लागत एक बिन्दु पर न्यूनतम होकर बढ़ने लगती है, तत्पश्चात् औसत लागत एक बिन्दु पर निम्नतम होकर फिर बढ़ने लगती है। इसमें सीमान्त लागत रेखा, औसत लागत रेखा के निम्नतम बिन्दु से गुजरती है। इसके पश्चात् 'लागत वृद्धि नियम' लागू हो जाता है।

परिवर्तनीय आनुपातिक नियम
(Law of Variable Proportions)

परिवर्तनीय उत्पादन साधन की मात्रा में वृद्धि होने पर कुल उत्पादन की प्रवृत्ति को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है :–

(1) **प्रथम अवस्था** – प्रथम अवस्था में श्रम की औसत उत्पत्ति में वृद्धि होकर वह अधिकतम हो जाती है। श्रम की सीमान्त उत्पत्ति अधिकतम होने के बाद गिरने लगती है। अन्त में जहाँ श्रम की औसत उत्पत्ति अधिकतम हो जाती है वहाँ पर श्रम की सीमान्त उत्पत्ति एवं औसत उत्पत्ति दोनों ही बराबर होती हैं।

(2) **द्वितीय अवस्था** – इस अवस्था में औसत उत्पत्ति कम होती जाती है तथा सीमान्त उत्पत्ति शून्य होने पर कुल उत्पत्ति अधिकतम होती है। इस अवस्था में भी कुल उत्पत्ति में वृद्धि होती है और सीमान्त उत्पत्ति औसत उत्पत्ति से कम ही रहती है।

(3) **तृतीय अवस्था** – इस अवस्था में कुल व औसत उत्पत्ति गिरती हुई होती है तथा सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक रहती है।

तीनों अवस्थाओं का स्पष्टीकरण

(1) **प्रथम अवस्था** – प्रथम अवस्था में कुल उत्पादन बढ़ता है जिससे श्रम का औसत उत्पादन बढ़ जाता है। अतः भूमि की इकाई पर श्रम की मात्रा में वृद्धि करने से भूमि व श्रम दोनों की उत्पादकता बढ़ जाती है जिससे उत्पत्ति वृद्धि नियम क्रियाशील रहता है। इस नियम के लागू होने का 'प्रमुख कारण यह है कि श्रमिकों की संख्या बढ़ाने से भूमि का अधिकतम उपयोग सम्भव होने लगता है। प्रति श्रमिक व प्रति हैक्टेयर उत्पत्ति में वृद्धि हो जाती है। अतः परिवर्तनीय साधन की मात्रा में वृद्धि करने से स्थिर साधन का अधिकतम उपयोग सम्भव होने लगता है तथा परिवर्तनीय साधनों की विभिन्न इकाइयों के मध्य विशिष्टीकरण होने से स्थिर एवं परिवर्तनीय साधनों की कार्यकुशलता बढ़ जाती है जिससे उत्पादन में बढ़ती हुई प्रतिफल की प्रवृत्ति पाई जाती है।'

द्वितीय अवस्था – इस अवस्था में औसत उत्पत्ति एवं सीमान्त उत्पत्ति दोनों में ह्रासमान प्रतिफल लागू होने लगता है। इस अवस्था से पूर्व श्रम की मात्रा में इतनी अधिक वृद्धि हो चुकी होती है कि भूमि पर श्रम का अधिकतम उपयोग होने लगता है और श्रम की मात्रा में और अधिक वृद्धि करने से श्रम का औसत व सीमान्त उत्पादन कम होने लगता है, अर्थात् स्थिर व परिवर्तनीय साधनों में अनुकूलतम अनुपात प्राप्त होने के बाद परिवर्तनीय साधनों की मात्रा में और अधिक वृद्धि करने से ह्रासमान सीमान्त उत्पादन प्राप्त होने लगता है। इसका स्पष्टीकरण **श्रीमती जॉन रॉबिन्सन** ने इस प्रकार दिया है कि उत्पत्ति के साधनों के प्रतिस्थापन साधनों की लोच असीमित नहीं होती है और उत्पादन के साधन एक-दूसरे के पूर्ण प्रतिस्थापक नहीं होते हैं। भूमि, पूँजी व श्रम के बीच प्रतिस्थापन की लोच अनन्त नहीं होती क्योंकि एक साधन को दूसरे साधन के स्थान पर असीमित मात्रा में प्रयोग किया जा सकता तो एक ही भूमि के टुकड़े पर श्रम व पूँजी की अधिक इकाइयों के प्रयोग से सम्पूर्ण विश्व की जनसंख्या हेतु खाद्यान्न की व्यवस्था कर सकते थे तथा एक ही भूमि पर गगनचुम्बी इमारत बनाकर आश्रय प्रदान कर सकते थे, परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि साधनों की आपसी प्रतिस्थापन की एक सीमा होती है और उस सीमा के आगे प्रतिस्थापन करने से ह्रासमान नियम लागू हो जाता है। **श्रीमती जॉन रॉबिन्सन का मत** है कि उत्पत्ति ह्रास नियम वह सीमा इंगित करता है जिस सीमा तक एक साधन का प्रतिस्थापन दूसरे साधन से सम्भव हो सकता है। अतः उत्पत्ति के साधनों के प्रतिस्थापन की लोच असीमित नहीं होती है।

तृतीय अवस्था – तृतीय अवस्था में श्रम की सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक हो जाती है और उससे कुल उत्पत्ति व औसत उत्पत्ति कम हो जाती है। सीमान्त उत्पादन के ऋणात्मक होने से कुल उत्पादन में कमी आ जाती है और स्थिर साधनों का लाभकारी उपयोग सम्भव नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ एक रसोईघर में बहुत अधिक रसोइये हों तो यह खाना बिगाड़ देंगे, फलतः सीमान्त उत्पत्ति ऋणात्मक हो जायेगी। ऐसी स्थिति में श्रमिकों की संख्या में कमी करने से ही कुल उत्पत्ति में वृद्धि सम्भव हो सकेगी।

अतः स्पष्ट है कि उत्पादन इकाई की दृष्टि से प्रथम व तृतीय अवस्था हानिकारक एवं द्वितीय अवस्था लाभकारी है, जहाँ पर उत्पादक को भूमि की कार्यकुशलता में वृद्धि का लाभ प्राप्त होगा।

नियम की मान्यताएँ
(Assumptions of the Law)

उत्पत्ति ह्रास नियम निम्न मान्यताओं पर आधारित है :–

(1) परिवर्तनशील साधनों की समस्त इकाइयाँ समान कुशलता वाली होती हैं।

NOTES

(2) इस नियम का सम्बन्ध मूल्य की अपेक्षा उत्पादित वस्तुओं की मात्रा से रहता है।

(3) यह माना गया है कि संगठन, उत्पादन विधि व प्राविधिक ज्ञान आदि में कोई भी परिवर्तन नहीं होता।

(4) यह नियम इस मान्यता पर आधारित है कि परिवर्तनशील साधनों को छोटी-छोटी समान इकाइयों में विभाजित किया जा सकता है।

(5) यह माना गया है कि उत्पत्ति का एक साधन स्थिर एवं अन्य परिवर्तनशील हैं।

(6) उत्पत्ति ह्रास नियम तभी लागू होगा जबकि परिवर्तनशील साधन की पर्याप्त मात्रा का प्रयोग हो गया हो।

(7) लागत वृद्धि नियम तब लागू होगा, जबकि परिवर्तनशील साधनों की कीमत तथा उत्पादित वस्तु की कीमत दी हुई हो।

निष्कर्ष – उत्पत्ति ह्रास नियम की विवेचना से निम्न निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है :–

(1) स्थिर एवं परिवर्तनीय साधनों की इकाइयों के मध्य अनुकूलतम अनुपात प्राप्त हो जाने पर परिवर्तनीय साधन की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि करने से ह्रासमान प्रतिफल प्राप्त होगा।

(2) परिवर्तनीय साधन की मात्रा में वृद्धि करते रहने से स्थिर साधन का अधिक व पूर्ण उपयोग सम्भव होता जाता है।

(3) उत्पत्ति के साधन स्थिर व परिवर्तनशील दोनों ही माने जाते हैं।

(4) यह नियम उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में कार्यशील हो सकता है।

(5) यह नियम एक सीमा के बाद ही क्रियाशील होता है।

(6) उत्पत्ति के परिवर्तनशील साधनों की ही मात्रा को बढ़ाया जा सकता है।

(7) स्थिर व परिवर्तनीय साधनों के मध्य अनुकूलतम अनुपात स्थापित होने तक परिवर्तनीय साधनों की मात्रा में वृद्धि करने से उत्पत्ति वृद्धि नियम लागू होता है।

उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने के कारण (Conditions of the Operation of the Law of Diminishing Returns) -- **मार्शल** का मत था कि कृषि में प्रकृति का हाथ होने के कारण उत्पत्ति ह्रास नियम कृषि में लागू होता है; परन्तु आधुनिक मत यह है कि इसके लागू होने का कारण प्रकृति की प्रधानता ही नहीं है, वरन् अन्य अनेक कारण हैं।

उत्पत्ति ह्रास नियम के लागू होने के मुख्य कारण निम्नलिखित हैं :–

(1) **एक साधन का स्थिर होना** – यह नियम इस कारण से क्रियाशील होता है कि इसमें उत्पत्ति के एक या अधिक साधनों को स्थिर मान लिया जाता है। यदि उत्पत्ति के सभी साधनों में वृद्धि सम्भव हो सके तो उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि अधिक होगी और यह नियम लागू नहीं होगा। यदि एक साधन को स्थिर रखा जाए और दूसरे साधन की मात्रा में वृद्धि की जाती है तो एक निश्चित सीमा के बाद परिवर्तनीय साधन का पूर्ण उपयोग सम्भव नहीं हो पाता और उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील हो जाता है।

(2) **अनुकूलतम आकार के बाद आने पर** – अल्पकाल में अपनी क्षमता से अधिक उत्पादन करने पर यह नियम लागू होने लगता है। प्रारम्भ में फार्म का औसत लागत वक्र यू (U) आकार का रहता है जो न्यूनतम लागत का द्योतक होता है। इस बिन्दु की दाहिनी ओर उत्पादन करने पर प्रति इकाई उत्पादन लागत बढ़ने लगती है और उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है।

(3) **साधनों का पूर्ण स्थानापन्न होना** – उत्पत्ति के साधनों के प्रतिस्थापन की लोच असीमित नहीं होती और उत्पादन के साधन एक-दूसरे के पूर्ण प्रतिस्थापक नहीं होते, जिससे यह नियम लागू हो जाता है।

(4) **साधनों की सीमितता** – उत्पत्ति के साधनों की पूर्ति सीमित होती है। पूर्ति सीमित होने से उस साधन की सीमित मात्रा से ही कार्य चलाना पड़ता है, परिणामतया उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील हो जाता है। उदाहरणार्थ कृषि व्यवसाय में भूमि सीमित होती है तथा श्रम व पूँजी का अधिक प्रयोग करने से एक बिन्दु के बाद उत्पत्ति ह्रास नियम लागू होने लगता है।

उत्पत्ति ह्रास नियम का कृषि या भूमि पर लागू होना या नियम का क्षेत्र

(Scope of the Law)

प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों का यह मत था कि उत्पत्ति ह्रास नियम केवल कृषि एवं भूमि पर ही लागू होता है और उद्योगों पर उत्पत्ति-वृद्धि नियम लागू होता है, परन्तु ऐसा कहना एक भारी भूल माना गया। यह नियम सभी उत्पादन साधनों पर सामान्य रूप से लागू होता है, क्योंकि इस नियम में भूमि को स्थिर माना गया है और उसके स्थान पर पूँजी

व श्रम की मात्रा को स्थिर माना जा सकता है। अत: जब कभी भी उत्पत्ति के साधनों में से कम से कम एक साधन को स्थिर एवं अन्य साधनों को परिवर्तनीय माना गया है, तब वहाँ पर उत्पत्ति ह्रास नियम अवश्य ही क्रियाशील होगा, परन्तु भिन्न-भिन्न उद्योगों में इस नियम की विभिन्न अवस्थाएँ कम या अधिक हो सकती हैं। कृषि उद्योग में उत्पत्ति वृद्धि नियम की सीमा शीघ्र ही समाप्त होकर उत्पत्ति ह्रास नियम लागू हो जाता है, जबकि निर्माणी उद्योगों में यह सीमा काफी लम्बी होती है और उत्पादन के बहुत बड़े पैमाने पर पहुँचने के बाद सीमान्त उत्पादन कम होना प्रारंभ होता है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार, यह नियम कृषि, उद्योग तथा उत्पादन के अन्य सभी क्षेत्रों में लागू होता है। अत: यदि उत्पत्ति का एक साधन स्थिर हो तथा अन्य साधन परिवर्तनशील हों, तो यह नियम लागू होगा, चाहे वह कृषि, उद्योग या अन्य क्षेत्र क्यों न हों।

नियम की क्रियाशीलता का स्थगन (Postponement of the Law) –

कृषि, उद्योग आदि क्षेत्रों में इस नियम की क्रियाशीलता को कुछ समय तक स्थगित किया जा सकता है, परन्तु इसे पूर्णरूपेण समाप्त नहीं किया जा सकता है। उदाहरणार्थ उन्नत बीज, कृषि कला में सुधार, परिवहन एवं संवादवाहन के साधनों में विकास आदि से इस नियम की क्रियाशीलता को कुछ समय के लिए स्थगित किया जा सकता है। इसी प्रकार उद्योगों में भी उत्पादन की नवीन तकनीक के आविष्कार के आधार पर इस नियम की क्रियाशीलता को कुछ समय के लिए स्थगित किया जा सकता है। विश्व में विकसित कहे जाने वाले राष्ट्रों ने नवीन तकनीक का उपयोग करके उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता को थोड़े समय के लिए स्थगित कर दिया है, परन्तु वे सदैव के लिए इसे रोक नहीं सकते हैं।

उत्पत्ति ह्रास नियम का महत्व
(Importance of Law of Diminishing Returns)

अर्थशास्त्र में उत्पत्ति ह्रास नियम का भारी महत्व है, क्योंकि यह नियम अनेक नियमों का आधार कहलाता है जैसे कि –

(1) **रिकार्डो का लगान सिद्धान्त** – इसी नियम पर आधारित है। यह नियम गहरी व विस्तृत खेती पर लागू होता है।

(2) **सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त** – उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता पर ही आधारित है। उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का पुरस्कार सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त पर ही निर्भर करता है।

(3) **उत्पत्ति ह्रास नियम ने नवीन आविष्कारों एवं खोजों को प्रोत्साहित किया है** – इस नियम की क्रियाशीलता को स्थगित करने के लिए ही विश्व में अनेक आविष्कार व अनुसन्धान किए जा रहे हैं और आज भी मनुष्य नवीन खोजों के लिए प्रयत्नशील है।

(4) **माल्थस का जनसंख्या सिद्धान्त** – जिसमें जनसंख्या खाद्य-सामग्री की अपेक्षा तेजी से बढ़ना बताया गया है, इसी नियम पर आधारित है।

(5) उत्पादन क्षेत्र में प्रतिस्थापन नियम एवं वितरण क्षेत्र में सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त इसी नियम पर आधारित है।

(6) जनता का जीवन-स्तर उत्पत्ति ह्रास नियम द्वारा ही प्रभावित होता है जैसे यदि किसी देश की जनसंख्या अन्य साधनों की अपेक्षा तीव्र गति से बढ़ती है तो वहाँ पर उत्पत्ति ह्रास नियम क्रियाशील माना जायेगा और वहाँ पर जनता का जीवन-स्तर निम्न कोटि का होगा।

(7) यह नियम अनेक आविष्कारों के लिए उत्तरदायी भी है। अनेक आविष्कार इस नियम की क्रियाशीलता को स्थगित करने हेतु किये गये हैं। इस नियम की प्रवृत्ति को लम्बे समय तक रोकने हेतु ही मानव नवीन स्त्रोतों के लिए प्रयत्नशील रहा है।

इस नियम के महत्व का वर्णन करते हुए **वीक्सटीड** का मत है कि "यह नियम स्वयं जीवन के नियम की भाँति व्यापक है।" इसी प्रकार से **केयरनेस** का मत है कि "उत्पत्ति ह्रास नियम के अभाव में अर्थशास्त्र के क्षेत्र में ऐसी क्रान्ति आ सकती है कि उससे ऐसा प्रतीत होगा जैसे कि मानव की प्रकृति में ही आमूल-चूल परिवर्तन आ गया है। आज कृषि एवं उद्योग दोनों में ही इस नियम का भारी महत्व है। इस नियम के महत्व के कारण ही ऐसे आविष्कार किए जा रहे हैं कि यह नियम स्थगित किया जा सके तथा उद्योगों को अधिक लाभ प्राप्त हो सके।"

प्रतिस्थापन सिद्धान्त
(Law of Substitution)

प्रत्येक उपभोक्ता का उद्देश्य अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करना है, उसी प्रकार से प्रत्येक उत्पादक का लक्ष्य न्यूनतम लागत पर अधिकतम लाभ प्राप्त करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु उपभोक्ता एवं उत्पादक दोनों ही प्रतिस्थापन नियम का सहारा लेते हैं। उत्पादक का प्रतिस्थापन नियम यह दर्शाता है – "उत्पत्ति के साधनों का आदर्श संयोग ऐसे अनुपात में माना जाता है, जहाँ पर प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पत्ति बराबर हो। सभी साधनों की सीमान्त उत्पत्ति बराबर होने के कारण इस सिद्धान्त को सम-सीमान्त उत्पत्ति नियम भी कहते हैं।"

प्रतिस्थापन सिद्धान्त उत्पादन में भी क्रियाशील होता है। **प्रो. लर्नर** के अनुसार, "उत्पादन में प्रत्येक साधन का मूल्य उसके सीमान्त उत्पादन के बराबर होना चाहिए। साधनों एवं वस्तुओं के मध्य अनुकूलतम अनुपात वह माना जाता है जो उसकी सीमान्त प्रतिस्थापन दर को उनके मूल्यों के बराबर कर देता है।"

नियम का स्पष्टीकरण – प्रत्येक उत्पादक इस प्रयास में लगा रहता है कि वह कम लाभदायक साधन के स्थान पर अधिक लाभदायक साधन का प्रयोग करे। उदाहरणार्थ यदि उत्पादक को यह ज्ञात हो जाए कि श्रमिकों के स्थान पर मशीनें अधिक लाभकारी रहेंगी तो वह श्रमिकों के स्थान पर मशीनों का प्रयोग करेगा। उत्पादक कम उत्पादन साधन का प्रतिस्थापन उस समय तक करता रहेगा जब तक कि दोनों साधनों की सीमान्त उत्पादकता उनके मूल्यों के बराबर नहीं हो जाती। अतः उत्पादक साम्य की स्थिति उस समय मानी जाएगी जब कि प्रत्येक साधन की सीमान्त उत्पादकता उसके मूल्य के बराबर हो जाती हो।

सूत्रानुसार, $\frac{\text{साधन 'अ' की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{'अ' का मूल्य}} = \frac{\text{साधन 'ब' की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{'ब' का मूल्य}}$

यदि 'अ' साधनों का मूल्य 'ब' साधनों से अधिक है तो 'अ' साधन की अधिक तथा 'ब' साधन की कम इकाइयों का प्रयोग किया जाएगा। प्रत्येक उत्पादक अ तथा ब की इकाइयों में उस समय तक परिवर्तन करता रहेगा जब तक कि दोनों साधनों का मूल्य बराबर न हो जाए।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण –

माना साधन X एवं Y की सीमान्त उपज का मूल्य एवं उस साधन का मूल्य निम्न प्रकार है –

साधन	प्रति इकाई मूल्य	सीमान्त उत्पादकता
X	50	90
Y	70	60

उपर्युक्त स्थिति सन्तोषजनक नहीं है, जिससे Y साधन को अधिक पारिश्रमिक प्राप्त हो रहा है, जबकि वह साधन उत्पत्ति में कम सहयोग दे रहा है। अतः उत्पादक Y साधन का उपयोग कम करके X साधन का उपयोग बढ़ायेगा। ऐसा करने से जहाँ एक ओर X साधन की सीमान्त उत्पादकता घटती जाएगी वहाँ दूसरी ओर Y साधन की सीमान्त उत्पादकता बढ़ती चली जाएगी। यह साधनों का प्रतिस्थापन उस समय तक चलता रहेगा, जब तक कि दोनों साधनों का मूल्य व सीमान्त उत्पादकता बराबर न हो जायें। इस स्थिति को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है –

साधन	प्रति इकाई मूल्य	सीमान्त उत्पादकता
X	50	50
Y	70	70

उपर्युक्त उदाहरण में प्रत्येक साधन का मूल्य उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होने से उत्पादकता साम्य की स्थिति में रहता है।

रेखाचित्र द्वारा स्पष्टीकरण –

इस स्थिति को निम्न रेखाचित्र की सहायता से समझाया जा सकता है –

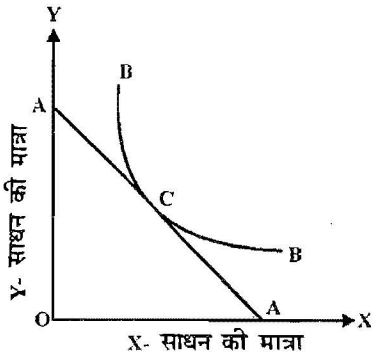

चित्र-6

चित्र-6 में BB वक्र रेखा समान उपज की रेखा है। इस वक्र रेखा का प्रत्येक बिन्दु X एवं Y साधनों के ऐसे संयोग को बताता है, जिनमें से प्रत्येक साधन समान उपज को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार BB वक्र-रेखा इसी सम्बन्ध को प्रदर्शित करने वाली वक्र रेखा है। यह वक्र रेखा प्रदर्शित करती है कि –

$$\frac{\text{साधन Y की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन X की सीमान्त उत्पादकता}}$$

इसी प्रकार से AA रेखा $\frac{\text{साधन Y का मूल्य}}{\text{साधन X का मूल्य}}$ प्रदर्शित करती है। चित्र-६ में C बिन्दु एक ऐसा साम्य बिन्दु है जहाँ पर BB तथा AA दोनों रेखाएँ मिलती हैं तथा एक-दूसरे को काटती हैं। C बिन्दु साम्य की निम्न स्थिति को प्रदर्शित करता है –

$$\frac{\text{साधन X की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन X का मूल्य}} = \frac{\text{साधन Y की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{साधन Y का मूल्य}}$$

अतः स्पष्ट है कि C एक ऐसा साम्य बिन्दु है, जहाँ पर साधन X एवं साधन Y की सीमान्त उत्पादकता एवं प्रति इकाई मूल्य बराबर है। यही वह बिन्दु है जहाँ पर उत्पादक साधनों का प्रतिस्थापन करना बन्द कर देगा तथा इस बिन्दु पर उसे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त होगी। इस बिन्दु के आगे या पीछे उत्पादन करने पर उत्पादक को अधिकतम लाभ प्राप्त नहीं होगा।

उत्पादन के नियम तथा लागत

(Laws of Returns and Costs)

उत्पादन के नियमों की लागत के सन्दर्भ में व्याख्या की जाये तो ज्ञात होता है कि श्रम व पूँजी अधिक लगाने पर कुल उत्पादन की तुलना में उत्पादन लागत धीमी गति से बढ़े तो लागत ह्रास नियम, यदि कुल उत्पादन समान दर से बढ़े तो लागत समता नियम तथा कुल उत्पादन कम गति से बढ़े तो लागत ह्रास नियम क्रियाशील होता है। लागतों में होने वाले इन परिवर्तनों को निम्न तालिका में दर्शाया गया है।

तालिका
उत्पादन के नियमों का लागत से सम्बन्ध

श्रम व पूँजी की इकाइयाँ	कुल लागत (रुपयों में)	औसत लागत (रुपयों में)	सीमान्त लागत (रुपयों में)	लागत नियम
1	10	10.0	10	
2	18	9.0	8	
3	24	8.0	6	लागत ह्रास नियम
4	28	7.0	4	
5	32	6.4	4	
6	36	6.0	4	लागत समता नियम
7	42	7.0	6	
8	50	6.25	8	
9	63	7.00	13	लागत वृद्धि नियम

उपरोक्त तालिका के अनुसार श्रम व पूँजी की तीसरी इकाई तक सीमान्त लागत कम होती है, 4 से 6 इकाई तक सीमान्त लागत समान है तथा 7 से 9 तक सीमान्त लागत बढ़ रही है ।

रेखाचित्र– उत्पादन के नियमों का लागत के साथ सम्बन्ध रेखाचित्र- 7 में दर्शाया गया है:–

चित्र–7 के अनुसार A से B तक लागत ह्रास नियम है, B से C तक लागत समता नियम तथा C से D तक लागत वृद्धि नियम क्रियाशील है ।

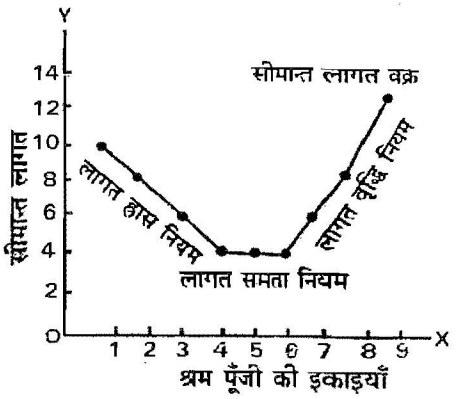

चित्र-7

संक्षेप में, उत्पादन के प्रारंभिक स्तर पर जब उत्पादन के साधनों का पूर्णतः उपयोग नहीं होता है, श्रम व पूँजी की अधिकाधिक इकाइयाँ लगाने से सीमान्त लागत कम होती जाती है, किन्तु जब उत्पादन के साधनों का पूर्णतः उपयोग हो जाता है तब उत्पादन के सभी साधनों में आदर्श संयोग होने से उत्पादन समता नियम लागू होता है । अन्त में, एक बिन्दु के बाद श्रम व पूँजी की अधिक इकाइयाँ लगाने से लागत बढ़ने लगती है । फलतः लागत वृद्धि का नियम लागू होता है ।

3.5 पैमाने का प्रतिफल (Returns to Scale)

उत्पादन या प्रतिफल के नियमों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उत्पादन के साधनों के अनुपात में परिवर्तन करने पर उत्पादन की मात्रा में भी परिवर्तन हो जाता है । साधन अनुपात में एक साधन को स्थिर रखकर अन्य साधनों को परिवर्तित करने पर या अन्य साधनों को स्थिर कर एक अन्य साधन को परिवर्तित करने पर उत्पादन की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन "बदलते हुए अनुपातों के नियम" (Laws of Variable Proportions) के अन्तर्गत किया जाता है । **बदलते हुए अनुपातों के नियम में उत्पादन के अल्पकालीन परिवर्तन का अध्ययन किया जाता है,** किन्तु दीर्घकाल में उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं । इसके साथ ही दीर्घकाल में उत्पादक को इतना समय मिल जाता है कि वह माँग के अनुरूप उत्पादन को समायोजित कर ले । **इस प्रकार साधनों के दीर्घकालीन समायोजन का अध्ययन "पैमाने के प्रतिफल"** (Return to Scale) **के अन्तर्गत किया जाता है ।**

अनुपात और पैमाने का अर्थ
(Meaning of Proportion and Scale)

पैमाने के प्रतिफल को समझने के पूर्व हमें दो शब्दों "अनुपात" तथा "पैमाने" का अर्थ समझ लेना चाहिये ।

अनुपात का अर्थ (Meaning of Proportion)– एक स्थिर साधन या साधनों के साथ परिवर्तनशील साधनों के संयोग को "अनुपात" कहते हैं । प्रत्येक संयंत्र (प्लान्ट) अनुपातों का योग होता है, अर्थात् एक संयंत्र में स्थिर साधनों, जैसे–मशीनें, भवन आदि के साथ परिवर्तनशील साधन, जैसे श्रम, कच्चा माल, औजार, मेज, कुर्सियाँ आदि शामिल होते हैं । इन स्थिर एवं परिवर्तनशील साधनों को निश्चित अनुपात में मिलाया जाता है ताकि अधिकतम उत्पादन हो सके । जब कोई फर्म स्थिर व परिवर्तनशील साधनों को बढ़ाकर उत्पादन बढ़ाती है तो उनके अनुपातों में परिवर्तन होने से एक सीमा के बाद उत्पादन ह्रास नियम लागू हो जाता है । अन्य शब्दों में 'उत्पादन ह्रास नियम' का आधार अनुपातों में परिवर्तन है ।

अनुपात का समउत्पादन वक्र द्वारा प्रदर्शन–

चित्र–1 में OY अक्ष पर पूँजी तथा OX अक्ष पर श्रम मापा गया है । बिन्दु P से PK रेखा OX के समानान्तर खींची गई है जो अनुपात रेखा है । तीन समोत्पाद वक्र क्रमशः IP, IP_1, IP_2 खींची गई जो अनुपात रेखा PK को क्रमशः N, N_1, N_2 पर काटती है । उत्पादन बढ़ाने के लिए अनुपात रेखा PK को बाएँ से दाएँ बढ़ाते हैं तब Y साधन पूँजी की OP मात्रा PK स्थिर रहती

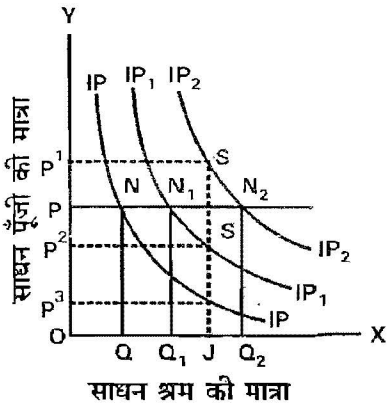

चित्र–1

हैं, किन्तु X साधन श्रम की मात्रा में सतत् वृद्धि होती जाती है। यह वृद्धि OQ से बढ़कर OQ_1 OQ_2 हो जाती है। संक्षेप में, उत्पादन बढ़ने पर स्थिर साधन Y (पूँजी) का परिवर्तनशील साधन X (श्रम) के साथ अनुपात बदलता रहता है। साधन X (श्रम) को स्थिर मानकर अनुपात रेखा JS साधन Y (पूँजी) के समानान्तर खींचे तो साधन Y (पूँजी) में होने वाली वृद्धि OP_3, OP_2 तथा OP_1 होगी।

अन्य शब्दों में, Y के किसी बिन्दु OX रेखा के समानान्तर खींची गई रेखा या X अक्ष के किसी बिन्दु से OY रेखा के समानान्तर रेखा दो साधनों के भिन्न-भिन्न अनुपातों (Proportions) को प्रदर्शित करती है।

पैमाने का अर्थ (Meaning of Scale) – चूँकि उत्पादन के सभी साधनों में दीर्घकाल में परिवर्तन किया जा सकता है। अतः **पैमाने का विचार फर्म के दीर्घकालीन परिवर्तन से सम्बन्ध रखता है**। दीर्घकाल में ही फर्म द्वारा माँग के अनुरूप उत्पादन के संयंत्रों के पैमाने में परिवर्तन किया जा सकता है। जब उत्पादन के साधनों को स्थिर रखते हुए, सभी साधनों को एक ही अनुपात में बढ़ाया जाता है तो उसे "पैमाना" कहते हैं। इस तरह यदि हम उत्पादन के सभी साधनों को दुगुना या पाँच गुना करते हैं तो उत्पादन का पैमाना भी दुगना या पाँच गुना हो जाता है।

पैमाने के-विचार की समोत्पाद वक्रों द्वारा व्याख्या :-

चित्र-2 में मूल बिन्दु O से रेखा OK खींची गई है। यह रेखा "पैमाना" को बताती है। अतः इसे पैमाना रेखा OK कहेंगे। रेखा OK जब बायें से दायें चलती है तो X (श्रम) तथा Y (पूँजी) दोनों साधनों की निरपेक्ष मात्राओं में वृद्धि होती है। इस प्रकार उत्पादन IP, IP_1 एवं IP_2 होता है। रेखा OK पर दोनों साधनों X और Y (श्रम और पूँजी) का अनुपात समान रहता है, जिसे निम्न समीकरण में लिखा जा सकता है–

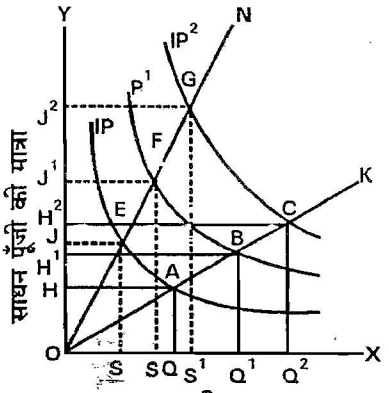

चित्र-2

$$\frac{\text{साधन } Y}{\text{साधन } X} = \frac{AQ(=OH)}{OQ} = \frac{BQ_1(=OH_1)}{OQ_1} = \frac{CQ_2(=OH_2)}{OQ_2}$$

इस प्रकार OK रेखा पर X तथा Y साधनों की निरपेक्ष मात्राएँ तो बढ़ी हैं किन्तु उनका अनुपात समान रहता है। इसी प्रकार चित्र-2 में मूल बिन्दु O से ON रेखा खींचें, जो पैमाने को बताती है। अतः यह रेखा भी "पैमाना रेखा" (Scale Line) कहलायेगी। स्मरण रहे कि रेखा OK तथा रेखा ON दोनों X तथा Y साधनों के अनुपात की दृष्टि से भिन्न हैं, क्योंकि रेखा OK पर IP उत्पादन के लिए दोनों साधनों का अनुपात AQ (=OH)+ OQ है जबकि उतने ही उत्पादन के लिए ON रेखा पर दोनों साधनों का अनुपात ES (=JO)+O S है।

पैमाने का प्रतिफल का अर्थ (Meaning of Returns to Scale)

हम जानते हैं कि अल्पकाल में उत्पादन के साधन स्थिर रहते हैं, किन्तु दीर्घकाल में साधनों में परिवर्तन किया जा सकता है। अर्थशास्त्र में दीर्घकालीन उत्पादन की समस्या फर्म के पैमाने की है। जब दीर्घकाल में फर्म के "पैमाने के प्रतिफल" से उत्पादन की मात्रा पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन किया जाता है तो उसे "पैमाने का प्रतिफल" कहते हैं। अन्य शब्दों में, **"जब कोई फर्म अपने उत्पादन के सभी साधनों की मात्राओं में "समान अनुपात" या एक ही अनुपात में एक साथ वृद्धि करती है और परिणामस्वरूप समस्त उत्पादन की मात्रा में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें, "पैमाने का प्रतिफल" कहते हैं।"**

उत्पादन के पैमाने के प्रतिफल की विशेषताएँ :-

(i) उत्पादन के सभी साधनों की मात्रा में वृद्धि की जाती है।

(ii) उत्पादन के सभी साधनों की मात्रा में एकसी या समान अनुपात में वृद्धि की जाती है।

(iii) साधनों की वृद्धि से फर्म के उत्पादन की मात्रा में जो परिवर्तन होता है उसे "पैमाने का प्रतिफल" कहते हैं।

पैमाने के प्रतिफल की मान्यताएँ

पैमाने के प्रतिफल की निम्न मान्यताएँ हैं– (1) उद्यमी साधन स्थिर रहते हैं अन्य सभी साधन परिवर्तनशील होते हैं। (2) श्रमिक उपलब्ध संयंत्रों से ही काम करते हैं। (3) फर्म में उत्पादन के पैमाने को बढ़ाते समय तकनीकी परिवर्तन नहीं होता। (4) साधनों में पूर्ण प्रतियोगिता रहती है। (5) उत्पादन का परिमाणात्मक माप होता है।

NOTES

पैमाने के प्रतिफल की व्याख्या – पैमाने के प्रतिफल की व्याख्या निम्नलिखित दो रूपों में की जा सकती है, (अ) पैमाने के प्रतिफल के नियम की तालिका द्वारा व्याख्या और (ब) पैमाने के प्रतिफल के नियम की समोत्पादक रेखाओं द्वारा व्याख्या। इनका विस्तृत विवरण निम्न प्रकार है:-

(अ) पैमाने के प्रतिफल के नियम की तालिका द्वारा व्याख्या

"दीर्घकाल में साधनों का समान अनुपात में परिवर्तन करने से उत्पादन की मात्रा में जो परिवर्तन होता है उसे पैमाने का प्रतिफल का नियम कहते हैं।" इस नियम के अनुसार जब सभी साधनों को एक ही अनुपात में बढ़ाया जाता है तब उत्पादन के पैमाने में वृद्धि होने से उत्पादन की मात्रा या प्रतिफल की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं–

(1) पैमाने के बढ़ते प्रतिफल की अवस्था (Increasing Return to Scale)

(2) पैमाने के समान प्रतिफल की अवस्था (Constant Return to Scale)

(3) पैमाने के घटते प्रतिफल की अवस्था (Diminishing Return to Scale)

प्रतिफल की उपर्युक्त अवस्थाओं को निम्न उदाहरण से समझा जा सकता है–

तालिका – 1

क्रम	साधनों के अनुपात में वृद्धि	कुल उत्पादन (किलो में) या कुल आय TP or TR	सीमान्त उत्पादन (किलो में आय) MP or MR	प्रतिफल की अवस्था
1	1 श्रमिक + 3 हजार रुपये	5	5	वृद्धिमान प्रतिफल
2	2 श्रमिक + 6 हजार रुपये	11	6	
3	3 श्रमिक + 9 हजार रुपये	18	7	
4	4 श्रमिक + 12 हजार रुपये	26	8	
5	5 श्रमिक + 15 हजार रुपये	34	8	समता प्रतिफल
6	6 श्रमिक + 18 हजार रुपये	42	8	
7	7 श्रमिक + 21 हजार रुपये	49	7	
8	8 श्रमिक + 24 हजार रुपये	55	6	ह्रासमान प्रतिफल
9	9 श्रमिक + 27 हजार रुपये	60	5	

तालिका के अनुसार 1 श्रमिक +3 हजार रुपयों से कुल उत्पादन 5 किलो होता है। साधनों की मात्रा दुगुनी करने पर कुल उत्पादन 11 किलो होता है। यह वृद्धि दुगुनी से अधिक है। उत्पादन का पैमाना तीन गुणा करने पर कुल उत्पादन 18 किलो होता है जो तिगुने से भी अधिक है। इस दशा में एक से तीन गुणा उत्पादन का पैमाना बढ़ाने पर कुल उत्पादन या कुल प्रतिफल (TP or TR) सहित सीमान्त उत्पादन या सीमान्त प्रतिफल (MP or MR) बढ़ती दर से बढ़ रहा है। यह बढ़ते प्रतिफल की अवस्था है। उत्पादन का पैमाना 4 से 6 गुणा बढ़ाने पर कुल उत्पादन या प्रतिफल तो बढ़ता है किन्तु सीमान्त उत्पादन स्थिर (केवल 8 किलो) रहता है, यह स्थिर प्रतिफल की अवस्था है। यदि उत्पादन 7 गुणा से अधिक बढ़ाया जाता है तो कुल उत्पादन (TP) घटती दर से बढ़ता है तथा सीमान्त उत्पादन (MP) या सीमान्त प्रतिफल (MR) क्रमशः घटकर 7, 6, 5 किलो हो जाता है। यह उत्पादन के घटते प्रतिफल की अवस्था है।

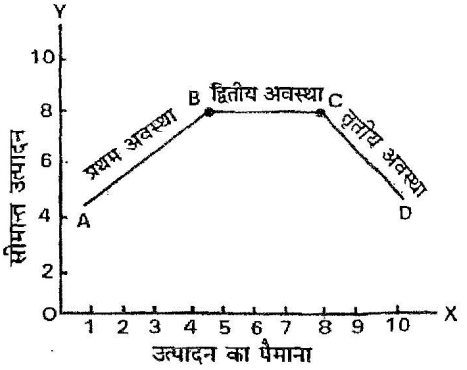

चित्र-3

चित्र द्वारा व्याख्या – तालिका 1 में दर्शाये गये समंकों को चित्र-3 द्वारा प्रदर्शित करने पर ज्ञात होता है कि A से B तक प्रथम अवस्था अर्थात् पैमाने के बढ़ते प्रतिफल की अवस्था

है । B से C तक पैमाने का स्थिर प्रतिफल की अवस्था है तथा C से D तक पैमाने के घटते प्रतिफल की अवस्था है ।

NOTES

(ब) पैमाने के प्रतिफल की समोत्पादक रेखाओं द्वारा व्याख्या–

(1) पैमाने का बढ़ता प्रतिफल (Increasing Return to Scale) –

किसी फर्म के द्वारा उत्पादन के सभी साधनों की मात्रा में वृद्धि करने पर उत्पादन की मात्रा में तुलनात्मक अधिक अनुपात में वृद्धि होती है तो उसे पैमाने का बढ़ता प्रतिफल कहते हैं । उदाहरणार्थ- माना कि साधनों में 5% की वृद्धि की जाती है जिसके फलस्वरूप उत्पादन में 8% की वृद्धि होती है तो इसे पैमाने का बढ़ता प्रतिफल की अवस्था कहते हैं ।

चित्र-4 में OX अक्ष पर श्रम तथा OY पर पूँजी को मापा गया है । OP रेखा पैमाना रेखा है जो श्रम एवं पूँजी दोनों साधनों को बराबर भागों में बाँटती है । IP1,IP2,IP3,IP4 सम उत्पादन रेखाएँ हैं जिन पर क्रमशः 50,100,150,200 इकाइयाँ उत्पन्न होती हैं । रेखाचित्र से यह स्पष्ट होता है कि उत्पादन में वृद्धि करने से श्रम एवं पूँजी का प्रयोग क्रमशः घटता जाता है । यही कारण है कि अतिरिक्त उत्पादन के लिए श्रमिकों की संख्या में कमी आ रही है, अर्थात L3 L4 संख्या में L2 L3 से तथा L2 L3 संख्या L1 L4 से छोटी है । यही स्थिति पूँजी की मात्रा की है । संक्षेप में प्रत्येक अगली 50 वस्तुओं के उत्पादन पर साधनों की मात्रा कम होती जाती है जो यह दर्शाती है कि उत्पादन में बढ़ते प्रतिफल का नियम लागू हो रहा है ।

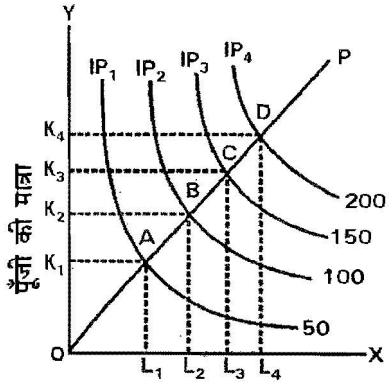

चित्र-4

बढ़ता प्रतिफल लागू होने के कारण

(1) **साधनों की अविभाज्यता** – **प्रो. चेम्बरलिन** का मत है कि उत्पादन के साधनों, जैसे मशीनों, प्रबन्धक, श्रमिक आदि को एक सीमा के बाद विभाजित किया जा सकता है । अतः उत्पादन की प्रारंभिक दशा में इन साधनों का कम प्रयोग होता है । उत्पादन का पैमाना बढ़ाने पर अविभाज्य साधनों का पूर्ण उपयोग होने लगता है जिससे प्रति इकाई लागत कम हो जाती है, अर्थात पैमाने का बढ़ता प्रतिफल लागू हो जाता है ।

(2) **श्रम विभाजन एवं विशिष्टीकरण**– उत्पादन का पैमाना बढ़ाने पर श्रम विभाजन अधिक सूक्ष्म हो जाता है जिससे श्रमिकों में विशिष्टीकरण के गुण आ जाते हैं । इसके परिणामस्वरूप श्रमिकों की उत्पादकता बढ़ जाती है और फर्म के बढ़ते प्रतिफल का नियम लागू हो जाता है ।

(3) **उन्नत मशीनों का प्रयोग**– उत्पादन का पैमाना बढ़ने पर तकनीकी दृष्टि से उन्नत मशीनों का उपयोग होने लगता है जिससे प्रति इकाई लागत कम हो जाती है और बढ़ते प्रतिफल का नियम लागू हो जाता है ।

(4) **आकार की कुशलता– प्रो. बामोल** (Baumol) का मत है कि उत्पादन के पैमाने में वृद्धि होने पर उसमें आकार संबंधी कुशलता आ जाती है । उदाहरण के लिए यदि तेल निकालने के पाइप का व्यास (diameter) दुगुना कर दिया जाये तो तेल का उत्पादन दुगुनी गति से होगा । इससे प्रति इकाई लागत कम हो जायेगी और बढ़ते प्रतिफल का नियम लागू हो जायेगा ।

(5) **वित्तीय बचतें**– बड़े आकार की फर्मों की साख बाजार में अधिक होती है जिससे उन्हें कम ब्याज दर पर ऋण मिल जाता है । इन फर्मों के ऋण पत्र, शेयर्स, बाण्ड भी सरलता से भारी मात्रा में बिक जाते हैं, जिससे कम पर लागत पूँजी उपलब्ध हो जाती है ।

(6) **बाहरी मितव्ययिताएँ**– इन फर्मों को श्रमिक कम व्यय पर मिल जाते हैं । इनके अनेक सहायक उद्योग पनप जाते हैं । प्रशिक्षण एवं अनुसंधान कम से कम लागत पर होता है । सस्ता परिवहन एवं बैंकिंग सेवाएँ प्राप्त होती हैं । इससे लागत कम हो जाती है ।

(7) **विपणन सम्बन्धी मितव्ययिताएँ**– बड़ी फर्मों को अपना माल बेचना आसान रहता है। वे नये बाजार खोज सकती हैं। पुराने बाजारों की माँग में परिवर्तन का अनुमान लगा सकती हैं। बाजारों में मशीनें, कोयला, विद्युत आदि सस्ती कीमत पर क्रय करके उत्पादन लागत को घटा सकती हैं।

(2) पैमाने का समता या स्थिर प्रतिफल (Constant Return to Scale)

जब उत्पादन के दो या सभी साधनों को समान अनुपात में बढ़ाने से उत्पादन की मात्रा में भी समान अनुपात में वृद्धि होती है तो इस दशा को पैमाने का समता या स्थिर प्रतिफल कहते हैं। उदाहरण के लिए यदि उत्पादन के साधनों में 10% की वृद्धि करने पर उत्पादन में भी 10% की वृद्धि होती है तो इसे पैमाने का समता या स्थिर नियम कहते हैं। चित्र–5 में यह तथ्य स्पष्ट है। चित्र में OP पैमाने की रेखा है जिसे IP1, IP2, IP3, IP4, रेखाएँ चार समान टुकड़ों OA = AB = BC = CD में विभाजित करती हैं। अर्थात् श्रम और पूँजी का समान मात्राओं में प्रयोग करने पर उत्पादन की मात्रा में समान वृद्धि होती है। इससे उत्पादन में हर बार 50–50 की वृद्धि होती है जो पैमाने के समता या स्थिर प्रतिफल को बताता है।

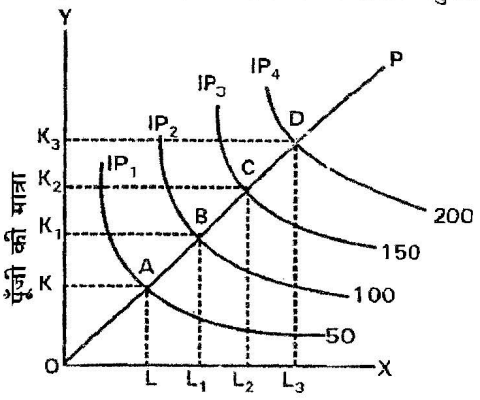

चित्र–5

(3) पैमाने का घटता प्रतिफल (Diminishing Return to Scale) –

जब उत्पादन के सभी साधनों में समान अनुपात में वृद्धि करने पर, उत्पादन की मात्रा में समान अनुपात में कम वृद्धि होती है, तब इस दशा को पैमाने का घटता प्रतिफल कहते हैं। अन्य शब्दों में, पैमाने का घटता प्रतिफल वह स्थिति है जब साधनों में जिस अनुपात में वृद्धि की जाती है उनकी तुलना में उत्पादन की मात्रा में होने वाली आनुपातिक वृद्धि कम और कम होती जाती है। उदाहरण के लिए यदि उत्पादन के साधनों में 25% वृद्धि की जाती है तो इसके परिणामस्वरूप उत्पादन में केवल 20% की वृद्धि होती है। यह दशा पैमाने के घटते प्रतिफल की है। रेखाचित्र–6 में इस दशा को स्पष्ट किया जा सकता है–

संलग्न चित्र में IP1, IP2, IP3, IP4 सम उत्पाद रेखाएँ हैं तथा OP रेखा पैमाना रेखा है। यह रेखा OA, AB, BC, CD चार भागों में विभाजित है। पैमाने के घटते प्रतिफल के कारण ही पैमाना रेखा OP को काटने वाली रेखा सम–उत्पाद वक्रों की लम्बाई सतत् बढ़ती जा रही है, अर्थात् CD भाग BC से बड़ा है, BC भाग AB से बड़ा है और AB भाग OA से बड़ा है। इसका अर्थ यह है कि उत्पादन की प्रत्येक अगली 50 इकाइयों पर श्रम और पूँजी दोनों साधनों की अधिकाधिक मात्राएँ लगानी पड़ती हैं। इस तरह जब समान मात्रा में उत्पादन बढ़ाने पर जब अधिक और अधिक साधनों को लगाया जाता है तो उसे पैमाने का घटता प्रतिफल कहते हैं।

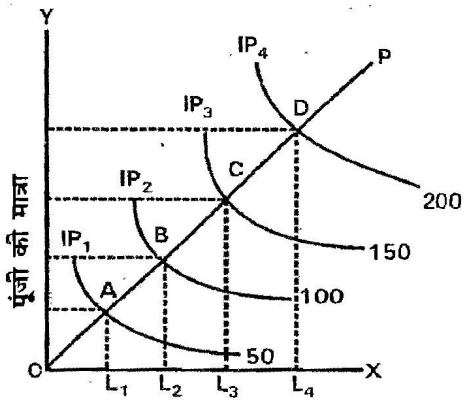

चित्र–6

पैमाने का घटता प्रतिफल लागू होने के कारण

पैमाने के घटते प्रतिफल के लागू होने के लिए विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने अलग–अलग कारण दिये हैं। फिर भी हम सभी विचारकों के द्वारा दिये कारणों को मोटे रूप से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं–

(अ) आन्तरिक मितव्ययिताओं में कमी– (i) अविभाज्य साधनों की मितव्ययिताओं में कमी:– एक सीमा के बाद अविभाज्य साधनों की कुशलता एवं उत्पादकता कम हो जाती है, जिससे उत्पादन में पैमाने का घटता प्रतिफल लागू हो जाता है। **(ii) उत्पादन की तकनीक सम्बन्धी मितव्ययिता में कमी:–** प्रत्येक प्लान्ट की एक ऐसी अवस्था होती है

जहाँ वह न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन करता है । यह उत्पादन की आदर्श दशा होती है । इस आदर्श दशा के आगे उत्पादन करने पर उत्पादन की तकनीक कम उत्पादन देने लगती है और पैमाने का घटता प्रतिफल प्रारंभ हो जाता है । (iii) **प्रबंधकीय मितव्ययिता में कमी** :– प्लान्ट का पैमाना बढ़ाने पर एक सीमा के बाद उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं और उपक्रियाओं पर नियंत्रण रखना और उनमें समन्वय बनाये रखना एक प्रबंधक के लिए कठिन हो जाता है । श्रम विभाजन, विशिष्टीकरण, विवेकीकरण आदि के लाभ समाप्त हो जाते हैं । प्रबंधक व्यवस्था में सम्पर्क की कमी आ जाती है, इससे उत्पादन कम होने लगता है और पैमाने का घटता प्रतिफल प्रारंभ हो जाता है । (iv) **अन्य कारण** :– फर्म को एक सीमा के बाद पूँजी, श्रम, उत्पादन तकनीक, कच्चा माल आदि सभी आन्तरिक साधन महँगे मिलने लगते हैं इससे प्रति इकाई लागत बढ़ जाती है तथा पैमाने का घटता प्रतिफल लागू हो जाता है ।

(ब) बाहरी मितव्ययिताओं में कमी :–

(i) **केन्द्रीयकरण की मितव्ययिताओं में कमी** – एक प्लान्ट का पैमाना बढ़ाने पर एक दशा के बाद परिवहन के साधन, कच्चा माल, साख की सुविधाएँ आदि से प्राप्त केन्द्रीयकरण सम्बन्धी मितव्ययिताएँ समाप्त हो जाती हैं । उसके लिए प्रमुख एवं सहायक उद्योगों में उत्पादन करना कठिन हो जाता है जिससे पैमाने का घटता प्रतिफल मिलने लगता है ।

(ii) **अनुसंधान, प्रचार सम्बन्धी व्यय में वृद्धि**– उद्योग में पैमाने को बढ़ाने के लिए लागत कम करने सम्बन्धी अनुसंधान महँगे हो जाते हैं, नये बाजारों की माँग के अनुमान गलत हो जाते हैं, विज्ञापन, शोरूम आदि पर खर्च बढ़ जाता है जिससे पैमाने का घटता प्रतिफल मिलने लगता है ।

इस प्रकार एक आदर्श बिन्दु के बाद उत्पादन बढ़ाने पर फर्म को "पैमाने के घटते प्रतिफल" का सामना करना पड़ता है । इससे प्रति इकाई लागत बढ़ जाती है ।

पैमाने के बदलते प्रतिफल
(Varying Returns to Scale)

पैमाने के विभिन्न प्रतिफलों की उत्पादन फलन द्वारा व्याख्या की जा सकती है । उत्पादन की प्रारंभिक दशा में उत्पादन का पैमाना बढ़ाने पर कुशल श्रमिक तथा विशिष्ट व उन्नत मशीनें लगाई जाती हैं जिससे उत्पादन बढ़ती हुई दर से बढ़ता है । इस दशा में **"पैमाने के बढ़ते प्रतिफल का नियम"** लागू होता है । इसके बाद **"पैमाने के समता प्रतिफल का नियम"** और अन्त में फर्म का आकार बहुत अधिक बढ़ जाने पर उत्पादन के साधनों का अनुकूलतम संयोग टूट जाता है, अमितव्ययिताएँ बढ़ जाती हैं जिससे **"उत्पादन के घटते प्रतिफल का नियम"** लागू होने लगता है । इन तीनों दशाओं को रेखाचित्र– 7 द्वारा दर्शाया गया है–

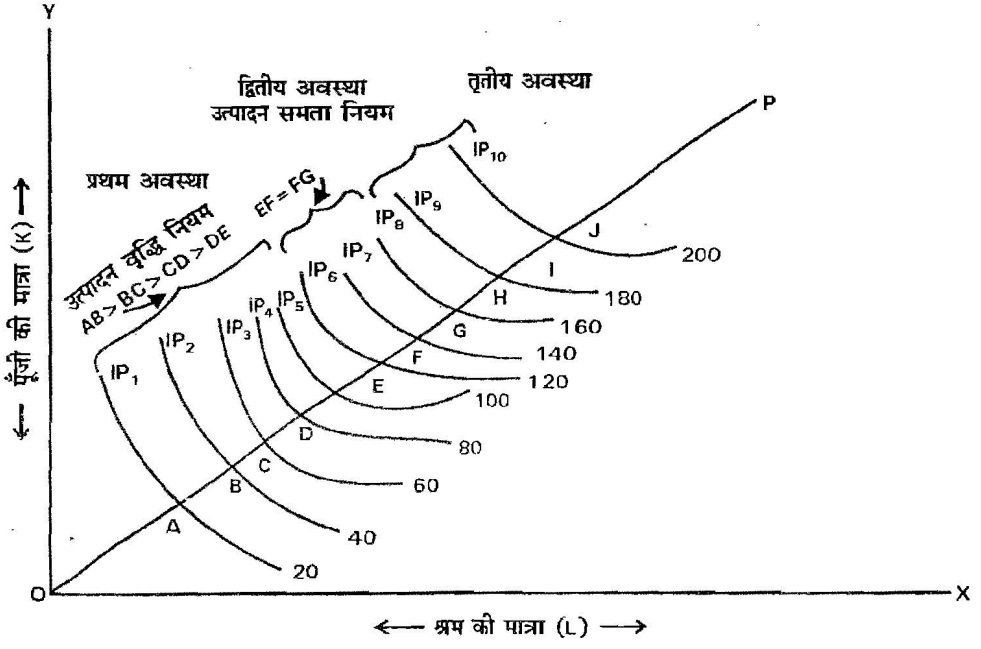

चित्र–7

NOTES

रेखाचित्र- 7 के अनुसार OX अक्ष पर श्रम एवं OY अक्ष पर पूँजी को दर्शाया गया है । IP_1 से IP10 तक समोत्पाद वक्र हैं । ये सभी वक्र उत्पादन की क्रमशः 20 अतिरिक्त इकाइयों की वृद्धि को बताती है । OP पैमाने की रेखा है । इस पैमाने की रेखा पर A,B,C,D,E,F,G, H,I,J के साम्य बिन्दु हैं जहाँ समोत्पादक वक्र OP रेखा को काटते हैं । चित्र में AB, BC, CD, DE रेखाओं की दूरी क्रमशः बढ़ती हुई दिखाई गई है अर्थात् AB > BC > CD > DE इस प्रकार A से E तक उत्पादन का बढ़ता प्रतिफल लागू हो रहा है । EF से FG तक उत्पादन का स्थिर प्रतिफल नियम लागू हो रहा है क्योंकि यहाँ EF एवं FG की दूरी बराबर है । लेकिन G से J तक घटता प्रतिफल नियम लागू हो रहा है क्योंकि GH < HI < IJ. संक्षेप में A से E तक बढ़ता प्रतिफल नियम E से G तक स्थिर प्रतिफल नियम और G से J तक घटता प्रतिफल नियम लागू होता है ।

3.5 सारांश

अर्थशास्त्रियों ने सांख्यिकीय विधियों की सहायता से पड़तों एवं उत्पादन के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन किया है जिनमें कॉब उगलस उत्पादन प्रकार्य तथा स्थानांतरित सीमा उत्पादन प्रकार्य विशेष उल्लेखनीय है । उत्पादन के प्रारंभिक स्तर पर जब उत्पादन के साधनों का पूर्णतः उपयोग नहीं होता है, श्रम व पूँजी की अधिकाधिक इकाइयाँ लगाने से सीमान्त लागत कम होती जाती है, किन्तु जब उत्पादन के साधनों का पूर्णतः उपयोग हो जाता है तब उत्पादन समता नियम लागू होता है, अन्त में, एकिबन्दु के बाद श्रम व पूँजी की आर्थिक इकाइयाँ लगाने से लागत बढ़ने लगती है । फलतः लागत वृद्धि का नियम लागू होता है ।

3.6 शब्दावली

उत्पादन प्रकार्य, परिवर्तशील अनुपात, पैमाना

बोध प्रश्न

1. उत्पादन फलन से आप क्या समझते हैं । उत्पादन फलन की विशेषताएँ बतलाइये ।

.....

.....

.....

2. परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की विवेचना कीजिए । इसके लागू होने की दशाओं को समझाइए ।

.....

.....

.....

3. पैमाने के प्रतिफल से आप क्या समझते हैं । उचित उदाहरणों द्वारा इस धारणा को स्पष्ट कीजिए ।

.....

.....

.....

3.7 अभ्यास प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. उत्पादन फलन से क्या समझते हैं ? उत्पादन फलन की विशेषताएँ बतलाइए ।
   What do you mean by Production Function? Mention its characteristics.

2. कॉब-डगलस उत्पादन फलन एवं CES उत्पादन फलन किस प्रकार पैमाने के स्थिर प्रतिफल पर आधारित है? समझाइए।
How are Cobb-Douglas Production Function and CES Production functions based on Constant returns to scale? Explain.
3. उत्पादन ह्रास नियम क्या है? इस नियम को समझाइये।
What is the law of diminishing returns? Explain.
4. उत्पादन ह्रास नियम की विवेचना कीजिए। चित्रों की सहायता से बताइये कि यह किस प्रकार से क्रियाशील होता है?
5. परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की विवेचना कीजिए। इसके लागू होने की दशाओं को समझाइये।
Discuss the law of variable proportions and explain the conditions of its applicability.
(**संकेत** – उक्त सभी प्रश्न समान हैं। अत: प्रथम भाग में उत्पादन ह्रास नियम की प्राचीन व नवीन परिभाषा दीजिए। दूसरे भाग में उदाहरण व चित्र द्वारा नियम को समझाइये। तीसरे भाग में यह बताइये कि यह किन-किन क्षेत्रों में लागू होता है।
6. "उत्पादन ह्रास नियम केवल कृषि में ही लागू नहीं होता, बल्कि यह सभी प्रकार के जटिल उत्पादन के लिए सत्य है।" इसकी विवेचना कीजिए और उत्पत्ति ह्रास नियम को बतलाइये।
The laws of diminishing returns is not applicable to agriculture alone, it is valid for complex production." Discuss and state. The law of diminishing Returns.
7. उत्पादन वृद्धि नियम की व्याख्या कीजिए। इसके लागू होने के कारणों को समझाइये। क्या यह नियम असीमित रूप से लागू होता है?
Discuss the law of increasing return. Explain its conditions for applicability. Is it applicable forever?
8. पैमाने के प्रतिफल से आप क्या समझते हैं? उचित उदाहरणों द्वारा इस धारणा को स्पष्ट कीजिये।
What do you mean by returns to scale? Explain the concept by giving suitable examples.
9. पैमाने के प्रतिफल से आप क्या समझते हैं? पैमाने के प्रतिफल के विभिन्न नियमों की व्याख्या रेखाचित्रों के माध्यम से कीजिये।
What do you mean by returns to scale? Explain with diagrams various laws related to returns to scale.
10. पैमाने के प्रतिफल का अर्थ बताइये। बढ़ते हुए प्रतिफल के कारणों पर प्रकाश डालिये।
Give the meaning of "Returns to scale." Explain the causes of increasing return.
11. पैमाने के घटते प्रतिफल को समझाइये। उन कारणों की भी व्याख्या कीजिये जिससे यह नियम लागू होता है।

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. उत्पादन फलन से क्या समझते हैं?
What do you mean by Production Function?
2. रेखीय एवं समरूप उत्पादन फलन का अर्थ बतलाइए।
Mention the meaning of Linear and homogeneous production function.
3. कॉब-डगलस उत्पादन फलन क्या है?
What is Cobb-Douglas Production Function?
4. CES उत्पादन फलन से क्या समझते हैं?
What do you mean by CES Production function?
5. 'कॉब-डगलस' उत्पादन फलन स्थिर पैमाने के प्रतिफल पर आधारित है, कैसे?
Cobb-Douglas Production Function depends upon Constant Returns to scale. How?
6. उत्पादन ह्रास नियम की परिभाषा दीजिए।
7. परिवर्तनशील साधनों के अनुपात का एक उदाहरण दीजिए।

8. उत्पादन ह्रास नियम के लागू होने की शर्तें बताइये।
9. उत्पादन वृद्धि नियम की परिभाषा दीजिए!
10. उत्पादन के पैमाने के प्रतिफल की क्या विशेषताएँ हैं?
11. बढ़ते प्रतिफल का नियम क्या है?
12. घटते प्रतिफल के नियम को स्पष्ट कीजिए।
13. किसी फर्म में घटता प्रतिफल क्यों लागू होता है? बताइये।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. अल्पकालीन उत्पादन फलन है–

(अ) परिवर्तनशील अनुपात का नियम (ब) पैमाने का प्रतिफल

(स) (अ) व (ब) दोनों (द) इनमें से कोई नहीं

2. रेखीय समरूप उत्पादन फलन सम्मिलित है–

(अ) बढ़ते पैमाने के प्रतिफल (ब) घटते पैमाने के प्रतिफल

(स) स्थिर पैमाने के प्रतिफल (द) इनमें से कोई नहीं

3. कॉब-डगलस उत्पादन फलन है–

[जहाँ, L = श्रम, C = पूँजी तथा $0 < a < 1$]

(अ) $Q = KL^{\alpha} C^{1-\alpha}$ (ब) $Q = KL^{1-x} \alpha C^{\alpha}$

(स) $Q = KL\, C^{\alpha-1}$ (द) $Q = KL^{\alpha-1} C^{\alpha}$

4. दीर्घकालीन उत्पादन फलन का सम्बन्ध है–

(अ) परिवर्तनशील अनुपात का नियम (ब) पैमाने के प्रतिफल

(स) उत्पत्ति ह्रास नियम (द) इनमें से कोई नहीं

5. कॉब-डगलस उत्पादन फलन समरूप फलन है:

(अ) प्रथम घात वाला (ब) द्वितीय घात वाला (स) तृतीय घात वाला (द) चतुर्थ घात वाला

6. अल्पकालीन उत्पादन फलन में साधनों को बदलता है–

(अ) पैमाना(ब) अनुपात(स) अ व ब दोनों(द) इनमें से कोई नहीं

7. पैमान का विचार–

(अ) अति अल्पकालीन है(ब) अल्पकालीन है (स) दीर्घकालीन है (द) इनमें से कोई नहीं

8. कौन-सा कथन सत्य है–

(अ) ऋजु रेखाएँ उत्पादन आर्थिक क्षेत्र की सीमाएँ हैं।

(ब) ऋजु रेखाओं के बीच का क्षेत्र उत्पादन के लिए लाभप्रद होता है।

(स) समोत्पाद वक्र का वह भाग जो ऋजु रेखा के बीच में होता है लाभ का क्षेत्र होता है।

(द) उपर्युक्त सभी सत्य।

9. प्रथम घात वाला समरूप फलन (Homogeneous Function of Degree one) कौन-सा है–

(अ) अल्पकालीन उत्पादन फलन (ब) दीर्घकालीन उत्पाद फलन

(स) कॉब-डगलस उत्पादन फलन (द) इनमें से कोई नहीं

10. "उत्पादन ह्रास नियम यह बताता है कि उत्पादन के किसी एक साधन की मात्रा को स्थिर रखा जाये तथा अन्य साधनों की मात्रा में उत्तरोत्तर वृद्धि की जाये तो एक सीमा के बाद उत्पादन में घटती हुई दर से वृद्धि होगी।" इस कथन का लेखक है–

(अ) मार्शल (ब) चैपमेन (स) श्रीमती जॉन राबिन्सन (द) स्टीगलर

11. परिवर्तनशील अनुपातों में नियम की लागत के आधार पर कितनी अवस्थाएं हैं-
(अ) 2 (ब) 3 (स) 4 (द) 5

12. उत्पादन ह्रास नियम लागू होने पर प्रति इकाई लागत-
(अ) बढ़ती है (ब) स्थिर रहती है (स) घटती है (द) उपरोक्त सभी गलत हैं

13. उत्पादन ह्रास नियम लागू होने का मूल कारण है-
(अ) उत्पादन के साधनों की प्रचुरता (ब) उत्पादन के साधनों की सीमितता
(स) उत्पादन मात्रा में परिवर्तन (द) उपरोक्त सभी

14. उत्पादन वृद्धि नियम का लागत के आधार पर नाम है-
(अ) लागत वृद्धि नियम (ब) लागत समता नियम
(स) लागत ह्रास नियम (द) परिवर्तनशील आय

15. उत्पादन वृद्धि नियम होने का मूल कारण है
(अ) आन्तरिक व बाह्य बचतें (ब) आन्तरिक उत्पादन
(स) आन्तरिक बचतें (द) बाह्य बचतें

16. पैमाने के प्रतिफल की जाँच के लिए उत्पादन के सभी साधनों को-
(अ) स्थिर रखते हैं (ब) परिवर्तनशील रखते हैं
(स) दोनों ही नहीं रखते (द) कभी परिवर्तनशील व कभी स्थिर रखते हैं

17. एक स्थिर साधन या साधनों के साथ परिवर्तनशील साधनों के संयोग को कहते हैं :-
(अ) पैमाना (ब) उत्पादन नियम (स) अनुपात (द) अनुमान

18. पैमाने के प्रतिफल को ज्ञात करने के लिए जिस वक्र का प्रयोग करता है उसे कहते हैं-
(अ) सम-उत्पाद वक्र (ब) आय वक्र (स) सीमान्त उत्पादन वक्र (द) औसत उत्पादन वक्र

19. पैमाने के प्रतिफल की प्रमुख मान्यता है कि इसमें सभी साधन-
(अ) कम होते हैं (ब) बढ़ते हैं (स) स्थिर रहते हैं (द) कुछ भी नहीं होता

उत्तर- 1. (अ), 2. (स), 3. (अ), 4. (ब), 5. (अ), 6. (ब), 7. (स), 8. (द), 9. (स), 10. (स), 11. (ब), 12. (अ), 13. (ब), 14. (स), 15. (अ), 16. (ब), 17. (स), 18. (अ), 19. (ब),

3.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

डॉ. एस.सी. जैन, प्रबंधकीय अर्थशास्त्र-कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल

NOTES

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

NOTES

अध्याय–4 व्यापार चक्र (BUSINESS CYCLES)

इकाई की रुपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 उच्चावचों के रूप

4.3 उच्चावलनों के रूप

4.4 व्यापार चक्र की अवस्थायें

4.5 सारांश

4.6 शब्दावली

4.7 अभ्यास प्रश्न

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.0 उद्देश्य

इस इकाई के निम्नांकित उद्देश्य हैं–

1. व्यापार चक्र के चरण को समझाना।
2. व्यापार चक्र के सिद्धान्त को समझाना।

4.1 प्रस्तावना

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

किसी भी देश का आर्थिक विकास व्यवस्थित एवं नियमित रूप से नहीं हो पाता। देश का विकास आर्थिक क्रियाओं–विनियोग, नियोजन, रोजगार एवं उत्पादन–के उच्चावचन से प्रभावित होता रहता है। आर्थिक जगत में सम्पन्नता तथा सम्पन्नता के बाद मन्दी व मन्दी के बाद पुनः सम्पन्नता की स्थिति आती रहती है। भूतकाल में भी यह उच्चावचन पाये जाते थे, परन्तु उस समय इन घटनाओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता था, क्योंकि समाज पर इनके प्रभाव अधिक भीषण नहीं थे। विस्तार के समय देश की कुल अर्थव्यवस्था में वृद्धि हो जाती थी, फलस्वरूप व्यापार, रोजगार तथा मूल्यों में वृद्धि होकर अर्थव्यवस्था पर अच्छा प्रभाव पड़ता था। इसके विपरीत मन्दी के समय सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़कर उत्पादन, रोजगार एवं मूल्यों आदि पर बुरा प्रभाव पड़ा। वर्तमान गतिशील अर्थव्यवस्था में चक्रीय उच्चावचन आते रहते हैं, परन्तु अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि विस्तार का प्रभाव संकुचन के प्रभावों की अपेक्षा अधिक तीव्र होता है। मन्दी के समय स्थिति अधिक बिगड़ जाती है और प्राकृतिक ढंग से उसमें कोई सुधार सम्भव नहीं होता और इस अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिए देश में कृत्रिम उपाय करने पड़ते हैं। वर्तमान समय में अर्थशास्त्री चक्रीय परिवर्तनों के प्रभाव, स्वभाव एवं विशेषताओं आदि के सम्बन्ध में गहन जाँच- पड़ताल करने लगे हैं। आर्थिक उच्चावचन विभिन्न रूपों में हो सकता है जिसमें से कुछ बड़े तथा अन्य छोटी अवधि के लिए होते हैं। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात व्यावसायिक चक्रों की गहनता में अत्यधिक वृद्धि हो गई तथा विश्व के अनेक राष्ट्रों में भीषण बेरोजगारी फैल गई।1929-30 की महान् मन्दी काल में परिस्थितियाँ अधिक गम्भीर हो गईं और यह अनुभव किया गया कि अवसाद के पश्चात पुनरुत्थान स्वाभाविक रूप से नहीं हो पाता और उसके लिए विशेष कृत्रिम उपायों का सहारा लेना पड़ता है। अतः अर्थशास्त्रियों ने व्यावसायिक क्रियाओं की इस चक्रीय प्रवृत्ति के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से जाँच करना आरम्भ कर दिया। इस जाँच का आधार ही व्यापार-चक्र माना गया।

4.2 उच्चावचनों के रूप (Forms of Fluctuations)

NOTES

आर्थिक एवं व्यावसायिक जगत में होने वाले समस्त उच्चावचन चक्रीय नहीं होते। आर्थिक जगत में ऐसे निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं जिसमें साम्य की स्थिति को प्राप्त करना सम्भव नहीं हो पाता। विभिन्न प्रकार के उच्चावचनों के प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं–

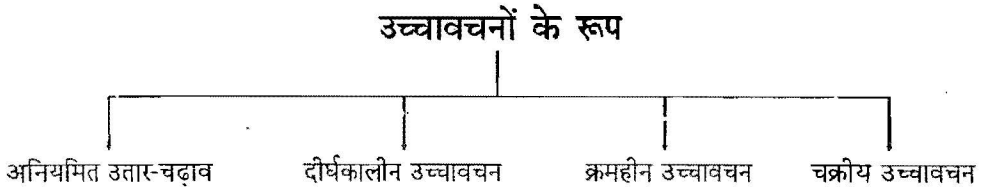

(1) **अनियमित उतार-चढ़ाव** (Irregular Fluctuation) – इस प्रकार उच्चावचन प्रायः आकस्मिक परिवर्तन जैसे बाढ़, भूचाल, भुखमरी आदि के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। वर्ष में कुछ अवधि ऐसी होती है जिनमें अधिकांश उत्पादन क्षेत्र में व्यावसायिक क्रियाओं में तेजी से वृद्धि होने लगती है। इसी प्रकार जलवायु के परिवर्तनों के कारण भी व्यावसायिक एवं औद्योगिक क्रियाओं में अनेक प्रकार के उच्चावचन आते रहते हैं। यह उच्चावचन नियमित समय पर नहीं आते बल्कि अनियमित ढंग से आते रहते हैं। इसके कारण वस्तुओं की माँग, पूर्ति एवं मूल्य सम्बन्धी व्यवस्था में संतुलन नहीं रह पाता और व्यावसायिक क्रियायें बदल जाती हैं। इस उच्चावचन से देश के उद्योगों एवं व्यवसायों पर विभिन्न प्रकार के प्रभाव पड़ने लगते हैं।

(2) **दीर्घकालीन उच्चावचन** (Secular Fluctuations) – विश्व में कुछ परिवर्तन स्थायी एवं दीर्घकालीन प्रकृति के होते हैं जो अर्थव्यवस्था पर एक दीर्घकाल की अवधि तक प्रभाव डालते हैं। यह परिवर्तन प्रायः जनसंख्या में वृद्धि प्राविधिक उन्नति, भूमि सुधार, नवीन आविष्कार एवं अन्य मौलिक परिवर्तनों के कारण होते हैं। यह परिवर्तन निश्चित योजनाओं के फलस्वरूप ही प्राप्त होते हैं।

(3) **कर्महीन उच्चावचन** (Random Fluctuations) – इन परिवर्तनों का पूर्वानुमान लगाना कठिन होता है। प्रारम्भ में यह प्राकृतिक होते हैं, परन्तु इनमें अनिश्चितता का अंश अधिक होता है। यह परिवर्तन अप्राकृतिक कारणों से भी उत्पन्न होते हैं। जैसे राजनैतिक घटनाओं में परिवर्तन, नवीन आविष्कार एवं नवीन प्रकार की खानों का मिल जाना आदि। यह परिवर्तन प्रायः व्यावसायिक क्रियाओं में उच्चावचनों के कारण आते हैं। यह परिवर्तन विशेष प्रकार की समस्याओं को उत्पन्न करते हैं जिनके लिए विभिन्न प्रकार के उपायों का पालन करना पड़ता है।

(4) **चक्रीय उच्चावचन** (Cyclical Fluctuations) – चक्रीय उच्चावचन देश में अन्य प्रकार के परिवर्तनों से जुड़े रहते हैं, परन्तु यह परिवर्तन नियमित ढंग से होते रहते हैं। यह अल्पकालीन उच्चावचन होते हैं और अकस्मात ही व्यावसायिक कार्यवाहियाँ विस्तार की ओर जाने लगती हैं। धीरे-धीरे विस्तार क्रम फिर एक बार रुक जाता है जिससे संकुचन की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। यह क्रिया कुछ समय तक चलकर फिर रुक जाती है और विस्तार की प्रवृत्तियाँ पुनः उत्पन्न हो जाती हैं। यहाँ से व्यावसायिक विस्तार का क्रम फिर से पहले की भाँति प्रारम्भ हो जाता है, परन्तु यह क्रम फिर से टूट जाता है। इस क्रम में पर्याप्त नियमितता बनी रहती है तथा विस्तार व संकुचन की दो अवस्थाओं के मध्य एक निश्चित अवधि का अन्तर बना रहता है। वास्तविक व्यावसायिक क्रिया नियमितता के रूप में दिखाई देती है और इसके फलस्वरूप व्यावसायिक क्रिया की वृद्धि एवं उसका पतन धीरे-धीरे होता रहता है। इस उच्चावचन को चित्र 1 द्वारा दिखाया गया है :

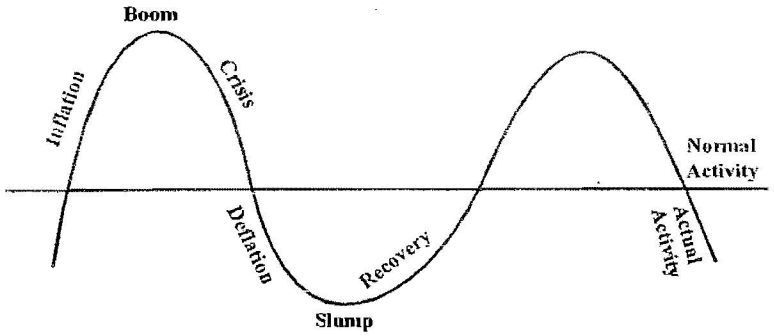

चित्र 1

NOTES

निम्न चित्र में दिया गया मुद्रा प्रसार धीरे-धीरे बढ़ता है परन्तु अभिवृद्धि (Boom) से पतन (Slump) यकायक हो जाता है और पतन के पश्चात् फिर पुनरुद्धार (Recovery) का कार्य धीरे-धीरे ही प्रारम्भ होता है जिसमें काफी समय लग जाता है। ये उतार-चढ़ाव एक तरंग के समान होते हैं जिनमें संकुचन एवं विस्तार की अवस्था एक के बाद दूसरे पर स्वतः ही घटित हो जाया करती है। इसमें क्रियायें विस्तार की ओर जाकर बढ़ती जाती हैं फिर कुछ समय पश्चात् यह क्रम रुक जाता है तथा संकुचन की क्रियायें प्रारंभ हो जाती हैं। संकुचन भी थोड़े समय तक चलकर फिर रुक जाता है और विस्तार पुनः प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में संकुचन एवं विस्तार की प्रवृत्तियाँ एक दूसरे के बाद घटित होती रहती हैं और इसी क्रमबद्धता के कारण इसे चक्रीय उच्चावचन के नाम से जाना जाता है। संकुचन के बाद विस्तार तथा विस्तार के बाद संकुचन की स्थिति घटित होती रहती है।

व्यापार चक्र की परिभाषायें

व्यापार-चक्र की अनेक परिभाषायें दी जा सकती हैं, जिसमें से प्रमुख परिभाषायें निम्न हैं-

(1) **कीन्स के अनुसार**, "व्यापार चक्र से आशय अच्छे व्यापार समय, जो बढ़ते मूल्य एवं निम्न बेरोजगार प्रतिशत को बताता है एवं इसके विपरीत बुरे व्यापार समय, जो गिरते मूल्य एवं ऊँचे बेरोजगार प्रतिशत द्वारा प्रदर्शित होता है, से लगाया जाता है।"

(2) **मिचेल के अनुसार**, "व्यापार-चक्र संगठित समुदाय में होने वाले आर्थिक क्रियाओं के उच्चावचन हैं। व्यवसाय शब्द इस धारणा को उन क्रियाओं तक सीमित कर देता है, जो व्यवस्थित ढंग से व्यावसायिक आधार पर संचालित की जाती है। चक्र शब्द उन उच्चावचनों को पृथक कर देता है जो नियमितता के साथ घटित नहीं होते।"

(3) **हाट्रे के अनुसार**, "विशेष प्रकार के उच्चावचन व्यापार-चक्र कहलाते हैं, क्योंकि एक दिशा में अधिक गतिशीलता न केवल अपने उपचार ही प्रस्तुत करती है, बल्कि दूसरी दिशा में गतिशीलता के आधिक्य को प्रोत्साहित करती है।"[2]

(4) **हेबरलर के अनुसार**, "सामान्य अर्थों में व्यापार-चक्र को प्रगतिशील एवं मन्दीकाल में अच्छे व बुरे व्यापार के उपाय के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।"

(5) **हेन्सन के अनुसार**, "व्यापार-चक्र अर्थव्यवस्था के औद्योगिक ढाँचे का विशेष दर्पण है, जिससे उच्चस्तरीय सम्बन्धित आधुनिक समाज में तेजी व मन्दी अन्य समुदाय में पुनर्वितरित होती रहती है।"

(6) **जे टिन्वर्गन के अनुसार**, "व्यापार-चक्र उच्चावचनों के मध्य का एक खेल है और एक आर्थिक पद्धति इन उच्चावचनों के चक्रीय समायोजित विस्तार को प्रदर्शित करने में सफल हो जाती है।"

(7) **प्रो. बेनहम के अनुसार**, "व्यापार-चक्र वैभव एवं सम्पन्नता का एक ऐसा काल है, जिसके पश्चात् मन्दी या अवकाश का आना स्वाभाविक हो जाता है।"

किसी भी देश की आर्थिक अर्थव्यवस्था में तेजी व मन्दी, समृद्धि एवं गरीबी बारी-बारी से आती रहती है तथा इसके विकास में स्थायित्व नहीं रहता। अर्थव्यवस्था में तेजी के बाद मन्दी तथा मन्दी के बाद फिर से तेजी ज्वार-भाटे की भाँति आती रहती है। इससे मूल्यों व रोजगार आदि में परिवर्तन नियमित व व्यवस्थित रूप से एक चक्र के समान आते रहते हैं। जब व्यवस्था प्रसार की ओर बढ़ती है तो आय, उत्पादन, मूल्यों एवं रोजगार आदि में वृद्धि हो जाती है। यह स्थिति एक निश्चित बिन्दु तक ही बनी रहती है और उस बिन्दु पर पहुँच जाने के पश्चात् आर्थिक व्यवस्था पतन की ओर जाने लगती है जिसे मन्दी के नाम से जानते हैं जिसमें आय, मूल्यों एवं रोजगार में निरन्तर कमी होती जाती है। यह प्रवृत्ति भी एक निश्चित बिन्दु तक बनी रहती है और उसके बाद फिर से तेजी की अवस्थायें आनी प्रारम्भ हो जाती हैं।

आर्थिक उच्चावचनों के प्रकार

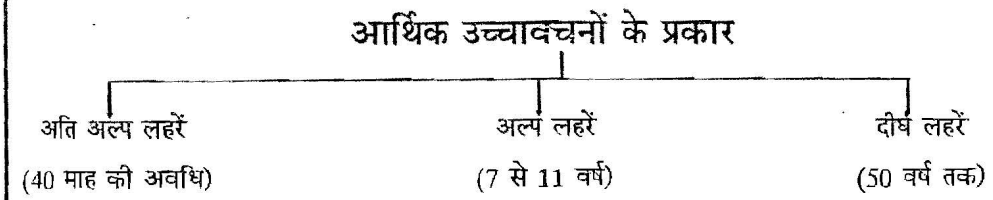

आर्थिक उच्चावचनों के प्रमुख भेद निम्नलिखित हैं–

(1) **अति अल्प लहरें** (Shorter Waves) – जब चक्रों को तीन पृथक्-पृथक् छोटे-छोटे चक्रों में विभाजित कर दिया जाये और प्रत्येक की समयावधि प्रायः 40 माह के बराबर हो तो उसे अति अल्प लहरें कहते हैं।

(2) **अल्प लहरें** (Short Waves) – इस प्रकार व्यावसायिक उच्चावचनों की अवधि प्रायः 7 से 11 वर्ष होती है। इन चक्रों में विशाल नियमितता बनी रहती है। यह चक्र अपने पूर्व निर्धारित समय पर स्वतः ही घटित होते रहते हैं। कभी-कभी इन चक्रों की अवधि को ज्ञात किया जा सकता है।

(3) **दीर्घ लहरें** (Long Waves) – इन व्यावसायिक क्रियाओं में 50 से 60 वर्ष तक की अवधि का अन्तर पाया जाता है। इन परिवर्तनों का क्रम बहुत अधिक नियमित बना रहता है और इनमें अनियमित एवं अनिश्चित घटनाओं का अभाव पाया जाता है।

व्यापार-चक्रों के कारण

व्यापार-चक्र व्यापारिक क्रियाओं को अस्त-व्यस्त कर देते हैं, जो नियमित रूप से आते रहते हैं। व्यापार-चक्र रोजगार की स्थिति को बेकारी की स्थिति में परिवर्तित कर देते हैं। व्यापार-चक्र समाज में सम्पन्नता एवं विपन्नता का वातावरण उत्पन्न कर देते हैं जिन्हें पहले से रोका नहीं जा सकता। व्यापार-चक्र द्वारा अभिवृद्धि उत्पन्न होकर सम्पन्नता के शिखर पर पहुँच जाती है और फिर टूटकर संकट उत्पन्न करके अवसाद उत्पन्न कर देती है, जो स्वयं तेजी के साथ आकर, कुछ समय रुककर शीघ्र ही समाप्त हो जाता है, फिर अभिवृद्धि व पुनरुद्धार का क्रम आरम्भ हो जाता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है जिसका कोई अन्त नहीं है। व्यापार-चक्र के कारणों को निम्न चार्ट के रूप में रखा जा सकता है।

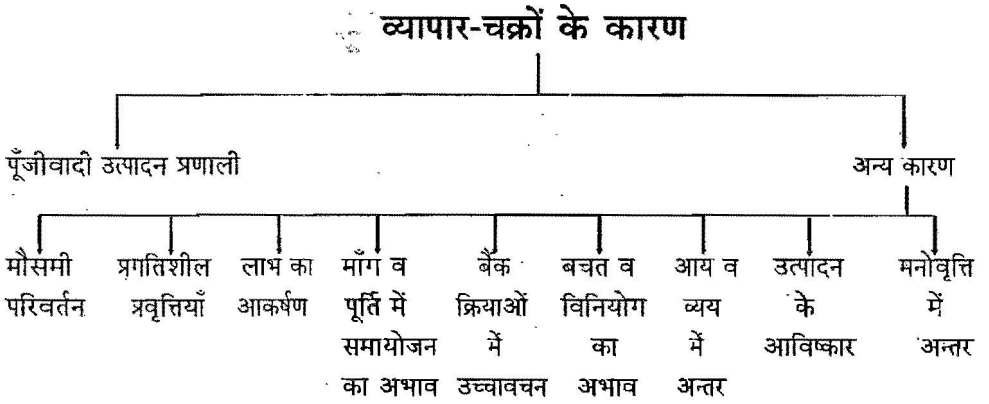

व्यापार-चक्रों के कारणों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है–

I. पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली,

II. अन्य कारण।

I. **पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली** – प्रायः अभिवृद्धि या संकुचन का सम्बन्ध पूँजीवादी राष्ट्रों से लगाया जाता है। पूँजीवाद की वृद्धि के साथ-साथ मुद्रा प्रसार या अवसाद की गहनता बढ़ती जाती है। इस सम्बन्ध में यह भी नहीं कहा जा सकता कि पूँजीवाद में मूल्यों की स्थिरता का अभाव पाया जाता है। वर्तमान समय में अत्यधिक सरकारी हस्तक्षेप एक समाजवादी आधार पर नियोजन की व्यवस्था करके आर्थिक संकटों को कम किया जा सकता है। पूँजीवादी में व्यापार-चक्रों को समाप्त करना असम्भव नहीं है। केवल उनकी अभिवृद्धि एवं अवसाद की गहनता को कम किया जा सकता है।

व्यापार-चक्रों के आधारभूत कारणों में पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली को महत्व दिया जाता है। पूँजीवादी व्यवस्था स्वतंत्र उपक्रम व्यवस्था पर आधारित होने से इसका संचालन लाभ प्रेरणा एवं मूल्य यंत्र द्वारा संचालित किया जाता है। यद्यपि दीर्घकाल के उत्पादन व उपभोग में साम्य स्थापित हो जाता है, फिर भी अल्पकाल में उत्पादन की आवश्यकताओं से कोई सम्बन्ध न होने से व्यापार-चक्र घटित होते रहते हैं। इसी कारण व्यापार-चक्रों का सम्बन्ध अल्पकालीन घटनाओं से ही माना जाता है। उत्पादक अपनी वस्तु का उत्पादन केवल लाभ की प्रेरणा से करता है जिसमें वस्तु की किस्म को महत्व नहीं दिया जाता। यदि उत्पादक को निम्न किस्म की वस्तुओं के बेचने से अधिक लाभ मिले तो वह अपनी शक्ति

NOTES

का केन्द्रीयकरण उसी ओर करेगा और विज्ञापन व प्रचार द्वारा उसी वस्तु को अधिकाधिक बेचने के प्रयास करेगा। यदि बिक्री को बढ़ाने से लाभ बढ़ जाते हों तो वह अधिक वस्तु का उत्पादन करके प्रचार द्वारा माँग में वृद्धि करने के प्रयास करेगा। उत्पादक का मुख्य लक्ष्य अपने लाभ की मात्रा को अधिकतम बढ़ाना है और इस लाभ को बढ़ाने की इच्छा से वह किसी भी अच्छी या बुरी वस्तु का उत्पादन करने से नहीं चूकता। वास्तव में पूँजीवादी में उत्पादन की मात्रा का निर्धारण वास्तविक माँग से न होकर भावी माँग से किया जाता है और अनुमान सही न होने से व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाते हैं। पूँजीवादी में जनता की आवश्यकताओं को विशेष महत्व नहीं दिया जाता, जिससे उत्पादन की मात्रा आवश्यकता से कम या अधिक हो जाती है और अति-उत्पाद या न्यून-उत्पादन की स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। प्रतियोगिता के कारण प्रायः छोटे-छोटे उत्पादक समाप्त हो जाते हैं, श्रमिकों की स्थिति बिगड़ती जाती है। फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होने पर क्रय शक्ति में आनुपातिक वृद्धि न होने से माँग में उसी अनुपात में वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती। इस प्रकार आर्थिक संकट का मूलभूत कारण सामाजिक आवश्यकताओं एवं सामाजिक उत्पादन के मध्य प्रत्यक्ष सम्बन्ध न होना है। प्रायः पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में आवश्यकताओं एवं उत्पादन के मध्य सामन्वय स्थापित नहीं हो पाता है। इस दोष को **माल्थस एवं सिस्मॉण्डी** (Sismondi) आदि ने पहले से ही पता लगाकर चेतावनी भी दे दी थीं। **कार्ल मार्क्स** ने भी स्पष्ट कहा था कि पूँजीवाद स्वयं समस्यायें उत्पन्न कर रहा है जिनको हल करना सम्भव नहीं होगा।

इसके विपरीत समाजवादी समाज में आर्थिक नियोजन पर ही अधिक जोर दिया जाता है, आर्थिक क्रियाओं के लिए मूल्य यंत्रों पर निर्भर नहीं रहा जाता तथा समाज की आवश्यकताओं का अनुमान लगाकर नियोजन द्वारा उत्पादन का आवश्यकताओं के अनुरूप समायोजन करा लिया जाता है, फलस्वरूप उपभोग व उत्पादन में अन्तर न होने से अवसाद या अभिवृद्धि पर रोक लग जाती है। समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन लाभ पर निर्भर न होकर सामाजिक आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। प्रायः लाभ की भावना ही व्यापार-चक्रों को जन्म देती है, जिसे समाजवादी व्यवस्था में स्थान नहीं दिये जाने से आर्थिक संकट समाप्त हो जाते हैं।

II. अन्य कारण – व्यापार-चक्र के अन्य कारणों में निम्न को सम्मिलित किया जा सकता है–

(1) **मौसम के चक्रिक परिवर्तन** – प्रायः मौसम में परिवर्तन आने से आर्थिक जीवन भी प्रभावित हो जाता है। यदि देश में अनुकूल मौसम है तो फसलों के उत्पादन पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा जो जनता के स्वास्थ्य एवं मानसिक दृष्टिकोण को प्रभावित करके अभिवृद्धि की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। इसके विपरीत प्राकृतिक आपत्तियाँ आने से आर्थिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है।

(2) **प्रगतिशील प्रवृत्तियाँ** – वर्तमान समय में प्रगतिशील प्रवृत्तियों के कारण नवीन आविष्कार होने से एक साधन की उत्पादन मात्रा को दूसरे साधनों की उत्पादन मात्रा से समायोजन करना सम्भव न होने से व्यापार चक्र उपस्थित हो जाते हैं।

(3) **लाभ का आकर्षण** – उत्पादकों द्वारा लाभ के आकर्षण से व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि उत्पादक आवश्यकता से अधिक आशावादी हो जाने पर माँग का गलत अनुमान लगा लेते हैं और अधिक उत्पादन करके कच्चे माल एवं श्रमिकों की कमी को उत्पन्न कर देते हैं, फलस्वरूप बाजार में तेजी का रुख दिखाई देने लगता है। इसके विपरीत यदि बाजार में थोड़ी सी भी मन्दी आ जाती है तो उत्पादक सतर्क हो जाते हैं और उत्पादन को कम करने के लिए कच्चे माल व श्रमिकों की माँग को रद्द कर देते हैं जिससे मूल्यों में गिरावट को और अधिक बल प्राप्त होता है–

(4) **माँग एवं पूर्ति के समायोजन का अभाव** – देश में माँग एवं पूर्ति के मध्य समायोजन के अभाव के कारण भी व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाते हैं। इसमें क्रय शक्ति का वितरण उत्पादन की तुलना में कम या अधिक हो जाता है। प्रायः उत्पादन माँग पर निर्भर करता है और माँग का ठीक ढंग से हिसाब लगाना कठिन होता है।

(5) **बैंक क्रियाओं में उच्चावचन** – देश में बैंकों की क्रियाओं का आर्थिक उच्चावचनों पर प्रभाव पड़ता है। ऋणों की मात्रा में संकुचन या विस्तार कर देने से साख मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन हो जाते हैं जिससे सट्टे की दरों में भी परिवर्तन होकर अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है। बैंकों के नकद कोष की मात्रा में परिवर्तन होने से ऋणों की नीति में भी उसी अनुरूप परिवर्तन कर दिये जाते हैं। इन परिवर्तनों का आर्थिक क्रियाओं पर प्रभाव पड़कर व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाते हैं।

(6) **बचत एवं विनियोग में समायोजन का अभाव** – पूँजीगत माल एवं उपभोग-पदार्थों में परिवर्तन होने से व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाते हैं क्योंकि पूँजीगत माल उद्योगों का विकास उपभोग उद्योगों की तुलना में अधिक तेजी से होने लगता है।

(7) **आय एवं व्यय में अन्तर** – यदि उपभोक्ताओं की आय एवं व्यय में अन्तर बना रहे तो इस अन्तर को विनियोग द्वारा सुधारने में सफलता मिलने पर भी देश में व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाया करते हैं।

(8) **उत्पादन के आविष्कार** – नवीन व्यवसायों की उत्पत्ति एवं उत्पादन में नवीन आविष्कार भी व्यापार-चक्र की दशाएँ उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार के नवीन आविष्कारों के कारण व्यापार-चक्रीय परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(9) **मनोवृत्ति में अन्तर** – मानव की मनोवृत्तियाँ भी व्यापार-चक्र के लिए जिम्मेदार ठहरायी जा सकती हैं। मानव में आशावाद एवं निराशावाद का वातावरण उत्पन्न होता रहता है। आशावाद एवं प्रगति की दशा में मनोवृत्ति विपरीत दिशा में कार्य करने लगती है। इसी प्रकार अवसाद काल में भी मानव की मनोवृत्ति मन्दी की ओर हो जाती है जिससे व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाते हैं।

4.3 व्यापार-चक्र की अवस्थायें (Phases of Trade Cycles)

व्यापार-चक्र की अवस्थाओं में एक नियमित क्रम में उच्चावचन होते रहते हैं जिसमें तेजी एवं मन्दी का क्रम निरन्तर चलता रहता है तथा मूल्य व रोजगार भी घटते एवं बढ़ते रहते हैं। इस सम्बन्ध में कोई भी ऐसा स्थान या बिन्दु निर्धारित करना कठिन होगा, जहाँ से व्यापार चक्र का मार्ग प्रारम्भ होता है। अतः अध्ययन करने की सुविधा से कोई एक बिन्दु निश्चित करना आवश्यक होता है। इस सम्बन्ध में सबसे अच्छा बिन्दु वह माना जाता है जहाँ मूल्यों का उतार अधिकतम हो और जिसे मन्दी की अवस्था कहते हैं। इस प्रकार व्यापार-चक्र की प्रमुख अवस्थायें निम्नलिखित हैं–

(1) अवसाद की अवस्था (Depression),

(2) पुनरुद्धार अवस्था (Recovery),

(3) पूर्ण रोजगार की अवस्था (Full employment),

(4) अभिवृद्धि की अवस्था (Boom),

(5) अवरोध की अवस्था (Recession)।

व्यापार-चक्र की अवस्थाओं को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है–

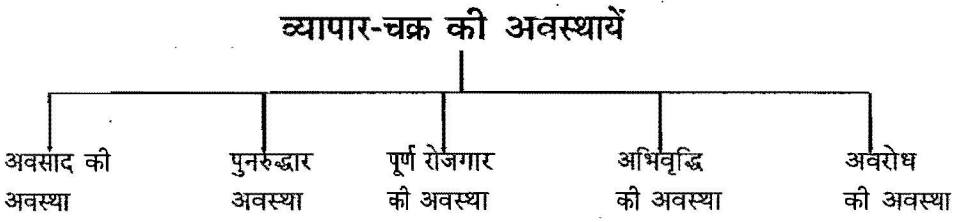

(1) अवसाद (Depression) या मन्दी की अवस्था

व्यापार-चक्र की यह प्रथम अवस्था होती है जिसमें उत्पादन एवं रोजगार में गम्भीरता से कमी होने लगती है। इस अवस्था में विनिमय की मात्रा कम होकर श्रमिक एवं उत्पत्ति के अन्य साधन बेकार हो जाते हैं व मजदूरी की दरों में भारी कमी हो जाती है। मजदूरी कम होने से माँग गिर जाती है व उपभोग पदार्थों की कीमतें भी कम हो जाती हैं। जिन मजदूरों को रोजगार प्राप्त होता है उनकी वास्तविक मजदूरी में वृद्धि हो जाती है, क्योंकि पहले की अपेक्षा उन्हें अब अधिक वस्तुयें प्राप्त होने लगती हैं, परन्तु समाज में बेरोजगार व्यक्तियों का भय सदैव बना रहता है। मूल्य कम होने से व्यापार वर्ग को हानि होती है और वह भावी कार्यों के प्रति निरुत्साहित हो जाता है। इस अवस्था में निर्मित माल की अपेक्षा कच्चे माल की कीमतों में तेजी से कमी होती है, फलस्वरूप कृषकों एवं कच्चे माल के उत्पादकों की आर्थिक स्थिति बिगड़ जाती है। इस प्रकार उत्पादन एवं वितरण की समस्त आर्थिक प्रणालियाँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं व देश के आर्थिक विकास को प्रभावित करती हैं। इस समय निराशा का वातावरण फैल जाता है और मन्दी के फैलने के साथ-साथ जनता में विवशता एवं विद्रोह की भावना विकसित होने लगती है एवं पूँजीगत सामानों में विनियोग करना लाभप्रद नहीं रह पाता। निर्माता एवं कृषकों के मध्य व्यापार की शर्तें उत्पादकों के प्रति अधिक अनुकूल हो जाती हैं। औद्योगिक क्षेत्र में काम करने वाले व्यक्तियों की आय उत्पादन एवं रोजगार में कमी होने के कारण कम हो जाती है। कच्चे माल की तुलना में निर्मित माल की कीमतें कम गिरती हैं।

NOTES

विशेषताएँ – मन्दी काल की प्रमुख विशेषताओं को निम्न प्रकार रखा जा सकता है–

(i) **विदेशी व्यापार में कमी** – व्यापार में कमी हो जाने से विदेशी व्यापार की मात्रा में भी अधिक गिरावट आ जाती है।

(ii) **व्यवसाय बन्द होना** – व्यापारी वर्ग को हानि होने से अनेक व्यवसाय बन्द हो जाते हैं।

(iii) **लाभ व मजदूरी में कमी** – समाज में निम्न आय होने से मूल्य, मजदूरी एवं लाभ गिरने लगते हैं।

(iv) **ब्याज दरों में कमी** – पूँजी पर ब्याज की दर पहले से बहुत नीची गिर जाती है।

(v) **शिथिल व्यापारिक क्रियाएँ** – देश में विनियोग कम, उत्पादन का निम्न स्तर एवं व्यवसाय की क्रियाएँ शिथिल पड़ जाती हैं।

(vi) **निराशा का वातावरण** – समस्त देश में गहन निराशा का वातावरण छा जाता है एवं जनता में विवशता व विद्रोह करने की भावना फैलना प्रारम्भ हो जाती है।

(vii) **रोजगार व आय का निम्न स्तर** – देश में रोजगार एवं आय का स्तर निम्नतम हो जाता है।

(2) **पुनरुद्धार** (Recovery) **अवस्था** –

समाज में मन्दी की अवस्था कुछ समय तक बने रहने के उपरान्त प्रायः पुनरुद्धार की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। इस अवधि में समाज की स्थिति मन्दी की स्थिति से अच्छी मानी जाती है। देश के अन्य आर्थिक क्षेत्रों में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं जिनसे व्यापारिक क्रियाओं में वृद्धि हो जाती है एवं अर्थव्यवस्था में पुनरुद्धार की अवस्था प्रारम्भ हो जाती है। विनियोग का नवीन क्षेत्र बढ़ जाने एवं सरकार द्वारा जनहित कार्यों पर अधिक धन व्यय करने से रोजगार एवं उत्पादन की स्थिति में सुधार होने लगता है, बेकारी का आकार घटकर जनता की आय में वृद्धि होने लगती है तथा शक्ति एवं वस्तुओं की बिक्री में वृद्धि होने लगती है व जनता में आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदने की होड़-सी लग जाती है। इससे देश के व्यापार में पर्याप्त वृद्धि होती है व समाज में नवीन आशा का संचार होने लगता है व समस्त क्रियाएँ गतिशील हो जाती हैं। व्यापारी वर्ग को भी लाभ होने लगता है और वे बिक्री को बढ़ाने में रुचि लेना प्रारम्भ कर देते हैं। घोर मन्दी की अवस्था के पश्चात् पुनरुद्धार व्यापार-चक्र की द्वितीय अवस्था कहलाता है।

विशेषताएँ – इस काल की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं :

(i) **रोजगार में वृद्धि** – इस समय में आय एवं रोजगार के स्तर में वृद्धि हो जाती है।

(ii) **सट्टे में वृद्धि** – देश में सट्टे बाजार की क्रियाशीलता में वृद्धि हो जाती है।

(iii) **आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि** – आर्थिक क्षेत्र में आशा, उत्साह एवं विश्वास में वृद्धि होकर आर्थिक क्रियाओं में वृद्धि हो जाती है।

(iv) **बैंक ऋणों में वृद्धि** – बैंक ऋणों की मात्रा में भी काफी वृद्धि होती है।

(v) **उत्पादन स्तर में वृद्धि** – देश के उद्योगों के उत्पादन स्तर में निरन्तर वृद्धि होती रहती है।

(vi) **मजदूरी व लाभ में वृद्धि** – देश में मजदूरी, कीमतों एवं लाभ में वृद्धि हो जाती है।

(vii) **विनियोग में वृद्धि** – देश में विनियोग की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है।

(viii) **आत्मविश्वास** – व्यवसायियों में आत्मविश्वास जागृत होता है तथा विनियोक्ता पुरानी एवं अप्रचलित मशीनों के स्थान पर नवीन मशीनों के विनियोग को प्रोत्साहित करते हैं।

(ix) **संग्रह का अभाव** – इस अवस्था में वस्तुओं को संग्रह करने की प्रवृत्ति कम महत्वपूर्ण हो जाती है।

(x) **उद्योगों को प्रोत्साहन** – देश में पूँजीगत सामान वाले उद्योग पुनर्जीवन प्राप्त करने लगते हैं तथा देश की अर्थव्यवस्था में थोड़ी-सी वृद्धि उद्योगों को और अधिक प्रोत्साहन देती है।

(xi) **उपभोग में कमी** – विनियोग में वृद्धि हो जाने से राष्ट्रीय आय में उपभोग की मात्रा कम हो जाती है।

(xii) **चलन वेग में वृद्धि** – देश में व्यवसाय में वृद्धि होने के कारण बैंक साख के साथ-साथ मुद्रा चलन के वेग में वृद्धि हो जाती है।

(xiii) **बैंक कोष में कमी** – बैंकों के कोष भी शनैः-शनैः कम होने लगते हैं तथा वसूली करने की आदत में सुधार होने लगता है।

पुनरुद्धार की अवस्था उन शक्तियों पर निर्भर करती है जो उसे पुनर्जीवन प्रदान करती हैं। प्रायः इन शक्तियों में निम्न को सम्मिलित करते हैं– (अ) नवीन विपणियों की खोज करना, (ब) नवीन उत्पादकों का बाजार में आ जाना, (स) नवीन उत्पादन विधियों की खोज होना, (द) विनियोग के नवीन रूपों का पता लगाना।

(3) पूर्ण रोजगार (Full Employment) की अवस्था

व्यापार-चक्र की यह आदर्श व्यवस्था होती है जिसे प्रत्येक राष्ट्र प्राप्त करने के प्रयास करता है और यह समस्त राष्ट्रों की आर्थिक नीति का एक प्रमुख लक्ष्य होता है। पूर्ण रोजगार में देश में उत्पत्ति के समस्त साधन काम में लग जाते हैं तथा उनसे अधिकतम उत्पादन कार्य लेने के प्रयास किये जाते हैं। पूर्ण रोजगार में भी बेरोजगारी की अवस्था विद्यमान होती है, परन्तु यह श्रमिक द्वारा एक कार्य को छोड़कर दूसरे कार्य में लगने के समय के अन्तर की ही होती है। इस प्रकार की बेरोजगारी प्रायः सभी विकसित एवं अविकसित राष्ट्रों में पाई जाती है। इसमें बेरोजगारी स्वेच्छा से ही पायी जाती है और देश में रोजगार की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार पूर्ण रोजगार आर्थिक प्रगति की एक ऐसी अधिकतम अवस्था होती है जिसके बाद विनियोग में वृद्धि करने पर प्रभावशाली माँग, रोजगार एवं उत्पादन में वृद्धि सम्भव नहीं होती, बल्कि वह स्फीति का कारण बन जाती है। इस अवस्था को प्राप्त करना प्रायः सभी राष्ट्रों की आर्थिक नीतियों का लक्ष्य होता है।

विशेषताएँ – पूर्ण रोजगार की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(i) **मूल्यों में स्थिरता** – इस अवस्था में मूल्यों की स्थिरता बनी रहती है।

(ii) **उत्पत्ति के साधनों का उपयोग** – उत्पत्ति के समस्त साधनों का पूर्ण उपयोग होने लगता है।

(iii) **रोजगार में वृद्धि** – व्यवसाय में आय, लाभ व लागत इतनी रहती है कि काम चाहने वाले प्रायः समस्त व्यक्तियों को रोजगार दे दिया जाता है।

(iv) **स्थिर मौद्रिक आय** – विभिन्न वर्गों की नकद या मौद्रिक आय प्रायः बनी रहती है।

(v) **अनैच्छिक बेरोजगारी का अभाव** – इस काल में अनैच्छिक बेरोजगारी का अभाव बना रहता है, परन्तु ऐच्छिक, संक्रामक एवं संस्थानात्मक बेरोजगारी बनी रहती है।

(vi) **अधिकतम उत्पादन** – व्यवसाय व कारखानों में अधिकतम मात्रा तक उत्पादन सम्भव किया जा सकता है।

(vii) **अनुकूलतम स्तर** – इस अवस्था में आर्थिक क्रियाएँ एक अनुकूलतम स्तर तक पहुँच जाती हैं।

(viii) **मजदूरी की ऊँची दरें** – मजदूरी की ऊँची दरें हो जाती हैं तथा सबको जीवन स्तर बनाये रखने के लिए पर्याप्त आय प्राप्त होने लगती है।

(ix) **बैंकों द्वारा व्यापक वसूली** – बैंकों द्वारा वसूली (clearings) विशाल पैमाने पर होने लगती है।

(x) **व्यापारियों में निश्चितता** – व्यवसाय में असफल होने के अवसरों में कमी हो जाती है जिससे व्यापारियों में निश्चितता एवं जागृति की भावना उत्पन्न होती है।

(xi) **विनियोग में वृद्धि** – स्थायी पूँजी के रूप में विनियोग की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

(xii) **तैयार माल में वृद्धि** – देश में तैयार माल की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि हो जाती है।

(4) अभिवृद्धि (Boom) की अवस्था

पुनरुद्धार प्रारम्भ हो जाने पर यह सदैव पूर्ण रोजगार की स्थिति उत्पन्न नहीं करता, बल्कि इस प्रयास में तेजी की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। समाज में पूर्ण रोजगार की अवस्था को प्राप्त कर लेने के उपरान्त भी विनियोग में वृद्धि होती रहे तो साधनों के पूर्ण उपयोग हो चुकने के कारण वास्तविक उत्पादन में तो वृद्धि नहीं हो पाती, बल्कि मूल्यों में वृद्धि अवश्य हो जाती है। ऐसी परिस्थिति में साहसी प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में आशावादी दृष्टिकोण अपना लेते हैं, परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यापार व उद्योग में अधिक मात्रा में विनियोग किया जाता है, पहले से रोजगार में लगे व्यक्तियों पर काम का दबाव बढ़ जाता है और पूर्ण रोजगार की अवस्था अत्यधिक रोजगार की स्थिति में परिवर्तित हो जाती है। अत्यधिक रोजगार में नौकरियों के स्थान अधिक, परन्तु श्रमिकों की संख्या कम रहती है, फलस्वरूप मजदूरी व उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है, परन्तु मजदूरी की तुलना में मूल्य इतने तेजी से बढ़ते हैं कि वास्तविक मजदूरी घट जाती

NOTES

है। मूल्य बढ़ने से लाभ बढ़ जाते हैं जो और अधिक विनियोग को प्रोत्साहित करते हैं। अधिक लाभ की लालसा से व्यापारी माल को रोककर बेचते हैं तथा नवीन कारखानों को भी खोलने के प्रयास करते हुए उत्पादन बढ़ाने के प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार यही क्रम चलता रहता है और तेजी की स्थिति असाधारण ऊँचाई को प्राप्त कर लेती है।

विशेषताएँ – अभिवृद्धि की अवस्था की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

(i) **ऊँचे लाभ व ऊँचे व्यय** – सभी वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होकर, ऊँचे लाभ एवं ऊँचे व्यय प्राप्त होने लगते हैं।

(ii) **अत्यधिक ऋण** – इस काल में बैंकों द्वारा अत्यधिक मात्रा में ऋण प्रदान किये जाते हैं।

(iii) **विनियोग में वृद्धि** – विनियोग की मात्रा में तेजी से वृद्धि हो जाती है।

(iv) **सट्टेबाजी में वृद्धि** – इस काल में सट्टेबाजी की क्रियायें एवं प्रवृत्तियाँ बढ़ जाती हैं।

(v) **वास्तविक मजदूरी में कमी** – मूल्यों की तुलना में मजदूरी इतनी तेजी से नहीं बढ़ पाती और इस प्रकार वास्तविक मजदूरी में कमी हो जाती है।

(vi) **हड़तालों में वृद्धि** – इस काल में श्रमसंघों की कार्यवाही बढ़ जाती है तथा हड़तालों की मात्रा में वृद्धि हो जाती है।

(vii) **आशा की लहर** – इस अवस्था में व्यापारियों में अत्यधिक आशा की लहर फैल जाती है तथा वे भविष्य के प्रति लापरवाही बरतने लगते हैं।

(viii) **नवीन कारखानों की स्थापना** – इस अवधि में प्रत्येक क्षेत्र में उत्पादन में वृद्धि हो जाती है तथा नवीन कारखानों की स्थापना की जाती है व नवीन व्यापार चलाये जाते हैं।

(ix) **मूल्यों में वृद्धि** – लाभों में प्रतिदिन वृद्धि होती रहती है और लाभ प्रसार से मूल्यों में और अधिक वृद्धि हो जाती है।

(5) अवरोध (Recession) की अवस्था

तेजी की दशा में उसके विनाश के बीज निहित होते हैं। तेजी की दशा प्रारम्भ हो जाने पर कुछ समय पश्चात् देश में अनेक कठिनाइयाँ आ जाती हैं जो निम्न प्रकार हैं :

(अ) ब्याज की दरें ऊँची हो जाने के कारण बैंकों की ऋण देने की नीति में कठोरता आ जाती है जिससे पूँजी लागत में वृद्धि हो जाती है।

(ब) इस काल में मजदूरी बढ़ जाती है और उत्पादन वृद्धि करने के उद्देश्य से अकुशल श्रमिकों को भी काम पर रखना पड़ता है, जिससे मजदूरी के रूप में लागत व्यय बढ़ जाता है।

(स) पुरानी मशीनों के प्रतिस्थापन एवं कच्ची सामग्री के मूल्यों में वृद्धि हो जाने से उत्पादन लागत में वृद्धि हो जाती है।

(द) भविष्य के प्रति जनता सन्देह की निगाह से देखने लगती है जिससे अवरोध की अवस्था का आगमन प्रारम्भ हो जाता है।

विशेषताएँ – इस काल की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं–

(i) **मजदूरी में गिरावट** – इस अवस्था में मजदूरी, लागत एवं कीमतें गिरने लगते हैं।

(ii) **व्यावसायिक क्रियाओं पर रोक** – राष्ट्र में व्यावसायिक क्रियाओं पर रोक- सी लग जाती है तथा कुल व्यवसाय की मात्रा में कमी होने लगती है।

(iii) **निराशा का वातावरण** – व्यावसायिक क्षेत्र में भविष्य के प्रति जनता में निराशा का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

(iv) **ऋण की मात्रा में कमी** – ऋणों के सम्बन्ध में कठोर शर्तें एवं अधिक ब्याज की दर के कारण बैंकों द्वारा दी जाने वाली ऋण की मात्रा में कमी हो जाती है।

(v) **रोजगार व विनियोग में कमी** – देश में उत्पादन, आय, रोजगार एवं विनियोग की मात्रा में कमी होने लगती है।

(vi) **उत्पादन में बाधायें** – कच्चे माल एवं श्रम की दुर्लभता के कारण उत्पादन में अनेक बाधायें पड़ने लगती हैं तथा साहसियों के लागत-व्यय सम्बन्धी अनुमान गलत हो जाते हैं व उनमें निराशा फैलने लगती है।

(vii) **संकोच एवं भय की भावनायें** – इसमें अत्यधिक निराशावाद अत्यधिक तेजी सम्बन्धी आशावाद का स्थान ले लेती है। अत्यधिक निराशावाद के कारण साहसियों में संकोच, भय एवं शंका की भावनायें उत्पन्न हो जाती हैं।

(viii) **व्यावसायिक विस्तार में कमी** – इस काल में नवीन योजनाओं को समाप्त कर दिया जाता है तथा अधूरी योजनाओं को भी छोड़ दिया जाता है। इसमें व्यावसायिक विस्तार रुक जाता है तथा कर्मचारियों में बेरोजगारी बढ़ जाती है।

(ix) **द्रव्यता पसन्दगी में वृद्धि** – द्रव्यता पसन्दगी में यकायक वृद्धि हो जाती है और लोग विनियोग करने के स्थान पर जमा करना अधिक पसन्द करते हैं।

(x) **निर्माण कार्य मन्द** – इस काल में निर्माण क्रिया मन्द पड़ जाती है तथा बेकारी का प्रभाव अन्य क्षेत्रों पर भी पड़ने लगता है।

(xi) **अंशों के मूल्यों में कमी** – उद्योगों व व्यवसायों में शिथिलता आने से अंश बाजार में दाम गिरने लगते हैं।

(xii) **विनियोजन में कमी** – साख देने की क्रिया अचानक रुक जाती है तथा विनियोजन की मात्रा में कमी हो जाती है।

इस प्रकार व्यापार-चक्र की पाँचों अवस्थायें क्रम से एक के बाद दूसरी घटित होती रहती हैं तथा यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। व्यापार-चक्र की विभिन्न अवस्थाओं को चित्र- 2 द्वारा दिखाया गया है।

उपर्युक्त चित्र में AB रेखा पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्रदर्शित करती है। इस रेखा के ऊपर की अवस्था को तेजी की अवस्था तथा गिरती हुई दिशा को मन्दी एवं मन्दी के पुनरागमन की दशा द्वारा दिखाया गया है। इस रेखा के नीचे उठती दशा में पुनर्जीवन तथा गिरती दशा में मन्दी की अवस्था को बताया गया है।

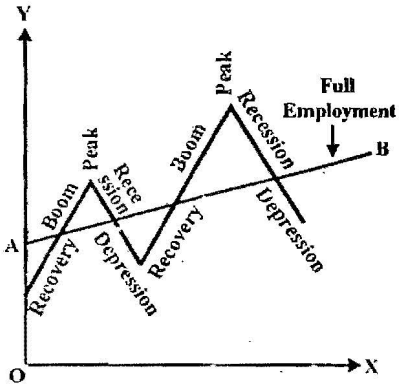

चित्र- 2

व्यापार-चक्र पर नियंत्रण
(Control on Business Cycle)

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मन्दी के बाद तेजी तथा तेजी के बाद मन्दी के बार-बार आने से भारी संकट उत्पन्न हो जाने का भय बना रहता है जो सामाजिक हितों के लिए हानिकारक सिद्ध होता है। उत्पादन की दृष्टि से उस सीमा तक विस्तार करना अच्छा माना जाता है जब तक कि वह पूर्ण रोजगार की स्थिति तक न पहुँच जाये। पूर्ण रोजगार की स्थिति के बाद भी विनियोग करने से स्फीतिक परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं और व्यापार-चक्र का प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। यदि पूर्ण रोजगार की स्थिति से आगे बढ़ने पर नियंत्रण लगा दिया जाये तो इससे बचा जा सकता है तथा व्यापार-चक्र पर नियंत्रण लगाया जा सकता है। इसी प्रकार अर्थव्यवस्था के सुझाव की ओर बढ़ने पर निर्धनता, बेरोजगारी आदि अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। इससे बचने के लिए यह आवश्यक होगा कि अर्थव्यवस्था को नियंत्रण की सहायता से पूर्ण रोजगार के स्तर से नीचे जाने पर प्रतिबन्ध लगा दिये जायें।

अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थिरता लाने के उद्देश्य से व्यापार-चक्रों पर नियंत्रण लगाना आवश्यक है, जिससे मन्दी को समाप्त करके पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त किया जा सके। व्यापार-चक्र से अर्थव्यवस्था में अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है, परन्तु निम्न कारणों से इनका कोई उचित समाधान सम्भव नहीं हो पाता–

(i) **प्रयास न करना** – देश के साहसी इस समस्या को हल करने का प्रयास नहीं करते।

(ii) **लागू करना सम्भव न होना** – प्रत्येक समय के व्यापार-चक्र में कुछ न कुछ नवीनता होने से किन्हीं सामान्य नियमों को बनाकर उन्हें हर सम्भव परिस्थितियों में लागू करना सम्भव नहीं हो पाता है।

NOTES

(iii) **समझने में असमर्थता** – श्रमिक एवं उनके प्रतिनिधि व्यापार-चक्र के दोषपूर्ण परिणामों को समझने का प्रयत्न नहीं करते।

(iv) **जनता का ध्यान हटना** – समाज में अभिवृद्धि की स्थिति आ जाने पर जनता का ध्यान मन्दी के समाधान की ओर से हट जाता है।

बाधायें – व्यापार-चक्र को नियंत्रित करने से पूर्व अनेक प्रकार की बाधायें उपस्थित हो जाती हैं, जो कि निम्नलिखित हैं–

(1) **कारणों का ज्ञान न होना** – देश में व्यापार-चक्रों के आने के क्या कारण रहते हैं, इसका पूर्ण रूप से ज्ञान नहीं हो पाता।

(2) **युद्ध की आशंका** – विश्व के कुछ राष्ट्रों में युद्ध की आशंका से स्फीतिक स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिन्हें नियंत्रित करने में अनेक बाधायें उपस्थित हो जाती हैं।

(3) **सहयोग व समन्वय का अभाव** – व्यापार में अनेक व्यापारियों की उपस्थिति से उनकी नीतियों में समन्वय एवं सहयोग का प्रभाव बना रहता है, जिससे आवश्यकता के अनुरूप उत्पादन सम्भव नहीं हो पाता।

उपचार

व्यापार-चक्र के उपचार

प्रतिबन्धात्मक उपाय	निवारणात्मक उपाय
1. माँग व पूर्ति में सन्तुलन	1. भौतिक नियंत्रण
2. साख व मौद्रिक नीति में समायोजन	2. प्रशुल्क नीति
3. प्रकृति पर निर्भरता की समाप्ति	3. मौद्रिक नीति
4. आधारभूत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण	4 अन्य उपचार

व्यापार-चक्रों को नियंत्रित करने के लिए, जैसा कि ऊपर दर्शाया गया है, दो उपचार उपयोग में लाये जा सकते हैं–

(अ) प्रतिबन्धात्मक उपाय (Preventive measures),

(ब) निवारणात्मक उपाय (Curative measures)।

(अ) **प्रतिबन्धात्मक उपाय** – इनमें उन उपायों को सम्मिलित किया जाता है जो व्यापार-चक्रों के आगमन पर ही रोक लगाते हैं। इस सम्बन्ध में निम्न उपायों को सम्मिलित किया जाता है–

(1) **माँग एवं पूर्ति में सन्तुलन** – देश में माँग एवं पूर्ति में सन्तुलन स्थापित करके देश के उत्पादन एवं आयात-निर्यात को आवश्यकता के अनुरूप समायोजित करके व्यापार चक्र को रोका जा सकता है।

(2) **साख व मौद्रिक नीति में समायोजन** – देश की सरकार को साख व मौद्रिक नीति में पहले से ही इस प्रकार समायोजन कर लेना चाहिए कि व्यापार चक्रों के प्रभाव से बचा जा सके।

(3) **प्रकृति पर निर्भरता की समाप्ति** – देश की अर्थव्यवस्था को प्रकृति पर निर्भर रहना समाप्त कर देना चाहिए जिससे उत्पादन का नियमित ढंग से विकास हो सके। कृषि उत्पादन के लिए देश में पर्याप्त मात्रा में जलन एवं सिंचाई की सुविधाओं का विकास करना आवश्यक है। प्रकृति पर कम निर्भर रहने पर देश आत्मनिर्भरता एवं आर्थिक विकास की ओर अग्रसर हो सकता है।

(4) **आधारभूत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण** – उत्पादन एवं उपभोग के अन्तर को समाप्त करने के उद्देश्य से सरकार को आधारभूत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिए, जिससे उत्पादन एवं उपभोग को समायोजित करके व्यापार-चक्र के आगमन पर प्रतिबंध लगाया जा सके।

(ब) **निवारणात्मक उपाय** – इसमें उन समस्त उपायों को सम्मिलित किया जाता है जो तेजी या मन्दी के आने के पश्चात् कार्य में लाये जायें। समाज की कुल आय को पूर्णरूप से व्यय कर देने पर पूर्ण रोजगार की स्थिति बनी रहती है। राष्ट्र की नीति का उद्देश्य तेजी की स्थिति में कुल व्यय में कमी करना एवं मन्दी की स्थिति में वृद्धि करना

होता है। इस प्रकार तेजी अथवा मन्दी की स्थिति को सुधारने के लिए कुछ व्यय को ही प्रभावित करके व्यापार-चक्र को रोका जा सकता है। मन्दी को सेकने के लिए सरकारी व्ययों को बढ़ा दिया जाता है तथा तेजी को रोकने के लिए सरकारी व्ययों में कमी कर दी जाती है। निवारणात्मक उपायों में से निम्न को सम्मिलित किया जा सकता है–

(1) भौतिक नियंत्रण (Physical Control)

(2) प्रशुल्क नीति (Fiscal Policy)

(3) मौद्रिक नीति (Monetary Policy)

(4) अन्य उपचार (Other Measures)

(1) **भौतिक नियंत्रण** – इसमें मूल्य नियंत्रण, मूल्य स्थिरता एवं राशनिंग आदि साधनों को सम्मिलित किया जाता है। युद्धकाल में स्फीतिक प्रभावों को रोकने हेतु मूल्य नियंत्रण तथा युद्धोपरान्त मूल्यों को गिरने से बचाने के लिए मूल्य स्थिरता के उपायों का पालन करना चाहिए। जैसे ही मूल्य इन सीमाओं के ऊपर या नीचे जाते हैं, सरकार राशनिंग द्वारा उनमें स्थिरता लाने के प्रयास करती है। मन्दीकाल में सरकार स्वयं भारी मात्रा में माल खरीदकर गिरते मूल्यों को रोककर उत्पादकों की रक्षा करती है।

(2) **प्रशुल्क नीति** – सरकार रोजगार, उत्पादन एवं राष्ट्रीय आय पर प्रभाव डालने वाले अवांछित प्रभावों को रोकने के लिए प्रशुल्क नीति को काम में लाती है। प्रशुल्क नीति में निम्न को सम्मिलित किया जाता है–

(अ) **कुल व्यय** – देश की कुल आय उपभोग एवं विनियोग के योग के बराबर होती है। मन्दीकाल में सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि करके तथा तेजीकाल में व्ययों में कमी करके व्यापार-चक्र के प्रभावों को ठीक करने के प्रयास किये जाते हैं। सार्वजनिक व्यय कुल व्यय का एक अंग होने से सार्वजनिक व्यय बढ़ने पर कुल व्यय भी बढ़ जाता है और सार्वजनिक व्यय घटने पर कुल व्यय भी घट जाता है। कुल आय $=C+I$ होती है। यदि अतिरिक्त सार्वजनिक व्यय को G द्वारा व्यक्त करें तो कुल बढ़ा हुआ व्यय $C+I+G$ होगा व घटा हुआ व्यय $C+I-G$ होगा। इसे चित्र-3 में दिखाया गया है। इसमें कुल व्यय $C+I$ है और सन्तुलन बिन्दु E है। यदि सार्वजनिक व्यय बढ़ जाये तो कुल व्यय बढ़कर $C+I+G$ होगा और सन्तुलन E′ होगा और आय बढ़कर OP′ हो जाती है। यदि सार्वजनिक व्यय घटता है तो कुल व्यय $C+I-G$ होगा, सन्तुलन बिन्दु E_2 होगा व आय घटकर OP_2 होगी।

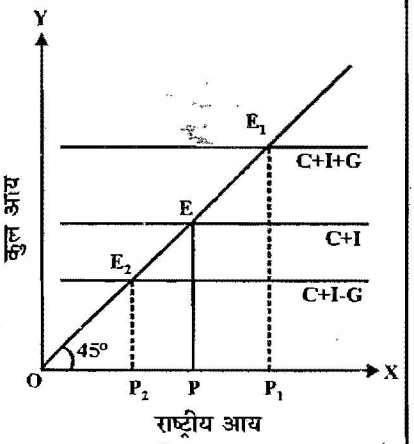

चित्र 3

अतः आय कम होने पर सार्वजनिक व्यय में वृद्धि करके कुल व्यय में वृद्धि की जानी चाहिए और आय अधिक है तो सार्वजनिक व्यय में कमी की जानी चाहिए।

(ब) **जन ऋण** – सार्वजनिक ऋणों का प्रभाव करारोपण के समान पड़ता है। ऋणों का भुगतान कर देने पर क्रय शक्ति जनता के हाथों में आ जाती है व प्रभावपूर्ण माँग में वृद्धि हो जाती है। अतः तेजीकाल में जनता से ऋण लेकर मन्दी के समय उसे चुका देना चाहिए, परन्तु इस बात का ध्यान रखा जाये कि यह ऋण समाज के उस वर्ग से प्राप्त किया जाये जिसके पास कोष फालतू पड़ा हो अर्थात् निजी उपभोग को कम करने की आवश्यकता न पड़े। मन्दी के समय ऋणों का भुगतान करके प्रभावपूर्ण माँग को बढ़ाया जा सकता है तथा व्यापार-चक्र का प्रभाव कम किया जा सकता है।

(स) **कर** – करों में वृद्धि करने से जनता के पास क्रय-शक्ति में कमी हो जाती है, फलस्वरूप उपभोग एवं कुल व्यय गिर जाता है व रोजगार एवं राष्ट्रीय आय में कमी हो जाती है। देश में स्फीतिक प्रभावों को कम करने के लिए करों में वृद्धि करके उसे नियंत्रित किया जा सकता है। इसके विपरीत मन्दीकाल में करों में कमी करके व्ययों में वृद्धि सम्भव करके मन्दी के प्रभावों को रोका जा सकेगा। सार्वजनिक व्ययों को उपभोग पर व्यय, व्यक्तिगत विनियोग एवं सार्वजनिक विनियोग के रूप में विभाजित किया जा सकता है। सार्वजनिक व्ययों की प्रमुख मदों में सामाजिक ऊपरी-व्यय, विभागों का विस्तार, निर्यात में वृद्धि, व्यक्तिगत उपभोग को प्रोत्साहन, कच्चे माल का संग्रह, अनुत्पादक कार्य एवं उद्योगों की स्थापना आदि सम्मिलित करते हैं।

(द) **बजट नीति** – मुद्रा-स्फीति काल में सार्वजनिक व्ययों में कमी एवं करों में वृद्धि करके बजट बनाये जा सकते हैं। इससे देश में होने वाले उच्चावचनों को सरलता से रोका जा सकता है। इसके विपरीत मन्दीकाल में सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि एवं करों में कमी करके घाटे के बजट बनाकर व्यापार-चक्र को नियंत्रित किया जा सकता है।

NOTES

(3) **मौद्रिक नीति** – इसमें मुद्रा एवं साख सम्बन्धी परिवर्तनों को सम्मिलित किया जाता है। देश की आर्थिक क्रियाओं में स्थिरता लाने हेतु प्रभावपूर्ण माँग को यथास्थिर रखना पड़ता है। किसी भी व्यक्ति का उपभोग मुख्यतः आय के साधनों, विनियोग, व्यय, पूँजी साधनों एवं बैंक ऋण की मात्रा पर निर्भर करता है। सरकार बैंक ऋण द्वारा मौद्रिक नीति का प्रयोग करके व्यापार-चक्र को सुधारने के प्रयास करती है। स्फीतिक काल में विनियोग आवश्यकता से अधिक हो जाते हैं जिसे रोकने हेतु ब्याज की दर बढ़ाकर बैंक ऋण को घटाने के प्रयास किये जाते हैं जिससे विनियोग की वृद्धि को रोका जा सके। इसके विपरीत मन्दीकाल में विनियोग आवश्यकता से कम हो जाते हैं, जिन्हें आकर्षित करने हेतु ब्याज दर घटाकर व सस्ती मौद्रिक नीति अपनाकर बैंक ऋणों में वृद्धि की जाती है। बैंक ऋण पर दो ढंगों से नियंत्रण लगाये जा सकते हैं–

(अ) परिमाणात्मक, (ख) गुणात्मक।

(अ) परिमाणात्मक में निम्न उपायों को सम्मिलित किया जाता है–

(i) **बैंक दर नीति** – स्फीतिक प्रवृत्ति को रोकने के लिए बैंक दर में वृद्धि कर दी जाती है जिससे व्यापारिक बैंकों की ब्याज दरों में वृद्धि हो जाती है, फलस्वरूप विनियोग की मात्रा में कमी हो जाती है तथा स्फीति के प्रभावों को रोका जा सकता है। इसके विपरीत मन्दी की अवस्था में बैंक दर घटा दी जाती है जिससे ब्याज दर घट जाती है तथा ऋण सस्ता होने से विनियोग की मात्रा में भी वृद्धि हो जाती है तथा मन्दी के प्रभावों को कम किया जा सकता है।

(ii) **खुले बाजार की क्रियायें** – तेजी की अवस्था में केन्द्रीय बैंक द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों को बेचा जाता है जिससे जनता का धन सरकार के पास चला जाता है। इससे विनियोग में वृद्धि नहीं हो पाती व स्फीति के प्रभावों को रोका जा सकता है। इसके विपरीत मन्दी काल में केन्द्रीय बैंक प्रतिभूतियों को क्रय करना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे प्रतिभूतियाँ सरकार के पास आ जाती हैं तथा मुद्रा बाजार में धन बढ़ जाता है, फलस्वरूप विनियोग में वृद्धि न होकर मन्दी को नियंत्रित किया जाता है।

(iii) **रिजर्व अनुपात में परिवर्तन** – मुद्रा प्रसार के समय केन्द्रीय बैंक द्वारा रिजर्व अनुपात में वृद्धि कर दी जाती है जिससे व्यापारिक बैंकों के पास धन की कमी हो जाती है व उनकी ऋण प्रदान करने की शक्ति घट जाती है और स्फीतिक प्रभाव कम हो जाते हैं। इसके विपरीत मन्दीकाल में इस कोष में कमी कर दी जाती है, जिससे आधिक्य धनराशि बैंकों को वापस कर दी जाती है, फलस्वरूप बैंकों के नकद कोष से वृद्धि होकर विनियोग बढ़ जाते हैं व मन्दी का निवारण हो जाता है।

(ब) **गुणात्मक** – इसमें निम्न को सम्मिलित किया जाता है–

(i) **नैतिक दबाव** – इसमें केन्द्रीय बैंक व्यापारिक बैंकों को समझा-बुझाकर तथा नैतिक दबाव डालकर उन्हें अपनी नीति के अनुरूप कार्य करने को प्रेरित करती हैं। मन्दीकाल में बैंक ऋण में विस्तार तथा तेजीकाल में संकुचन नीति का पालन करने के प्रयास किये जाते हैं व व्यापार-चक्र को नियंत्रित किया जाता है।

(ii) **ऋण मार्जिन में परिवर्तन** – यदि ऋण मार्जिन में वृद्धि कर दी जाये तो बैंकों की ऋण देने की सीमा कम हो जायेगी तथा व्यापारियों को पहले से कम मात्रा में धनराशि प्राप्त होगी जिससे विनियोग कम हो जायेंगे। इसके विपरीत मन्दीकाल में इस मार्जिन में कमी करके बैंकों द्वारा अधिक ऋण जनता को दिया जाता है, जिससे विनियोग में वृद्धि होगी तथा मन्दी पर नियंत्रण रखा जा सकेगा।

(iii) **उपभोक्ता साख नियंत्रण** – इसमें उपभोक्ता की साख पर नियंत्रण रखकर व्यापार-चक्र के प्रभावों को कम किया जाता है। इस साख नियंत्रण में तीन बड़ी बातें सम्मिलित की जाती हैं– (क) मूल्य के भुगतान का समय, (ख) पहली किस्त की राशि, (ग) किन वस्तुओं पर नियंत्रण लगाना है। यदि यह तीनों बातें कमजोर हैं तो व्यक्ति की ऋण लेने की इच्छा बढ़ जायेगी और यदि यह शर्तें कठोर हैं तो इच्छा कम हो जायेगी। अतः स्फीतिकाल में इन शर्तों को कठोर मन्दीकाल में ढीला छोड़कर साख पर नियंत्रण लगाया जा सकता है।

(4) **अन्य उपचार** – व्यापार-चक्र को नियंत्रित करने के लिए निम्न अन्य उपचारों का प्रयोग किया जा सकता है–

(i) **बिना लाभ बिक्री** – तेजीकाल में वस्तुओं की बिक्री बिना लाभ पर करके व्यापार-चक्र को नियंत्रित किया जा सकता है, परन्तु इसमें सफलता प्राप्त करना कठिन है। मन्दीकाल में वस्तुओं को लाभ पर बेचा जा सकता है।

(ii) **बेकारी बीमा योजना** – व्यावसायिक परिवर्तनों को रोकने हेतु इस नीति का पालन किया जाता है। यह योजना सभी श्रमिकों के लिए अनिवार्य कर दी जाती है जिससे प्राप्त धनराशि को एक पृथक कोष में रखा जाता है व मन्दी तथा बेकारी के समय इस कोष का उपभोग किया जाता है जिससे श्रमिकों के जीवन-स्तर को बनाये रखा जा सके।

(iii) **उत्पादित मुद्रा से व्यय** – कीन्स एवं उनके अनुयायियों ने इस रीति का समर्थन किया है क्योंकि (अ) इससे समाज के कुल आय- व्यय में कोई कमी नहीं होती, (ब) यह मुद्रा उस समय तक स्फीतिक प्रभाव नहीं दिखा सकती, जब तक कि देश में बेरोजगार के साधान रहेंगे।

(iv) **अन्तर्राष्ट्रीय उपाय** – व्यापार-चक्र को नियंत्रित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रयत्न किये जाने चाहिए, जैसे मूल्य वृद्धि पर नियंत्रण, सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि आदि।

(v) **सरकारी नियंत्रण में उत्पादन** – पूँजीवाद में लाभ की भावना से उत्पादन किये जाते हैं। यदि सरकारी नियंत्रण में उत्पादन किया जाये तो व्यापार-चक्रों को रोका जा सकता है।

4.4 व्यापार-चक्र के सिद्धान्त (Theories of Trade Cycles)

व्यापार-चक्र के सिद्धान्तों को दो वर्गों में रखा जा सकता है–

(अ) अमौद्रिक सिद्धान्त (Non-Monetary Theories)

(ब) मौद्रिक सिद्धान्त (Monetary Theories)

व्यापार-चक्र के सिद्धान्तों को निम्न चार्ट द्वारा भी दिखाया जा सकता है–

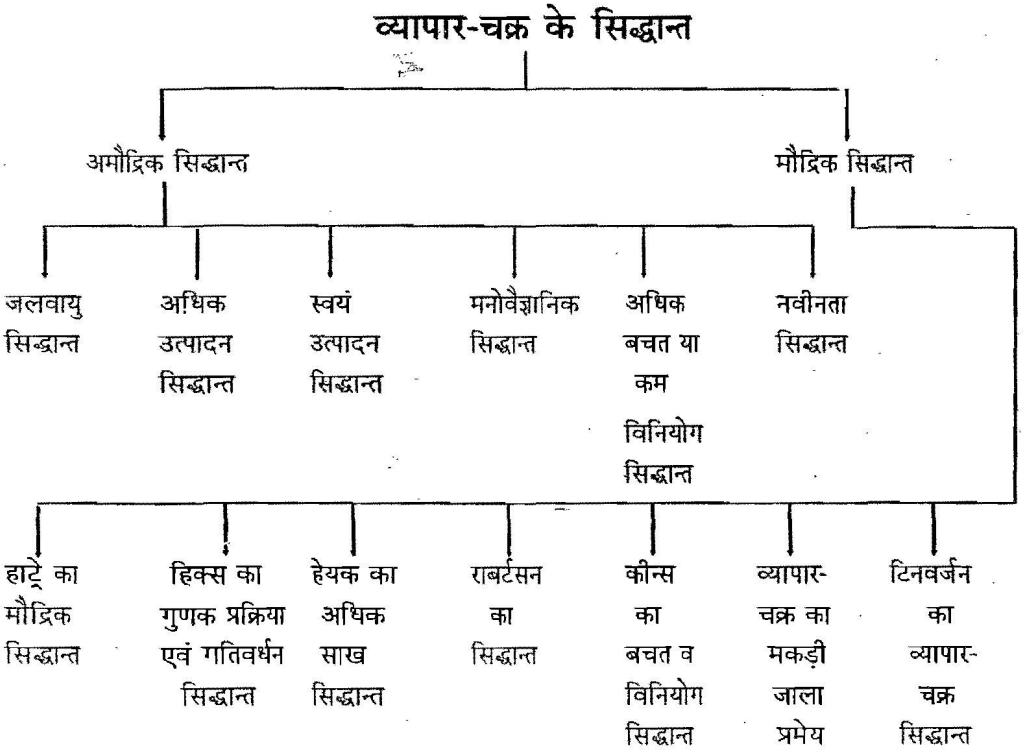

(अ) अमौद्रिक सिद्धान्त

व्यापार-चक्र के अमौद्रिक सिद्धान्तों में निम्न सिद्धान्तों को सम्मिलित किया जाता है :

(i) **जलवायु सिद्धान्त** (Climatic Theory) – इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले **जेवन्स** (Prof. Javens) हैं। इसे **सूर्य-कलंक सिद्धान्त** (Sun-Spot Theory) के नाम से भी पुकारते हैं। इस सिद्धान्त द्वारा इस बात पर बल दिया गया है कि आर्थिक संकट उसी समय दिखाई देते हैं, जबकि सूर्य पर कुछ धब्बे दिखाई दें। सूर्य के ऊपर जो काले धब्बे दिखाई देते हैं, उनके दिखाई देने का एक निश्चित क्रम होता है और इन धब्बों के कारण ही देश में आर्थिक उच्चावचन उत्पन्न हो जाते हैं। सूर्य के यह धब्बे एक निश्चित क्रम से दिखाई देते हैं, जिनकी औसत अवधि लगभग

NOTES

11 वर्ष होती है। सूर्य के इन धब्बों के कारण ही सूर्य विकिरण में परिवर्तन आ जाते हैं और इनसे भूमि पर वर्षा के चक्र उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार समय-समय पर सूर्य के धब्बे दिखाई देते हैं, वे वर्षा में निरन्तर परिवर्तन लाकर जलवायु को प्रभावित करके फसलों पर गहरा प्रभाव डालते हैं। बुरी जलवायु के कारण देश में फसलें नष्ट हो जाती हैं, फलस्वरूप मन्दी की प्रारम्भिक अवस्थायें प्रारम्भ हो जाती हैं, जो कालान्तर में देश की आर्थिक अर्थव्यवस्था के अन्य भागों को भी प्रभावित करते हैं। इसके विपरीत अच्छी जलवायु उद्योग एवं व्यापार को बढ़ावा देकर तेजी की अवस्था को प्राप्त करने के प्रयास किये जाते हैं। जलवायु सम्बन्धी यह परिवर्तन इतने क्रमिक होते हैं कि अच्छी फसलों व बुरी फसलों की अवधियों का ताँता सा बना रहता है, परन्तु वर्तमान समय में परिवहन व संदेशवाहन के विकास हो जाने से एक राष्ट्र के प्रभावों को दूसरे राष्ट्रों में प्रवेश करने के अवसर प्राप्त होते जाते हैं। यदि किसी एक राष्ट्र में फसलें असफल हो गयी हैं तो यह अन्य राष्ट्रों को भी प्रभावित करता है। जैसे यदि फसलों के खराब होने से अकाल की स्थिति उत्पन्न हो जाती है तो क्रय-शक्ति में कमी हो जाने से विदेशी माल की माँग कम हो जायेगी और विदेशों में अत्युत्पादन (overproduction) की समस्यायें खड़ी हो जायेंगी। इस प्रकार वर्षा का चक्र विपरीत दिशा में चलने से फसलें नष्ट हो जाती हैं तथा मानव के लिए मन्दी की दशायें उत्पन्न हो जाती हैं। सिद्धान्त के समर्थकों का कथन है कि 1930-31 की महान् मन्दी का कारण जलवायु ही बताया गया। जलवायु परिवर्तनों ने कृषि प्रधान राष्ट्रों में मन्दी उत्पन्न करके औद्योगिक राष्ट्रों को प्रभावित किया तथा वहाँ से यह समस्त विश्व में फैल गया।

वर्तमान समय में प्रमुख अमेरिकी अर्थशास्त्री मूर (Moore) ने व्यापार-चक्र एवं वर्षा चक्र में सम्बन्ध स्थापित किया तथा व्यापार-चक्र को उसका कारण बताया। मूर ने वर्षा चक्र का सम्बन्ध शुक्र ग्रह से लगाया जो प्रत्येक 8 वर्ष बाद पृथ्वी व सूर्य के मध्य से गुजरता है। इस प्रकार मौसम चक्र जो शुक्र की गति पर निर्भर होते हैं, ठीक वैसे ही प्रभाव उत्पन्न करते हैं, जैसे कि जेवन्स ने अपने सिद्धान्त में बताया था।

आलोचनायें – यद्यपि कृषि पर जलवायु का प्रभाव पड़ता है और उद्योग- धन्धे भी कच्चे माल की पूर्ति के लिए कृषि पर निर्भर होने से जलवायु से प्रभावित होते हैं, फिर भी इस सिद्धान्त को व्यापार-चक्र की एक वैज्ञानिक व्याख्या नहीं माना जा सकता। इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं–

(1) **समान प्रभाव का अभाव** – जलवायु का विश्व के समस्त राष्ट्रों में कृषि उद्योग पर एक- सा प्रभाव नहीं पड़ता, जबकि समान रूप से ही प्रभाव पड़ना चाहिए था।

(2) **औद्योगिक जगत में प्रभाव** – इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि औद्योगिक क्षेत्रों में व्यापार-चक्र समाप्त हो जाते हैं, लेकिन वास्तविक स्थिति इससे भिन्न है क्योंकि औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों में ही व्यापार-चक्र के प्रभाव अधिक दिखाई देते हैं।

(3) **कारण बताने में अस्पष्ट** – जलवायु परिवर्तन सिद्धान्त किसी समय पर भी व्यापार-चक्र की विशेषताओं को सन्तोषप्रद ढंग से बतलाने में असमर्थ रहता है। जैसे मन्दी की अपेक्षा तेजी की अवस्था में पूँजीगत वस्तुओं का उत्पादन अधिक तेजी से क्यों बढ़ता है इसका कारण बताने में यह सिद्धान्त असमर्थ रहता है।

(4) **प्रकृति पर कम निर्भरता** – खेती करने के ढंगों में परिवर्तन होने से प्रकृति पर निर्भरता कम हो गई है जिससे जलवायु सिद्धान्त व्यापार-चक्र की ठीक व्याख्या करने में असमर्थ रहता है।

(5) **सम्बन्ध का अभाव** – व्यापार-चक्रों का जलवायु-चक्रों से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रहता। प्रायः व्यापार-चक्र अन्य आर्थिक कारणों से उत्पन्न होते हैं, जिसका अध्ययन इस सिद्धान्त में नहीं किया गया है।

(6) **स्पष्ट चक्र का अभाव** – फसलों के उत्पादन में प्रायः पूर्णतया स्पष्ट चक्र दृष्टिगोचर नहीं होते हैं।

(ii) **अधिक-उत्पादन सिद्धान्त** (Overproduction Theory) – इस सिद्धान्त के अनुसार व्यापार-चक्र प्रायः अधिक उत्पादन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं। सिसमॉडी का विचार है कि एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादकों में गहन प्रतिस्पर्धा बनी रहती है जिस पर कोई नियंत्रण सम्भव नहीं हो पाता। प्रत्येक व्यापारी की यह इच्छा होती है कि वह अधिकाधिक बाजारों को अपने अधिकार में ले ले और उद्देश्य के फलस्वरूप वह उत्पादन की मात्रा बढ़ाता है, परन्तु दूसरी ओर माँग में इतनी वृद्धि सम्भव न होने से बाजार में माल बिना बिका अधिक मात्रा में रह जाता है। यह सिद्धान्त इस मान्यता को लेकर चलता है कि वर्तमान उत्पादन इतना कुशल हो जाता है कि वह उपभोग के साथ नहीं चल पाता और उत्पादन इतना अधिक बढ़ जाता है कि उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति उसे क्रय करने में असमर्थ रहती है। अतः अतिरिक्त माल को बेचने के लिए मूल्यों में कमी करना आवश्यक हो जाता है। जैसे ही मूल्य कम किये जाते हैं, सारा माल धीरे-धीरे बिक जाता है। जैसे ही पुराना आधिक्य समाप्त होता है उत्पादक फिर से अति उत्पादकता कर लेते

हैं और यह कठिनाई फिर से उपस्थित हो जाती है। मूल्यों में जरा-सी वृद्धि होने पर ही उत्पादक अपने उत्पादन को बढ़ा देते हैं, परन्तु मजदूरियों में मूल्यों की तुलना में उतनी वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती, जिससे क्रय शक्ति में तेजी से वृद्धि नहीं हो पाती। इसके अतिरिक्त क्रय शक्ति का एक भाग ऐसे व्यक्तियों के पास चला जाता है जो उसका संचय कर लेते हैं, परिणामस्वरूप अति-उत्पादन हो जाता है तथा कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं।

उत्पत्ति के साधनों के मूल्यों में वृद्धि होने से उत्पादन व्यय में भी वृद्धि हो जाती है। उत्पादन व्यय के परिणामस्वरूप मूल्यों में भी वृद्धि हो जाती है, जिसे उपभोक्ता सहन नहीं कर पाते और क्रय को थोड़े समय के लिए स्थगित कर देते हैं। फलस्वरूप लाभ घट जाते हैं व हानि में वृद्धि होने लगती है, साहसियों में आर्थिक दिवालियापन प्रकट होने लगता है व सीमान्त उत्पादक अपना उत्पादन बन्द ही कर देते हैं।

अधिक उत्पादन सिद्धान्त का दूसरा रूप प्रतियोगिता सिद्धान्त है। व्यापार-चक्र का कारण प्रतियोगी पूँजीवाद बताया गया है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में प्रतियोगी शक्तियाँ दो प्रकार से व्यापार-चक्र को प्रभावित करती हैं– एक ओर तो वह अधिक उत्पादन को जन्म देती हैं और दूसरी ओर यह उत्पादन लागत को बढ़ाती हैं। चैपमैन ने इन दोनों शक्तियों को क्रमशः धनात्मक व ऋणात्मक कहा है। इस धनात्मक एवं ऋणात्मक प्रभाव के कारण ही समुद्र की लहरों की भाँति व्यापारिक जगत में उतार-चढ़ाव आते रहते हैं। इस प्रकार इस प्रतियोगिता व लाभ अर्जित करने की लालसा से उत्पादक अधिकाधिक माल उत्पन्न करने के प्रयास करते हैं जिससे अति-उत्पादन होकर व्यापार-चक्र दृष्टिगोचर होने लगते हैं।

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्नलिखित हैं–

(1) **कारण बताने में असमर्थ** – यह सिद्धान्त व्यापार-चक्रों की प्रवृत्ति का कोई कारण बताने में असमर्थ रहता है। इसी प्रकार इसमें यह स्पष्ट नहीं किया गया कि व्यापार-चक्र सामान्य अति-उत्पादन के कारण उदय होते हैं अथवा विशिष्ट अति-उत्पादन के कारण। इसे चित्र-4 द्वारा दिखाया गया है।

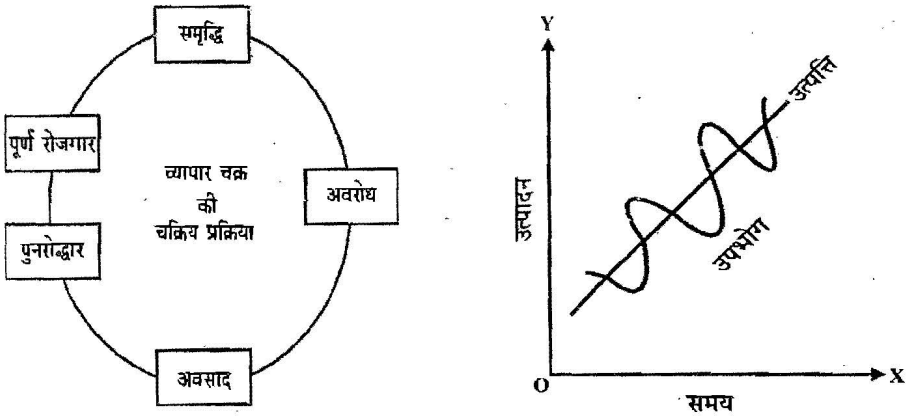

चित्र- 4

(2) **निश्चित समय की व्याख्या करने में असमर्थ** – यह सिद्धान्त इस बात को बताने में असमर्थ रहता है कि व्यापार-चक्र अपना मार्ग पूर्ण करने में एक निश्चित समय क्यों लेते हैं और प्रत्येक व्यापार एवं उद्योग पर ही इसका प्रभाव क्यों पड़ता है।

(3) **सम्बन्ध बताने में असमर्थ** – यह सिद्धान्त इस बात को बताने में असमर्थ रहता है कि अभिवृद्धि के पश्चात् अवसाद काल ही क्यों आता है।

(iii) **स्वयं-उत्पादन सिद्धान्त–मिचैल** (Self-Generation Theory–Mitchell) – मिचैल का विचार है कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्था का स्वभाव व्यापार-चक्रों को स्व-उत्पादित बनाना है। व्यापार-चक्रों का कारण पूँजीवादी प्रणाली में ही विद्यमान रहता है। पूँजीवादी आधुनिक अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण निम्न होते हैं–

(1) आर्थिक क्रिया के प्रत्येक क्षेत्र में मध्यस्थों का होना।

(2) साख मुद्रा का सरलता से प्राप्त होना।

(3) अनेक प्रकार की असंगतियों के कारण माँग एवं पूर्ति में सामंजस्य स्थापित करना कठिन हो जाता है।

(4) उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं के मध्य बहुत अधिक दूरी बनी रहती है।

(5) अर्थव्यवस्था में भारी मात्रा में पूँजी का विनियोजन किया जाता है।

NOTES

वर्तमान पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का स्वभाव ही व्यापार चक्र के लिए उत्तरदायी होते हैं। यदि सम्पन्नता की अवस्था का सावधानी से विश्लेषण किया जाये तो इस काल में मुद्रा की मात्रा बढ़ाई जाती है, मूल्यों में वृद्धि होने से व्यवसायीगण एक आशावादी दृष्टिकोण अपनाते हैं और वे वस्तुओं का संग्रह करना प्रारम्भ कर देते हैं। देश की आर्थिक प्रणाली में अनेक प्रकार की कठिनाइयों के कारण उत्पादन में आनुपातिक वृद्धि सम्भव हो पाती है और उत्पादन लागत की अपेक्षा विक्रय मूल्यों में तेजी से वृद्धि होने लगती है, फलस्वरूप लाभ में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन, रोजगार एवं ऋणों की माँग में वृद्धि हो जाती है, जिससे जमा एवं ब्याज दरों में वृद्धि होने लगती है। परन्तु इस वृद्धि की एक सीमा होती है और समस्त साधनों के प्रयोग होने पर बैंकों के न्यूनतम नकद कोष घट जाते हैं, लागत में तेजी से वृद्धि होकर, माँग में कमी होने की सम्भावना से लाभ एवं ऋण की मात्रा कम हो जाती है। व्यवसायी अपनी वित्तीय स्थिति को सुधारने हेतु व्ययों में कमी करने के प्रयास करते हैं, परन्तु माँग में कमी होने से आय में कमी हो जाती है। उपभोक्ता की माँग में कमी होने से उत्पादक वर्ग भी अपनी माँग को अपेक्षाकृत अधिक कम कर देता है।

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न हैं–

(1) **तुलना निरन्तर चालित मशीन से करना** – इस सिद्धान्त में आर्थिक यंत्र की तुलना एक निरन्तर चालित मशीन से की गई है, परन्तु व्यवहार में प्रत्येक मशीन के लिए अतिरिक्त शक्ति का उपयोग करना आवश्यक होता है तथा घड़ी की भाँति समय-समय पर चाबी नहीं दी गई तो अनेक प्रकार के अवरोधों के कारण वह रुक जाते हैं। यदि आर्थिक चक्र में निरन्तर शक्ति का उपयोग नहीं किया जाये तो वह कमजोर हो जायेगा।

(2) **सम्बन्ध का अभाव** – प्रत्येक आने वाली अभिवृद्धि का बीत चुके अवसाद से ठीक उसी प्रकार का सम्बन्ध होना चाहिए जैसा प्रत्येक अवसाद का उससे पूर्व अभिवृद्धि के साथ होता है, परन्तु व्यवहार में ऐसा सम्भव नहीं होता। प्रायः यह देखा गया है कि एक विशाल तेजी के बाद महान मन्दी तो आ जाती है, परन्तु महान मन्दी के पश्चात विशाल तेजी का आना आवश्यक नहीं होता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में सम्बन्धों का अभाव पाया जाता है।

(iv) **मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त–पीगू** (Psychological Theory-Pigou) – यह सिद्धान्त प्रो. पीगू द्वारा प्रतिपादित किया गया है जो कि प्रतिष्ठित विचारधारा के अनुकूल ही है। प्रतिष्ठित विचारधारा में यह माना गया है कि (अ) पूँजी एवं उपभोग की माँग पारस्परिक प्रतियोगी होने के कारण अधिक बचतें होने लगती हैं और उपभोग में कमी हो जाती है, परन्तु इस कमी का पूँजीगत माल की माँग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। (ब) पूर्ति स्वयं अपनी माँग उत्पन्न कर लेती है, जिससे अति-उत्पादन सम्भव सा हो जाता है। वास्तविक स्थिति यह है कि अधिक मात्रा में बचत स्वयं पूँजीगत माल की माँग को बढ़ा देती है। फलस्वरूप कुल माँग एवं कुल पूर्ति में भिन्नता नहीं हो पाती। प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने बताया कि समाज का आशावाद एवं निराशावाद ही साख की आर्थिक अस्थिरता एवं व्यापार-चक्र के उत्तरदायी होते हैं। व्यापार-चक्र आने के प्रमुख कारण समाज में आशावाद एवं निराशावाद का पाया जाना है। आशावाद में तेजी काल व निराशावाद में मन्दी काल की अवस्था पायी जाती है।

पीगू के अनुसार व्यापार-चक्र आने का कारण **मानसिक मनोवृत्ति** है। मानव के मस्तिष्क में एक के बाद दूसरी आशावाद एवं निराशावाद के विचार उठते रहते हैं कि जो व्यावसायिक क्रियाओं में व्यापार-चक्र का आधार बनते हैं। **पीगू** की यह विचारधारा है कि प्रारम्भ में मानव की मनोवृत्ति आशा की ओर रहती है, परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता होने के कारण उत्पादकगण अपने नेता-फर्म की कीमतों का अनुकरण करके व्यावसायिक क्रियाओं का विस्तार करते हैं, परन्तु मानव मनोवृत्ति स्थिर न रहने से धीरे-धीरे यह स्थिति बदल जाती है और लागत व्यय बढ़कर लाभ की मात्रा घट जाती है, परिणामस्वरूप संकट उत्पन्न हो जाते हैं। इससे मनोवृत्ति पर बुरा प्रभाव पड़कर अर्थव्यवस्था मन्दी की ओर जाने लगती है तथा मनोविज्ञानिक निराशा और अधिक बलवती बन जाती है तथा मन्दी या अवसाद काफी निम्न बिन्दु तक पहुँच जाता है। धीरे-धीरे जब उत्पादन व्यय मूल्यों की तुलना में गिरने लगते हैं तो फिर से लाभ की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं। इस समय मनोवृत्ति में फिर से परिवर्तन आने से पुनरुद्धार प्रारम्भ हो जाता है तथा अन्त में सम्पन्नता की ओर अग्रसर होता जाता है। इस क्रम का पुनरावर्तन होने से व्यावसायिक क्रियाएँ व्यापार-चक्र के रूप में दिखाई देती हैं। इस प्रकार व्यावसायिक क्षेत्र में जब कोई महत्वपूर्ण घटना घटित हो जाती है तो अन्य व्यक्तियों पर इसका शीघ्रता से प्रभाव पड़ने लगता है। उदाहरणार्थ, यदि मूल्य गिरने लगे तो प्रत्येक व्यक्ति हानि के डर से अपना माल बेचता नजर आने लगता है। एक व्यापारी को अपना माल बेचते देख अन्य व्यापारी भी अपना माल बेच डालते हैं। इसी प्रकार

तेजी के काल में लाभ की आशा से कार्य होने लगता है। इस प्रकार देश की अर्थव्यवस्था में मन्दी व तेजी के काल में निरन्तरता बनी रहती है और एक के बाद दूसरी घटित हो जाती है।

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं-

(1) **कारण बताने में असमर्थ** – यह सिद्धान्त यह बताने में असमर्थ है कि मन्दी कैसे प्रारम्भ होती है तथा क्यों आती है।

(2) **उतार-चढ़ाव समझने में असमर्थ** – सिद्धान्त में यह स्पष्ट नहीं किया गया कि उतार-चढ़ाव एक नियमित समय पर ही क्यों आते हैं?

(3) **व्यापारिक विश्वास पर प्रभाव** – देश की व्यावसायिक दशाओं पर व्यापारिक विश्वास का गहरा प्रभाव पड़ता है। व्यवसाय पर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता एवं मौद्रिक व अमौद्रिक घटकों का प्रभाव पड़ता है, परन्तु इस सिद्धान्त में इन बातों की ओर ध्यान देने से यह त्रुटिपूर्ण बन गया है।

(4) **अपूर्ण व्याख्या** – यह सिद्धान्त व्यापार-चक्रों की केवल अपूर्ण व्याख्या ही कर पाता है जिससे यह सिद्धान्त अधूरा है।

(v) **अधिक बचत या कम विनियोग सिद्धान्त**–हॉब्सन (Over-saving or Under-investment Theory–Hobson) – हॉब्सन एवं उसके समर्थकों ने व्यापार-चक्र का कारण आय का असमान वितरण बताया है। इस सिद्धान्त के अनुसार समाज में अमीर एवं गरीबों की आय में जो व्यापक अन्तर पाया जाता है, उसके फलस्वरूप उत्पन्न हुई बचत या कम उपभोग की घटनाओं के कारण ही देश की समस्त अर्थव्यवस्था पर व्यापार-चक्र का प्रभाव पड़ता है। देश में आय के वितरण की असमानतायें ही आर्थिक संकटों को उत्पन्न करती हैं। आय का वितरण असमान होने से ही देश में व्यापार-चक्र उत्पन्न हो जाते हैं और आर्थिक संकटों को जन्म देते हैं।

समाज में रहने वाले व्यक्तियों को धनी एवं निर्धन दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। समाज की आय का एक बहुत बड़ा भाग धनी वर्ग को प्राप्त होता है, जो अपनी समस्त आय को उपभोग पर व्यय न करके उसका एक बड़ा भाग बचत करके विनियोग कार्य पर लगा देते हैं। परिणामस्वरूप उपभोग की वस्तुओं की माँग घट जाती है तथा विनियोग बढ़ने से आगे चलकर वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि होकर मूल्यों में कमी करनी होती है। इससे लाभ घट जाते हैं व धनी वर्ग की आय कम होकर, बचत व विनियोग गिरकर उत्पादन पर बुरा प्रभाव डालते हैं। उत्पादन व उपभोग लगभग समान हो जाते हैं, फलस्वरूप मूल्य एवं लाभ फिर से बढ़ने लगते हैं, जिससे आय बढ़ जाती है, बचत एवं विनियोग बढ़कर फिर से पुरानी बात दोहरायी जाती है। इस प्रकार यह व्यापार-चक्र का क्रम चलता ही रहेगा। यह क्रम उस समय तक चलता रहेगा जब तक कि धनी व्यक्ति अधिक व्यय न करें या बचत करना छोड़ दें या जब तक देश में आय का समान वितरण न हो जाये। बचत जितनी अधिक होगी तथा आय का जितना अधिक असमान वितरण होगा, उतने ही अधिक व्यापार-चक्र प्रभावशाली होंगे। व्यापार-चक्र के संकट से छुटकारा उसी समय प्राप्त हो सकता है जबकि उत्पादन-व्यय उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति के बराबर हो तथा वस्तु के उत्पादन करने में जितना खर्चा किया जाये वह समस्त धन समाज को ही किसी न किसी रूप में वापस कर दिया जाये, परन्तु यह सम्भव नहीं होता, क्योंकि राष्ट्रीय आय का एक बड़ा भाग साहूकार, जमींदार व अन्य धनी वर्ग के पास चला जाता है जो संख्या में थोड़े होते थे। परिणामस्वरूप उपभोक्ताओं की क्रय शक्ति कम हो जाती है तथा दूसरी ओर धनी वर्ग अपनी आय को खर्च न करके बचत करते हैं और वह धन उपभोग पर व्यय नहीं हो पाता। इस कमी के कारण ही व्यापार-चक्र के संकट उत्पन्न हो जाते हैं।

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न प्रकार हैं-

(1) **बचत व विनियोग का भ्रमात्मक सम्बन्ध** – इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि विनियोग के उच्चावचन, बचत में उच्चावचन से प्रभावित होते हैं, परन्तु व्यवहार में यह पाया जाता है कि विनियोगों में बचतों की तुलना में अधिक उच्चावचन होते हैं। प्रायः मूल्य वृद्धि की सम्भावना मात्र से ही विनियोग की मात्रा में वृद्धि हो होती है, परन्तु अवसाद काल में ही बचत विनियोग से अधिक हो जाती है जिससे ऋण लेने व देनें दोनों में ही घबराहट होती है, फलस्वरूप यह बचतें बैंकों में जमा कर दी जाती हैं।

(2) **अभिवृद्धि के कारणों को स्पष्ट करने में असमर्थ** – यदि आय से बचत की जाये तो वह विनियोग हो सकती है और उसका लाभ अन्ततः उपभोक्ताओं को प्राप्त होता है, जिससे बचत करने पर माँग में कमी होने का अनुमान

NOTES

नहीं लगाया जा सकता है। इसी प्रकार बचतों में वृद्धि करने से विनियोगों पर पड़ने वाले प्रभावों को ठीक प्रकार से नहीं बताया जाता।

(3) **ब्याज से विनियोग प्रभावित नहीं होते** – प्रायः यह माना जाता है कि अधिक बचत करने से ब्याज की दरें गिर जाती हैं और वह विनियोगों को प्रोत्साहित करेंगी, परन्तु व्यवहार में ब्याज की नीची दरें विनियोग को प्रोत्साहित नहीं कर पातीं, क्योंकि विनियोग में वृद्धि केवल लाभ की सम्भावना पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ, अवसाद काल में बचत जमा होने पर भी विनियोग की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि सम्भव नहीं हो पाती है।

(4) **मूल्य एवं उपभोग वस्तु के सम्बन्ध की गलत धारणा** – प्रायः यह माना गया है कि मूल्यों के उच्चावचनों का उपभोग वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति को अधिक प्रभावित करते हैं और इस प्रकार शीघ्र नाशवान वस्तुओं की कीमतों में टिकाऊ वस्तुओं की अपेक्षा अधिक उच्चावचन होता है, परन्तु व्यवहार में यह सत्य नहीं है, क्योंकि अवसाद काल में भी विभिन्न राष्ट्रों में लोहा, इस्पात व अन्य टिकाऊ वस्तुओं के मूल्य खाद्य पदार्थों की तुलना में काफी कम पाये गये।

(5) **गलत दिशा में बल देना** – इस सिद्धान्त में गलत दिशा की ओर बल दिया गया है। व्यापार-चक्र व संकट का कारण जो आय के वितरण की असमानता माना गया है वह भ्रमात्मक है क्योंकि वितरण की असमानतायें निरन्तर बढ़ती जाती हैं।

(6) **व्यापार-चक्र के कारण अस्पष्ट** – उत्पादन कला में सुधार के साथ-साथ सामाजिक आय में वृद्धि होती है, जिससे समाज के सभी वर्गों को लाभ प्राप्त होते हैं, परन्तु इस लाभ का अधिकांश भाग धनी वर्ग को प्राप्त होता है। इससे उपभोग की वस्तुओं की माँग घटकर विलासिता की माँग में वृद्धि हो जाती है, फलस्वरूप उपभोग वस्तुओं के उत्पादन करने वाले उद्योगों में मन्दी आ जाती है, परन्तु यह व्यापार-चक्र आने के कारणों को स्पष्ट करने में असमर्थ रहते हैं।

(7) **न्यून उपभोग व आय वितरण असमानता का व्यापार-चक्र से सम्बन्ध न होना** – समाज में आय के वितरण की असमानता एवं न्यून उपभोग का व्यापार-चक्र से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता है, क्योंकि आर्थिक प्रगति के साथ-साथ मूल्य स्तर नीचे गिरते हैं तथा मुद्रा का विस्तार हो जाता है, जिससे शीघ्र नाशवान एवं टिकाऊ वस्तुओं का सम्बन्ध बिगड़ जाता है।

(vi) **नवीनता सिद्धान्त–शुम्पीटर** (Innovation Theory–Schumpeter) – शुम्पीटर के अनुसार व्यावसायिक चक्र प्रायः नवीनता के कारण उत्पन्न होते हैं, यदि नवीनतायें न हों तो अर्थव्यवस्था एक साम्य की स्थिति पर आकर टिक जायेगी जहाँ जनसंख्या, उत्पादन-विधियाँ, साधन एवं रुचियों में कोई परिवर्तन न होगा। ऐसी दशा में शुद्ध बचत व विनियोग नहीं होते, उत्पादन माँग के आधार पर समायोजित होकर, व्यावसायिक चक्रों को उत्पन्न नहीं करता, परन्तु नवीनतायें उत्पादन व्यय एवं कीमतों में अनिश्चितता उत्पन्न कर देती हैं, जिससे अर्थव्यवस्था में निरन्तर उच्चावचन आते रहते हैं। यह उच्चावचन ही व्यापार-चक्र को जन्म देते हैं तथा व्यापार-चक्र के कारण होते हैं।

शुम्पीटर के अनुसार नवीनता में निम्न बातों को सम्मिलित करते हैं – (i) व्यवसाय के आन्तरिक संगठन में कोई परिवर्तन नहीं होता, (ii) उत्पादन की बिक्री के लिए नवीन विपणियों की खोज की जा सकती है। (iii) समाज में किसी नवीन वस्तु का उत्पादन सम्भव हो सकता है। (iv) उत्पादन की नवीन तकनीक का उपयोग करना। (v) कच्ची सामग्री के नवीन स्रोतों का पता लगाना। (vi) उत्पादन की नवीन विधियों का उपयोग करना।

उत्पादकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन होने से आर्थिक व व्यावसायिक जगत में भी परिवर्तन हो जाते हैं, जिनसे उत्पादन लागत अस्थिर हो जाती है तथा देश में उद्योगों के उत्पादन को माँग के आधार पर समायोजित करना पड़ता है, परन्तु नवीन परिवर्तनों के साथ-साथ माँग वक्र में भी बार-बार परिवर्तन होते रहते हैं जिससे यह अनिश्चित ही रहता है।

प्रारम्भ में अर्थव्यवस्था को साम्य की स्थिति में माना जाता है जिसमें बचत एवं विनियोग दोनों समान होते हैं और पूर्ण रोजगार की स्थिति पाई जाती है। यदि साहसियों को किसी ऐसी नवीनता से परिचित कराया जाये, जो उनके लिए लाभप्रद होगी तो वे उसे स्वीकार करके, बैंकों से ऋण आदि लेकर नवीन उपक्रमों की स्थापना करेंगे। इनकी सफलता पर अन्य साहसी भी उनका अनुकरण करते हैं जिससे अर्थव्यवस्था में विस्तार होता है, विनियोगों में वृद्धि एवं साख का विस्तार होकर बैंक साख व मौद्रिक आय का निर्माण होता है, परन्तु उत्पादन बढ़ाने में समय लगाना आवश्यक

है जिससे पुराने उपक्रमों द्वारा ऊँचे मूल्यों व लाभों की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और सम्पन्नता का काल प्रारम्भ हो जाता है। व्यापार-चक्र स्वयं को चक्रीय प्रक्रिया के रूप में व्यक्त करता है जैसा कि चित्र-5 से स्पष्ट है–

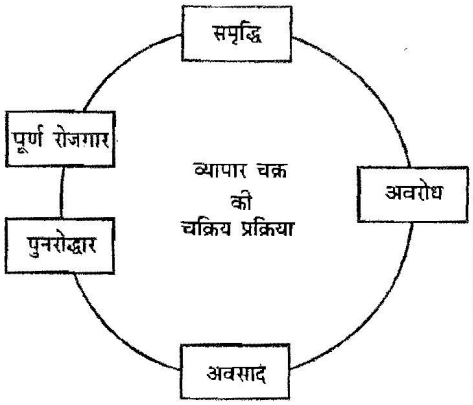

चित्र - 5

धीरे-धीरे नवीन उपजें भी निरन्तर बाजार में आने से पुरानी फर्मों के साथ प्रतियोगिता होगी और उनके लाभ घट जायेंगे। उपभोक्तागण भी पुरानी वस्तुओं के स्थान पर नवीन वस्तुओं को प्राप्त करेंगे, जिससे पुरानी वस्तुओं की माँग गिर जायेगी। व्यवसाय की माँग बढ़ने पर नवीन फर्में अपने लाभ में से बैंक ऋणों को वापस करने लगेंगे, जिससे बाजार में मुद्रा की मात्रा घटेगी एवं इसका मूल्यों पर विस्फीतिक (deflationary) प्रभाव पड़ेगा। इस प्रकार वस्तुओं की माँग पहले से भी अधिक कम हो जायेगी। पुरानी फर्मों को घटती माँग का सामना करना पड़ता है जिससे वह उत्पादन कम करके श्रमिकों व अन्य उत्पत्ति के साधनों की छँटनी करेंगे। बेरोजगारी में वृद्धि होने से प्रभावशाली माँग में और अधिक कमी होगी और मन्दी काल प्रारम्भ हो जायेगा। इस काल में अत्यधिक निश्चितता के कारण स्थिति और भी गम्भीर हो जाती है। शुम्पीटर ने अवसाद की व्याख्या गौण लहरों (secondary waves) से की है, जिसका विस्तार प्रारम्भिक लहरों से उत्पन्न होता है और बाद में अत्यधिक निराशावाद का काल प्रारम्भ हो जाता है। बैंक अपनी तरलता बनाये रखने के प्रयास करती है तथा पुराने ऋणों को वापस माँगती है।

शनैः-शनैः दिवालिया फर्में अपना व्यवसाय बन्द कर देती हैं, जिससे शेष फर्मों का भविष्य उज्ज्वल हो जाता है और वे कुशलतापूर्वक उत्पादन कार्य करना प्रारम्भ कर देते हैं, जिससे विस्फीतिक क्रम का विकास भी अन्त में अवरुद्ध हो जाता है।

आलोचनाएँ – शुम्पीटर के सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं–

(1) **बैंक साख का प्रभाव पड़ना** – देश में सम्पन्नता की दशा में बैंक साख की मात्रा भी व्यापार-चक्र को प्रभावित करती है। प्रायः यह देखा गया है कि जितनी अधिक साख की मात्रा में वृद्धि होगी, उतनी अधिक मात्रा में मूल्यों में भी वृद्धि सम्भव हो सकेगी।

(2) **बेरोजगारी पर प्रभाव** – यदि नवीन वस्तु से प्रभावित उद्योग किसी एक स्थान विशेष पर केन्द्रित है तो बेकारी पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि श्रमिक प्रायः गतिहीन होते हैं, परन्तु व्यवहार में नवीनता का प्रभाव किसी एक क्षेत्र तक ही सीमित न होकर समूचे राष्ट्र पर पड़ने से बेरोजगारी पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(3) **अनुचित मान्यतायें** – शुम्पीटर के सिद्धान्त में यह मानकर चला गया है कि देश की अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार एवं अर्थप्रबन्धन हेतु बैंक साख की व्यवस्था है, परन्तु वास्तव में यह दोनों ही मान्यताएँ अनुचित एवं काल्पनिक हैं।

(4) **अवधि का प्रभाव** – व्यापार-चक्र पर नवीन उद्योगों की अवधि का भी प्रभाव पड़ता है। किसी भी उद्योग के निर्माण में यह अवधि जितनी अधिक होगी, उतना ही माँग के अनुरूप उत्पादन को भली प्रकार से समायोजित किया जा सकता है। इसको सिद्धान्त में ध्यान में नहीं रखा गया।

(5) **नवीनता के प्रतिस्पर्धात्मक प्रभाव** – व्यापार-चक्र की गहनता के निर्धारण में नवीनता के प्रतिस्पर्धात्मक प्रभावों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है। जैसे नवीन वस्तु के प्रचलन के कारण पुराने उद्योगों को पुनः समायोजन करना सरल होगा, परन्तु माँग में कमी होने पर उद्योगों का पुनः समायोजन करने में अत्यन्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

(6) **सामाजिक मान्यताओं पर आधारित** – शुम्पीटर के सिद्धान्त में लोचपूर्ण बैंकिंग पद्धति को महत्व प्रदान करने पर भी उसे मौद्रिक सिद्धान्त में नहीं रखकर सामाजिक मान्यताओं पर आधारित माना है क्योंकि यदि मौद्रिक विशेषताओं को नियंत्रित कर दिया जाये तो व्यापार-चक्रों को सरलता से समाप्त किया जा सकेगा।

(7) **नवीनता में अनियमितता के कारण बताने में असमर्थ** – यह सिद्धान्त नवीनता में अनियमितता आने के कारण बताने में असमर्थ है। शुम्पीटर ने यह अनियमितता व्यक्तिगत साहसी के कारण बताई है, जबकि इसका कारण प्राविधिक एवं सामाजिक गति में समानता का अभाव होना है।

(8) **अवसाद व पुनरोद्धार का सम्बन्ध भ्रमात्मक** – सिद्धान्त में यह माना गया है कि अवसाद के पश्चात पुनरोद्धार की अवस्था स्वतः ही प्रारम्भ हो जाती है, परन्तु यह मान्यता गलत है क्योंकि अवसाद प्रायः पूँजी व विनियोग की कमी के कारण उदय होते हैं और उसे सामान्य स्थिति तक लाने के लिए लाभ के अतिरिक्त अन्य घटकों की भी आवश्यकता होती है, जिसे इस सिद्धान्त में ध्यान में न रखकर केवल लाभ की प्रेरणा पर ही जोर दिया गया है।

(9) **नवीनता की गलत व्याख्या** – शुम्पीटर ने नवीनता की जो व्याख्या की है वह सही नहीं है क्योंकि कुछ नवीनताएँ अधिक विकास में बाधाएँ उपस्थित कर देती हैं। इस प्रकार इस सिद्धान्त में नवीनता की गलत ढंग से व्याख्या की गयी है।

(ब) मौद्रिक सिद्धान्त

आधुनिक काल में व्यापार-चक्रों के लिए मौद्रिक कारणों का निर्माण किया गया है। इन सिद्धान्तों में पूर्ण रूप से मौद्रिक कारणों की व्याख्या की गई है। इनमें प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं–

1. हाट्रे का मौद्रिक सिद्धान्त,
2. हिक्स का गुणक प्रक्रिया एवं गतिवर्धन सिद्धान्त,
3. हेयक का अधिक साख सिद्धान्त,
4. राबर्टसन का सिद्धान्त,
5. कीन्स का बचत एवं विनियोग सिद्धान्त,
6. व्यापार-चक्र का मकड़ी जाला प्रमेय, एवं
7. टिनबर्जन का व्यापार-चक्र सिद्धान्त।

1. **हाट्रे का मौद्रिक सिद्धान्त (Hawtrey's Monetry Theory)** – हाट्रे के अनुसार व्यापार-चक्र एक विशुद्ध मौद्रिक प्रवृत्ति है तथा मुद्रा के प्रवाह में परिवर्तन ही आर्थिक अवस्था में परिवर्तन लाने के लिए जिम्मेदार है और इसी से तेजी एवं मन्दी का सृजन हो जाता है। हाट्रे का सिद्धान्त तीन तथ्यों पर आधारित होता है– (i) देश में कुल मौद्रिक माँग के प्रवाह में परिवर्तन, (ii) थोक व्यापारियों का देश की अर्थव्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान होना, एवं (iii) बैंक निधियों की वापसी का महत्व।

समाज को तीन वर्गों में रखा जा सकता है– उपभोक्ता, व्यापारी एवं बैंक। उपभोक्तागण अपनी सीमित आय को प्राप्त करने एवं उसे व्यय करने में लगे रहते हैं। व्यापारी वर्ग आय प्राप्ति के साथ-साथ माल की बिक्री, संचय, क्रय के आदेश आदि का कार्य भी करते हैं। बैंक धन को निक्षेप के रूप में प्राप्त करते तथा ऋण देने के कार्य करते हैं, परन्तु उनका एक अतिरिक्त कार्य नवीन मुद्रा का सृजन करना है जो प्रायः नकदी या बैंक साख मुद्रा के रूप में हो सकती है। मुद्रा के प्रवाह में वृद्धि होने से वस्तुओं की माँग में वृद्धि होती है, जिससे व्यापार, रोजगार, उत्पादन, आय एवं मूल्यों में वृद्धि होती है। इसके विपरीत मुद्रा के प्रवाह में कमी होने से वस्तुओं की माँग में कमी, व्यापार में मन्दी, उत्पादन, रोजगार, आय एवं मूल्यों में भी कमी हो जाती है तथा अर्थव्यवस्था मन्दी की ओर बढ़ जाती है।

समाज में तीनों वर्ग मुद्रा की खपत एवं वृद्धि में लगे रहते हैं। जब मुद्रा को आय के रूप में प्राप्त किया जाये तो नकदी की खपत तथा व्यय करने पर नकदी की मुक्ति कहेंगे। समाज के समस्त उपभोक्ताओं को मिलाकर उनकी मौद्रिक आय कुल व्यय के बराबर होती है। यदि उपभोक्ता बैंकों से ऋण उधार लेकर व्यय करें तो भी नकदी की मात्रा में शुद्ध वृद्धि सम्भव नहीं होगी, क्योंकि भविष्य में उन ऋणों का भुगतान अपनी आय से ही करना होगा, जिससे व्ययों में कमी हो जायेगी, परन्तु इस प्रकार की आय प्राप्ति एवं व्यय में समयावधि का अन्तर पाया जाता है।

व्यापारियों को वस्तुओं की बिक्री से आय प्राप्त होती है। यदि बिना लाभ के माल बेचा जाये तो बिक्री से प्राप्त आय उनके व्यय के बराबर होगी, जो नकद राशि उपभोक्ता द्वारा दी जाती है उसे व्यापारी प्राप्त करता है तथा स्वयं भी उत्पत्ति के साधनों का भुगतान करके उपभोक्ता रूपी श्रमिकों व अन्य साधनों की आय में वृद्धि करता है। इस प्रकार उपभोक्ता व व्यापारी एक दूसरे को नकद राशि का हस्तांतरण करते रहते हैं। उपभोक्ता अपनी आय का एक भाग बचत के रूप में रखता है जिसे वह विनियोग कर देता है। यदि मुद्रा की मात्रा में कमी हो जाये तो अपस्फीति को बढ़ावा मिलकर मन्दी का समय आ जाता है, जिससे माँग में कमी हो जाती है, फलस्वरूप मूल्यों में कमी व उत्पादन घटकर बेरोजगारी में वृद्धि हो जाती है। परिणामस्वरूप आय में कमी हो जाती है। इसके विपरीत मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने

से तेजी को बढ़ावा मिलता है, माँग में वृद्धि होकर मूल्य-उत्पादन एवं आय में वृद्धि हो जाती है। मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से तेजी तथा कमी होने से मन्दी की अवस्थाएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

बैंक जनता से निक्षेप के रूप में धन स्वीकार करते हैं तथा साख का निर्माण करके सन्तुलन स्थापित करने के प्रयास किये जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में कुल नकद राशि एवं साख की मात्रा यथास्थिर रहती है। प्रायः व्यापारी वर्ग बैंकों से धनराशि ऋण के रूप में प्राप्त करते तथा बाद में उसे वापस कर देते हैं। जब बैंक एवं समाज के मध्य नकद राशि के हस्तांतरण क्षतिपूर्ण है तो इसका कोई विशेष महत्व नहीं होता, परन्तु यदि यह राशि इससे कम या अधिक हो जाये तो उसके परिणाम महत्वपूर्ण होते हैं। देश में व्यापार-चक्र ऊपर की ओर उस समय जाता है जबकि माँग में वृद्धि हो जाये। उत्पादक अधिक मात्रा में माल उत्पादित करके प्राप्त मुद्रा को उपभोक्ताओं को हस्तांतरित कर देते हैं। उपभोक्ता इस आय का उपयोग माल खरीदने में करके इस राशि को उत्पादकों को हस्तांतरित करते एवं अधिक माल निर्मित करने को प्रेरित करते हैं। इस प्रकार जब-जब व्यापारी अपने स्टाक में वृद्धि करें, प्रत्येक बार उपभोक्ता की आय में वृद्धि होगी। माँग पूर्ण न होने पर व्यापारी मूल्यों को बढ़ा देते हैं और तेजी की अवस्था आ जाती है।

परन्तु बैंकों द्वारा साख प्रदान करने की एक सीमा होती है और वे उससे अधिक मात्रा में ऋण-प्रदान करने में असमर्थ होते हैं। बैंक साख पर नियंत्रण लगा देते हैं और कुछ समयोपरान्त इसके प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगते हैं। साख पर प्रतिबन्ध ब्याज की ऊँची दरों के रूप में प्रकट होकर संकट काल के आगमन को सूचित करती है। जब बैंक अपने ऋणों को भी वापस माँगने लगते हैं तो इससे मूल्यों, आय, रोजगार आदि में कमी होने लगती है। धन वापस करने के लिए कुछ व्यापारियों को अपने विनियोगों को हानि पर भी बेचना पड़ता है। इस काल में मजदूरी में मूल्यों की अपेक्षा कमी कम गति से होती है। बैंकों द्वारा साख के विस्तार करने की कुछ सीमाएँ होती हैं क्योंकि उन्हें अपने दायित्वों को पूर्ण करने के लिए न्यूनतम मात्रा में नकद कोष रखना पड़ता है और जब बैंकों को यह अनुपात बनाये रखना कठिन हो जाता है तो वह साख के विस्तार पर ही प्रतिबन्ध नहीं लगाते, बल्कि ऋणों को भी वापस माँगने लगते हैं, जो व्यापारियों के लिए विपत्ति का कारण बन जाता है।

परन्तु संकुचन की भी एक सीमा होती है। उत्पादन घटने, आय में कमी होने एवं संकुचन की गहरी छाप गिरने से व्यापारी स्टाक की मात्रा में कमी करके उधार लिया हुआ ऋण बैंकों को वापस कर देते हैं और बैंकों के नकद कोष पुनः भर जाते हैं। इस समय ब्याज की दरें काफी कम हो जाती हैं, जो विनियोग को आकर्षक बनाती हैं और बैंक फिर से साख के विस्तार की नीति का पालन करने लगते हैं। इस प्रकार तेजी व मन्दी की अवस्थाएँ आती रहती हैं।

आलोचनाएँ – हाट्रे के सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं–

(1) **विनियोग के कारणों की उपेक्षा** – इस सिद्धान्त में इन कारणों की व्याख्या नहीं की गई, जिन पर विनियोग निर्भर करते हैं। देश में उपभोग एवं विनियोग के परिवर्तनों से आर्थिक जीवन व अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है, परन्तु इस सिद्धान्त में इस बात का उत्तर नहीं मिलता कि मुद्रा में वृद्धि क्यों होती है।

(2) **साख की निम्न कीमत का गलत विचार** – सिद्धान्त में यह बताया गया है कि साख का मूल्य कम करने से साख में विस्तार होकर उत्पादन व मूल्यों में वृद्धि व अभिवृद्धि का आगमन होता है, परन्तु आलोचकों का कथन है कि उत्पादन में वृद्धि होने के अन्य कारण भी होते हैं, जिन्हें ध्यान में नहीं रखा गया।

(3) **ब्याज दर अप्रभावी** – व्यापार-चक्र के इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि व्यापारीगण ब्याज की नीची दरों से प्रभावित होकर ही स्टाक बनाने की दिशा में प्रेरित व प्रोत्साहित होते हैं, परन्तु वास्तव में इस बात को देखकर स्टाक का निर्माण नहीं किया जाता, बल्कि ब्याज दरों के स्थान पर लाभ की मात्रा को ध्यान में रखा जाता है। यदि ब्याज दर ऊँची हो, परन्तु लाभ की सम्भावना हो तो भी उत्पादन व स्टाक में वृद्धि की जा सकती है।

(4) **कारण व परिणाम का अन्तर समझने में भूल** – हाट्रे अपने सिद्धान्त में कारण व परिणाम का अन्तर समझने में भूल कर बैठे। सिद्धान्त के अनुसार अभिवृद्धि के शिखर पर ब्याज की दर में वृद्धि करने से संकट आते हैं, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता क्योंकि ब्याज की दर की वृद्धि संकट से पूर्व सम्भव नहीं है बल्कि उसके पश्चात् ही आती है और संकट आने से साख का पतन हो जाता है।

(5) **बचत व विनियोग में सन्तुलन का अभाव** – इस सिद्धान्त की यह मान्यता रही है कि बचत एवं विनियोग में सन्तुलन बना रहता है, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं पाया जाता और बैंकों की नीति इसमें विघ्न उत्पन्न करती है।

(6) **उत्पत्ति के साधनों की धारणा** – सिद्धान्त में यह माना गया है कि उत्पत्ति के समस्त साधन काम में लगे हुए हैं तथा उनको सरलता से एक क्षेत्र से हटाकर दूसरे क्षेत्र को हस्तांतरित किया जा सकता है, परन्तु व्यवहार में यह मान्यता लागू नहीं होती और इस प्रकार के हस्तांतरण में अनेक प्रकार की बाधाएँ उपस्थित होती हैं।

NOTES

(7) **उधार देने से हानि नहीं होती** – सिद्धान्त द्वारा यह बताया गया है कि बैंकों द्वारा धन उधार देने से सदैव हानि का सामना करना पड़ेगा, परन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं है।

(8) **ऐच्छिक बचत की सीमा ज्ञात करना कठिन** – उत्पादन क्रियाएँ ऐच्छिक बचत पर निर्भर न होकर साख विस्तार पर आधारित हैं, परन्तु उस ऐच्छिक बचत सीमा का पता लगाना कठिन होता है।

2. **हिक्स का गुणक क्रिया एवं गतिवर्धन सिद्धान्त** (Hicks Theory of Multiplier And Acceleration) – **कीन्स** से यह माना था कि उपभोग गति का प्रारम्भ विनियोग से ही होता है तथा विनियोग पर किया गया व्यय उपभोग सम्भावना के गुणक को जन्म देता है। **क्लेकी** ने भी इसी सम्बन्ध में अपने विचार रखे हैं और उन्होंने अपना ध्यान गुणक पर ही केन्द्रित व त्वरक विचार का आविष्कार किया। **क्लेकी** के अनुसार विनियोग में परिवर्तन करने से आय एवं रोजगार की सम्भावना पर तुरन्त प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि एक काल में विनियोग बढ़ता है तो उस पर किसी दूसरे काल में बढ़ाये गये विनियोग का भी प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार के प्रभाव आगे आने वाले विनियोगों से भी पड़ते हैं, परन्तु ऐसे प्रभाव में कुछ समय लगता है। वास्तविक जगत में विनियोग नियमित एवं निरन्तर न होने पर भी, विनियोग की मात्रा में वृद्धि होने पर आय पर भी निरन्तर बढ़ता हुआ प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार विनियोग की मात्रा घटाने पर इसके प्रभाव विपरीत दिशा में पड़ते हैं। वर्तमान आय पर विनियोग की मात्रा निर्भर न होने के कारण गुणक प्रभाव दिखाई देते हैं। देश में विनियोग की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ कालान्तर में विनियोग की अगली वृद्धि पहली वृद्धि की तुलना में कम प्रभावशील होती है। विनियोग की तुलना में आय में वृद्धि नहीं हो पाती जिसके परिणामस्वरूप विनियोग की दर में कमी होने लगती है। उपभोग की वस्तुओं से माँग हटकर विनियोग की वस्तुओं की ओर हस्तांतरित होने से समाज में उपभोग वस्तुओं की अपेक्षा विनियोग वस्तुओं की उपज में अधिकाधिक परिवर्तन होते हैं। इसी कारण **त्वरक प्रवृत्ति** अधिक बलवान होती जाती है।

हिक्स ने व्यापार-चक्र में गुणक एवं त्वरक सिद्धान्त का सम्मिलित प्रयोग किया है। हिक्स ने विनियोगों को दो भागों में विभाजित किया है– (i) स्वाभाविक (autonomous) एवं (ii) प्रेरित (induced)। स्वाभाविक विनियोग नियमित दर से बढ़ते रहते हैं और उत्पादन की मात्रा का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तथा देश में एक प्रगतिशील एवं सन्तुलित अर्थव्यवस्था की स्थापना हो जाती है। इसके विपरीत प्रेरित विनियोग में उत्पत्ति की मात्रा में होने वाले परिवर्तनों को सम्मिलित किया जाता है जैसे माँग बढ़ने पर उत्पादन में वृद्धि की जाती है और यदि माँग की वृद्धि स्थायी प्रकृति की है तो उद्योग के पूँजीगत माल में विस्तार करना पड़ेगा। इस प्रकार से माँग में वृद्धि होने से उत्पादन में वृद्धि होगी जो विनियोग को प्रेरित एवं प्रोत्साहित करती है। इसी विधि को **गतिवर्धन सिद्धान्त** (Principle of Acceleration) के नाम से जाना जाता है।

गुणक प्रक्रिया – आय एवं विनियोग की मात्रा में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होता है कि आय सदैव विनियोग की मात्रा पर निर्भर करती है। अतः विनियोग के स्तर के समान ही आय का भी एक स्तर होता है। आय एवं विनियोग के मध्य जो सम्बन्ध होता है उसी के आधार पर गुणक एवं गतिवर्धन सिद्धान्त की प्रक्रिया का निर्धारण किया जाता है। इसी कारण यह माना जाता है कि जिस गति से आय में वृद्धि होगी, उसी गति से विनियोग की मात्रा में भी वृद्धि हो जायेगी। जब विनियोग एवं उत्पत्ति संतुलित व्यवस्था में हो तो नवीन आविष्कार के फलस्वरूप स्वाभाविक विनियोग में वृद्धि होती है और प्रेरित विनियोग भी उसके साथ बढ़ जाते हैं। स्वाभाविक विनियोग में वृद्धि बहुत कम होती है और उसका सन्तुलन बिगड़ जाता है और वह अपने पूर्व की स्थिति पर लौट आता है, परन्तु प्रेरित विनियोग में ऐसा सम्भव नहीं हो पाता। उत्पादन की वृद्धि प्रेरित विनियोग को बढ़ावा देती हुई वह आगे बढ़ती गई और वह तब तक उठता रहता है जब तक कि वह पूर्ण रोजगार की सीमा तक न पहुँच जाये। अन्त में उसकी गति विपरीत दिशा की ओर होकर उत्पादन एवं विनियोग दोनों घटकर सन्तुलन के स्तर पर आ जाते हैं। प्रेरित विनियोग उत्पादन को सहारा देने में असमर्थ रहने पर रोजगार की सीमा में कमी हो जाती है और यह गति वृद्धि की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है, फलस्वरूप व्यावसायिक फर्में एक के बाद एक असफल होने लगती हैं, जनता की द्रवता पसन्दगी अचानक बढ़ जाती है तथा साख-विस्तार पर बुरा प्रभाव पड़ता है तथा मन्दी का प्रभाव और अधिक गहरा होता जाता है।

आय में वृद्धि के साथ-साथ विनियोग में भी वृद्धि होती है, जिससे विनियोग वक्र नीचे से ऊपर उठता है जिसे चित्र-6 में दिखाया गया है।

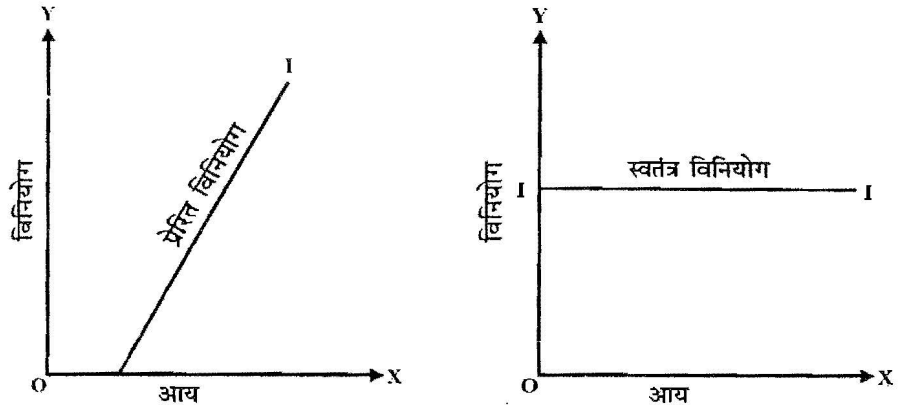

चित्र- 6

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं–

(1) **विशाल व लघु विनियोग** – सिद्धान्त में यह माना गया है कि उत्पादन में परिवर्तन करने से विनियोग का उत्पादन में परिवर्तन के साथ कुछ अनुपात बना रहता है, परन्तु वास्तविक स्थिति यह है कि फर्मों के विस्तार की दर उनके वित्तीय एवं मौद्रिक साधनों से सीमित होती है और विशाल विनियोगों की तुलना में लघु विनियोग से अधिक लाभ उठाया जा सकता है।

(2) **लघु विनियोग पर्याप्त** – देश में लघु विनियोगों के लिए पर्याप्त वित्तीय साधन उपलब्ध होते हैं जबकि विशाल विनियोगों के लिए यह सुविधा उपलब्ध नहीं होती है। अतः विशाल परिवर्तनों के लिए विनियोग सम्बन्धी आशा कम लोचदार होती है, जबकि लघु परिवर्तनों के लिए यह आशा अधिक लोचदार रहती है।

3. **हेयक का अधिक साख सिद्धान्त** (Hayek's Over-issue of Credit Theory) – देश में मुद्रा की वास्तविक एवं मौद्रिक दर में अन्तर के कारण ही मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होकर मूल्यों में वृद्धि एवं पतन हो जाता है फलस्वरूप बचत की अपेक्षा विनियोग कम या अधिक हो जाते हैं। जब देश में ब्याज दर उसकी प्राकृतिक दर से कम हो तो बचत की अपेक्षा विनियोग अधिक हो जाते हैं, जो प्रायः साख के विस्तार द्वारा ही सम्भव हो पाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होकर मूल्य स्तर भी बढ़ जाते हैं। इसके विपरीत यदि ब्याज दर प्राकृतिक दर से ऊँची रही तो विनियोगों का संकुचन होकर साख का संकुचन एवं मूल्यों में गिरावट आ जाती है। हेयक के अनुसार व्यापार-चक्रों का कारण ब्याज दर एवं प्राकृतिक दरों का अन्तर है। समाज में साख का प्रचलन न होने पर बचतें पूँजी में बदल जाती हैं तथा व्यापार-चक्र समाप्त हो जाते हैं। इस प्रकार बचत एवं विनियोग के मध्य साम्य स्थापित हो जाता है।

यदि समाज में बचत स्थिर रहने पर साख का विस्तार किया जाये तो बैंकों द्वारा इस कार्य में सफलता ब्याज दरों को घटाने पर ही मिल सकेगी। विनियोग राशि उत्पादकों के हाथों में आने से पहले उपभोग वस्तु उद्योगों एवं बाद में पूँजीगत वस्तुओं के उद्योगों का विस्तार होगा। साख के निर्माण के कारण ब्याज दर गिरेगी तथा यह पूँजी की सीमान्त उत्पादकता या प्राकृतिक दर के बराबर नहीं होगी बल्कि यह दर प्राकृतिक दर से निम्न होगी। उपभोक्ताओं द्वारा उपभोग पदार्थों की माँग बढ़ने से उपभोग पदार्थों का उत्पादन करना लाभप्रद हो जाता है, किन्तु यह वृद्धि उत्पादकीय साख के विस्तार के कारण स्वतंत्र गति से नहीं हो पाती और यह ब्याज दर को नीचा करने में सहायता प्रदान करती है। बाद में ब्याज दर बढ़ जाती है, जिससे साख विस्तार भी रुक जाता है तथा अर्थव्यवस्था संकुचन की ओर जाने लगती है, जिससे पूँजी की कमी होकर संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

व्यापार-चक्र के उपचार के सम्बन्ध में तटस्थ मुद्रा का सुझाव दिया गया। सप्रभावित माँग पर ही व्यवसाय नियमित ढंग से चलने के कारण मुद्रा की माँग में कोई परिवर्तन नहीं होने चाहिए।

आलोचनायें – सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं–

(1) **उत्पत्ति के समस्त साधनों का प्रयोग** – सिद्धान्त में यह माना गया है कि उत्पत्ति के समस्त साधन पूर्णरूप से उपयोगी हैं तथा प्रयोग में लगे हुए हैं और बैंकों द्वारा साख का विस्तार होने पर यह साधन एक स्थान से हटकर दूसरे स्थानों को जाने से उत्पत्ति कार्य में विघ्न व बाधायें उपस्थित होती हैं, परन्तु वास्तविक जीवन में उत्पत्ति के साधन कभी भी पूर्णरूप से कार्य में न आने के कारण उनका स्थानान्तरण सरल एवं सुविधाजनक नहीं होता।

NOTES

(2) **ऐच्छिक बचत की सीमा** – **हेयक** ने यह माना कि उत्पादन क्रियायें, ऐच्छिक बचत पर निर्भर न होकर साख विस्तार पर निर्भर होने के कारण, उन्हें विस्तार करने पर अधिक हानियाँ होने की सम्भावना हो जाती है। इसके अतिरिक्त उस सीमा को ज्ञात करना भी कठिन होता है जहाँ से ऐच्छिक बचत की सीमा समाप्त होकर साख सृजन का कार्य प्रारम्भ हो जाता है।

(3) **सम्पन्नता को स्पष्ट करने में असमर्थ** – मन्दी के पश्चात् जो सम्पन्नता की अवस्था प्रारम्भ होती है उसे स्पष्ट करने में यह सिद्धान्त असमर्थ है।

(4) **साख विस्तार हानिप्रद सम्बन्धी गलत धारणा** – इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि बैंकों द्वारा साख विस्तार करने से अर्थव्यवस्था को सदैव हानि का सामना करना पड़ेगा, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि साख विस्तार के साथ-साथ व्यापारिक क्रियाओं में भी वृद्धि होती है।

(5) **बचत व विनियोग में सन्तुलन का अभाव** – इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि बचत एवं विनियोग में प्रायः संतुलन बना रहता है, परन्तु वास्तव में ऐसा सम्भव नहीं हो पाता।

4. **राबर्टसन का सिद्धान्त** – (Theory of Robertson) – **प्रो. राबर्टसन** ने व्यापार-चक्र का प्रमुख कारण वास्तविक व्यय एवं वास्तविक माँग के उन परिवर्तनों को बताया, जिनके आधार पर आर्थिक प्रगति अनियमित गति से होने लगती है। मजदूरी एवं मुद्रा प्रणाली के संस्थागत कारण आर्थिक प्रगति के मार्ग में होने वाले उच्चावचनों को अनुपयुक्त बना देते हैं। मजदूरी प्रणाली में उत्पादन में वृद्धि करने हेतु ऊँची कीमत की प्रेरणा दी जाती है, जिसका प्रभाव साहसी वर्ग पर पड़ता है और मजदूरी में वृद्धि तुरन्त न होकर थोड़े समय के पश्चात् ही होती है। इसी प्रकार जब उत्पादन का संकुचन किया जाता है तो मजदूरी में कमी तुरन्त न होकर बाद में जाकर होती है। इस प्रकार मजदूरी में मूल्यों के साथ-साथ वृद्धि या कमी न होने से अभिवृद्धि काल में लाभ की सम्भावनाएँ बढ़ जाती हैं तथा संकुचन काल में यह सम्भावनायें कम हो जाती हैं। साहसी द्वारा अधिक लाभ होने की सम्भावना मात्र से कच्ची सामग्री एवं श्रमिकों पर अधिक व्यय किया जाता है जिससे समाज की मौद्रिक आय में वृद्धि हो जाती है। इसके लिए धन की व्यवस्था साहसी द्वारा स्वयं अपने साधनों एवं बैंकों से साख विस्तार के माध्यम से की जाती है।

राबर्टसन ने व्यापार-चक्रों का सम्बन्ध मुख्यतः बैंकिंग पद्धति से जोड़ा है। यदि किसी वर्ष फसल अच्छी हो जाये तो बैंक उत्पादकों को अल्पकालीन ऋण देने की व्यवस्था करता है। अच्छी फसल के कारण अन्य उद्योग भी पनपने लगते हैं और वह भी बैंकों से अल्पकालीन ऋण की माँग करते हैं और उससे अल्पकालीन ऋणों की माँग में स्वतः ही वृद्धि हो जाती है। यदि बैंकों द्वारा दिये गये ऋणों या साख विस्तार के साथ-साथ उद्योगों के उत्पादन में भी वृद्धि हो जाती है तो वस्तुओं के मूल्य ऊँचे नहीं हो पाते, परन्तु व्यवहार में यह सम्भव नहीं होने से मूल्य स्तर में वृद्धि होती है। मूल्यों में वृद्धि के फलस्वरूप साहसी उत्पादन बढ़ाने हेतु और अधिक ऋण की माँग करते हैं जिससे भविष्य में और अधिक ऊँचे मूल्यों पर माल बेचा जा सके। इस समय तक माँग में इतनी अधिक वृद्धि हो जाती हैं कि देश के कारखाने एवं परिवहन सेवाएँ उसे पूर्ण करने में असमर्थ रहते हैं। भविष्य में मूल्यों के बढ़ने के भय से स्टाक में वृद्धि करना प्रारम्भ हो जाता है, इससे मूल्यों में और वृद्धि हो जाती है। परन्तु बैंक भी एक निश्चित सीमा तक ही साख विस्तार कर पाते हैं तथा जैसे ही साख-विस्तार को रोकते हैं, भविष्य में मूल्यों के गिर जाने के डर से व्यापारी अपना स्टाक बेचना प्रारम्भ कर देते हैं जिससे साहसी डरकर ब्याज दर कम होने पर भी ऋण लेने में हिचकिचाते हैं। कालान्तर में ऋण की माँग भी कम होती जाती है और बैंकों के पास नकद संचय बढ़ जाते हैं जिससे उन्हें फिर से साख विस्तार की अनुकूल दशाएँ उत्पन्न होकर व्यावसायिक क्रिया के विस्तार का अवसर प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार बैंकिंग प्रणाली प्रत्यक्ष रूप से व्यापार-चक्रों को जन्म व प्रोत्साहित करती है।

आलोचनाएँ – इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न प्रकार हैं–

(1) **परस्पर विरोधी तर्क** – यह सिद्धान्त कारण एवं परिणाम के सम्बन्ध में परस्पर विरोधी तर्कों को प्रकट करता है, क्योंकि सिद्धान्त में यह माना गया है कि माँग में वृद्धि किये बिना ही पुनरोद्धार की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है, जबकि वास्तव में अर्थव्यवस्था का विकास किये बिना माँग में वृद्धि करना सम्भव नहीं होता।

(2) **तेजी टूटने सम्बन्धी गलत धारणा** – सिद्धान्त में यह माना गया है कि ब्याज दर में वृद्धि करके ही तेजी की स्थिति को रोका जा सकता है, परन्तु वास्तव में देश की अर्थव्यवस्था में तेजी तोड़ने के लिए ब्याज दर को बढ़ाना आवश्यक नहीं माना जाता, क्योंकि ब्याज दर में वृद्धि प्रायः मुद्रा की माँग में वृद्धि होने के कारण आती है।

(3) **वास्तविक तथ्यों से पृथक** – वास्तविक तथ्यों के आधार पर इस सिद्धान्त की पुष्टि सम्भव नहीं हो पाती। व्यवहार में यह पाया गया है कि अच्छी फसलें होने पर तेजी के स्थान पर मन्दी का आगमन ही होता है जबकि इस सिद्धान्त में यह माना गया है कि अच्छी फसलें होने पर उत्पादक संग्रह करना प्रारम्भ कर देंगे जिससे तेजी ही जायेगी।

(4) **अवास्तविक मान्यताएँ** – यह सिद्धान्त व्यवहार में लागू नहीं होता और इसका लागू करना कुछ अवास्तविक मान्यताओं पर ही आधारित माना गया है जैसे यह कल्पना करना कि देश की औद्योगिक संस्थाएँ अपनी पूर्ण कार्यक्षमतानुसार कार्य कर रही हैं तथा यह मानना कि देश के समस्त विनियोग साधन पूर्णरूप से कार्य कर रहे हैं, कोरी कल्पना मात्र है, जो व्यवहार में लागू नहीं होती, जिससे सिद्धान्त भी काल्पनिक समझा जाता है।

5. **कीन्स का बचत व विनियोग सिद्धान्त** (Saving and Inestment Theory of Keynes) – कीन्स का व्यापार-चक्र सम्बन्धी बचत एवं विनियोग का सिद्धान्त रोजगार एवं मुद्रा सिद्धान्त का ही एक भाग है। सामान्य सिद्धान्त द्वारा निकाले गये वे निष्कर्ष जो व्यापार-चक्र सिद्धान्त के लिए लागू किये गये हैं, निम्न प्रकार हैं :

(1) **कुल माँग में कम वृद्धि** – समाज में कुल आय की वृद्धि के साथ-साथ यह पूर्णरूपेण सम्भावना बनी रहती है कि पूर्ति की तुलना में कुल माँग में अपेक्षाकृत कम वृद्धि हो। माँग में वृद्धि होने से रोजगार की समस्या उत्पन्न हो जाती है, जिसे सुधारने के लिए सरकारी स्तर पर विनियोग में वृद्धि करना आवश्यक होगा।

(2) **गुणक प्रभाव** – गुणक प्रभाव के क्रियाशील होने के कारण विनियोग की मामूली-सी वृद्धि आय एवं रोजगार में कई गुनी वृद्धि कर देती है।

(3) **विनियोग में वृद्धि** – देश में बेरोजगारी में वृद्धि हो जाने पर उसे सुधारने के लिए मजदूरी में कमी करने के स्थान पर विनियोगों में वृद्धि करनी चाहिए।

(4) **ब्याज दर** – देश में प्रायः पूँजी की बचत एवं विनियोग करने से ब्याज की दर पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ पाता।

जिस प्रकार पूर्ण रोजगार तीन बातों पर निर्भर करता है, उसी प्रकार व्यापार-चक्र के लिए **कीन्स** ने तीन कारणों को ही विशेष महत्व दिया है, जो निम्नलिखित हैं–

(i) पूँजी की तरलता (Liqiidity of Capital)

(ii) पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता (Marginal Efficiency of Capital)

(iii) उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to Consume)

व्यापार-चक्र सिद्धान्त में ब्याज दर के स्थान पर पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता पर अधिक ध्यान दिया गया है। **कीन्स** के अनुसार व्यापार-चक्र **पूँजी की सीमान्त कुशलता** के चक्रिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप उत्पन्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त **विनियोग गुणक** (Invesment multiplier) भी व्यापार-चक्र के आगमन में सहायता प्रदान करते हैं।

कीन्स के व्यापार-चक्र की व्याख्या **संकटकाल** से प्रारम्भ होती है। देश की अर्थव्यवस्था में संकट का प्रमुख कारण पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता में कमी होना है। मन्दी के समय पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता प्रायः अधिक होती है, क्योंकि (i) इस काल में पूँजीगत वस्तुओं को बदलना आवश्यक हो जाता है, (ii) प्रायः संचित की गई चल-सम्पत्ति समाप्त हो जाती है, एवं (iii) नवीन आविष्कारों को प्रेरणा प्राप्त होती है। मन्दी के दिनों में ब्याज दर भी कम हो जाती है क्योंकि बैंकों के पास मुद्रा की मात्रा में वृद्धि हो जाती है तथा जनता की द्रव्यता पसन्दगी में भी कमी आ जाती है। इस प्रकार देश में विनियोग, उत्पादन एवं आय में वृद्धि होकर माँग में वृद्धि होने लगती है, फलस्वरूप व्यापार का विस्तार एवं विनियोग में और अधिक वृद्धि होने लगती है। विनियोग गुणक तेजी की स्थिति उत्पन्न करके मूल्य में वृद्धि करने की स्थिति को उत्पन्न करता है। तेजीकाल में व्यवसायी की आशायें गुणक तेजी की स्थिति उत्पन्न करके मूल्य में वृद्धि करने की स्थिति को उत्पन्न करता है। तेजीकाल में व्यवसायी की आशायें बहुत अधिक होती हैं, जिन पर ब्याज एवं उत्पादन व्यय की वृद्धि का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। इससे पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता कम हो जाती है तथा ब्याज दर बढ़ जाती है व विनियोग में कमी होने लगती है व अवसाद का काल प्रारम्भ हो जाता है। संकट के पश्चात् प्रायः नवीन विनियोग अवरुद्ध हो जाते हैं जिससे अनिर्मित माल स्टॉक जमा हो जाता है तथा उत्पादन में कमी व पूँजी मात्रा भी कम होती जाती है। इस प्रकार एक बार मन्दी प्रारम्भ होने पर, वह बढ़ती ही जाती है। मन्दी व तेजी का यह क्रम चलता ही रहता है जो व्यापार-चक्र को जन्म देता है। तेजी की स्थिति अधिक समय तक नहीं रह पाती क्योंकि व्यवसायियों के पास आशा से अधिक माल इकट्ठा हो जाता है जिससे मूल्य कम किये जाते हैं, जबकि दूसरी ओर

NOTES

उनके उत्पादन व्यय बढ़ जाते हैं, फलस्वरूप पूँजी की सीमान्त कार्यक्षमता में कमी होकर विनियोग में कमी हो जाती है। दूसरी ओर जनता में द्रव्यता पसन्दगी बढ़ जाने पर उसमें और तीव्रता आ जाती है जो स्थिति को और गम्भीर बना देती है। एक बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाने से ब्याज दर में वृद्धि हो जाती है पर उसमें और तीव्रता हो जाती है और विनियोग गुणक विपरीत दिशा में कार्य करके मूल्यों में कमी की ओर प्रभाव डालने लगते हैं।

कीन्स की यह मान्यता है कि व्यापार-चक्रों का मुख्य कारण बचत एवं विनियोग के मध्य अन्तर होता है। गुणक सिद्धान्त के आधार पर यह अन्तर और अधिक गहन हो जाता है और यह क्रम उस उस समय तक चलता रहता है जब तक कि वह तेजी के शिखर या मन्दी की गहनता तक न पहुँच जाये।

कीन्स ने मन्दी के निवारणार्थ सस्ती मुद्रा नीति को अपनाने का सुझाव दिया। इसी प्रकार तेजी को रोकने के लिए बैंक मुद्रा संकुचन पर जोर दिया। **कीन्स** ने व्यापार-चक्र का कारण आशावाद एवं निराशावाद का क्रमिक आना जाना माना, जो स्वयं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित होता है। मन्दी का कारण न्यून उपभोग लगाया गया व बेकारी का सम्बन्ध अति-बचत से लगाया गया। विनियोग की प्रवृत्ति से बचत की प्रवृत्ति हो जाने पर मन्दी आती है तथा विनियोग की प्रवृत्ति में वृद्धि होने पर वृद्धि काल आ जाता है। बचत एवं विनियोग समान होने पर ही व्यापार-चक्र को रोका जा सकता है।

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनायें निम्न हैं –

(1) **कारण बताने में असमर्थ** – सिद्धान्त इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया कि व्यापार-चक्र सदैव एक निश्चित समय पर ही क्यों आते हैं और उनके आने के निश्चित मार्ग ही क्यों बने हुए हैं।

(2) **पूँजी की सीमान्त उत्पादकता** – सिद्धान्त में पूँजी की सीमान्त उत्पादकता पर ही अधिक जोर दिया गया है जो सदैव साहसियों के निर्णय को प्रभावित करके विनियोग की मात्रा में कमी या वृद्धि करता है। **कीन्स** ने विनियोगों की मनोवृत्ति पर ही पूँजी की सीमान्त उत्पादकता को निर्भर माना है, जो स्वयं में कोई नवीनता न होकर पीगू के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त पर ही आधारित माना गया है।

(3) **विनियोग का ब्याज दर पर अनुचित प्रभाव** – **कीन्स** ने अपने सिद्धान्त में इस बात पर जोर दिया कि ब्याज की दर में कमी करके मन्दी पर नियंत्रण पुनर्जीवन की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु आलोचकों का मत है कि केवल ब्याज की दर में कमी करने से विनियोगों की मात्रा में वृद्धि करना सम्भव नहीं है। प्रायः विनियोगों की मात्रा ब्याज दर के स्थान पर लाभ अर्जित करने की मात्रा पर निर्भर करती है। यदि भविष्य में लाभ होने की सम्भावनायें हैं, तो ब्याज दर अधिक होने पर भी विनियोग की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत यदि लाभ की सम्भावनाएँ नहीं हैं तो ब्याज दर कम होने पर भी विनियोगों की मात्रा में वृद्धि सम्भव नहीं होगी।

(4) **परिवर्तन क्रम की व्याख्या करने में असमर्थ** – **कीन्स** का सिद्धान्त व्यापार-चक्र में आने वाले परिवर्तन के क्रम की व्याख्या करने में असमर्थ रहता है, जिससे सिद्धान्त लोचदार बन जाता है।

(5) **वृहत विचारों का प्रयोग** – **कीन्स** के सिद्धान्त में वृहत् अर्थशास्त्रीय विचारों का प्रयोग करके सिद्धान्त को अधिक व्यापक बनाया गया है।

(6) **व्यापार-चक्रों के आधार का अभाव** – **कीन्स** का सिद्धान्त व्यापार-चक्रों के आधार की व्याख्या करने में असमर्थ रहता है। यह सिद्धान्त मुद्रा प्रसार एवं अवसाद को दूर करने के उपाय बताता है।

(7) **अभिवृद्धि को स्थिर रखने की गलत मान्यता** – **कीन्स** ने यह माना कि अभिवृद्धि को बनाये रखना सम्भव है, परन्तु व्यवहार में ये देखा गया कि अभिवृद्धि को स्थिर करने के प्रयत्न करना भी व्यर्थ था। उचित यही माना गया कि व्यापार-चक्रों की बुराइयों को ही दूर करने के प्रयत्न करना चाहिए।

6. **व्यापार-चक्र का मकड़ी वाला प्रमेय** (Colwed Theorem of Trade Cycles) – इस सिद्धान्त का निर्माण नीदरलैण्ड के शूल्टज (Schultz), इटली के अम्बर्टो रिक्की (Umberto Ricci) एवं अमेरिका के टिनबर्जन ने एक दूसरे से पृथक रहकर स्वतंत्र रूप से किया। इस सिद्धान्त में यह बताया गया कि एक काल के मूल्यों के उच्चावचन उत्पन्न करके फिर से नवीन मूल्य स्तर का निर्माण करते हैं। इस प्रकार यह क्रम निरन्तर चलता ही रहता है।

इस सिद्धान्त को रेखाचित्र द्वारा प्रदर्शित करने पर मकड़ी के जाले वाले जैसा चित्र बनने के कारण इसका नाम मकड़ी जाले का व्यापार-चक्र सिद्धान्त रखा गया है। देश में मूल्यों व उत्पादन के समायोजन के फलस्वरूप जो मकड़ी के जालों का निर्माण होता है, उसे तीन वर्गों में रखा जा सकता है जो निम्न प्रकार है :

(अ) मिलनशील जाल (Convergent Cobweb)

(ब) विपरीत दिशा वाला जाल (Divergent Cobweb)

(स) निरन्तर जाल (Continuous Cobweb)

(अ) **मिलनशील जाल** – माँग की तुलना में यदि पूर्ति कम लोचदार हो जाये तो मिलनशील मकड़ी जाल बनते हैं। इसमें मूल्यों के समान परिवर्तन के कारण माँग की तुलना में पूर्ति की मात्रा में अधिक व विशाल उच्चावचन होते हैं और इस मूल्य व उपज दोनों की रेखाएँ अन्दर की ओर जाकर मुड़ जाती हैं। इस प्रकार प्रत्येक आगे आने वाला मकड़ी जाल पहले की तुलना में अधिक संकीर्ण व संकुचित हो जाता है। जैसा कि चित्र- 7 में दिखाया गया है। इसमें दिखाया गया है कि उत्पादन अधिक होने पर (PR) मूल्य कम हो जाता है जिससे उत्पादन घटता है और उससे मूल्य फिर बढ़ जाता है।

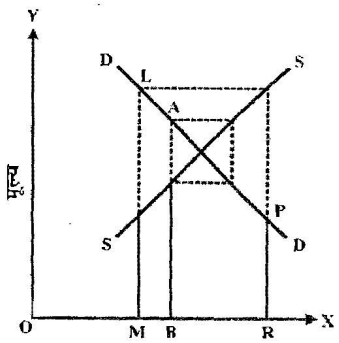

चित्र- 7

(ब) **विपरीत दिशा वाला जाल** – इस अवस्था में प्रत्येक अवस्था पर मूल्य एवं उत्पादन का पतन होता जाता है और उसके परिणामस्वरूप प्रत्येक आगे आने वाला जाला पहले की तुलना में अधिक बड़ा होता जाता है तथा विपरीत दिशा की ओर बढ़ता जाता है। जब बाजार में माँग की अपेक्षा पूर्ति अधिक लोचदार होती है, उस समय ऐसा विपरीत दिशा वाला मकड़ी का जाला बन जाता है। इसमें प्रत्येक जाला बड़े से बड़ा होने के प्रयास में विपरीत दिशा में ही फैलता है। जैसा कि चित्र- 8 से स्पष्ट है। इस चित्र में LM उत्पादन करने से मूल्य $P_1 M_1$ हो जाता है और उत्पादन घटाने पर मूल्य बढ़ जाता है।

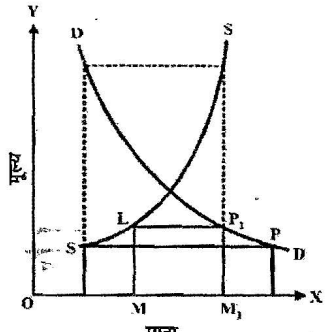

चित्र- 8

(स) **निरन्तर जाल** – जब माँग एवं पूर्ति की लोच समान हो तथा माँग पूर्ति की अपेक्षा विपरीत दिशा में हो तो निरन्तर मकड़ी जाल का निर्माण होता है। इसमें आरम्भ में कुछ समायोजन किये जाते हैं, परन्तु उन समायोजनों के पश्चात् व्यापार-चक्र फिर से पुनरावर्तन करके एक ही मार्ग पर घूमकर फिर से मूल्यों एवं उत्पादन सम्बन्धी क्रम व्यवस्था को दिखाता रहता है और यह क्रम निरन्तर चलता ही रहता है। जैसा कि चित्र- 9 से स्पष्ट है। उत्पादन O M कम करने पर मूल्य $P_1 M_1$ होगा तथा उत्पादन (OM_2) कम करने पर मूल्य बढ़कर $P_2 M_2$ होगा। अतः प्रत्येक अगली अवधि में चक्र चलता रहता है और आर्थिक प्रणाली नियमित चलती रहती है।

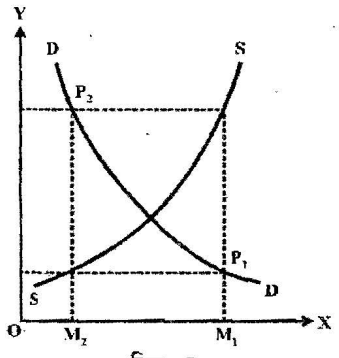

चित्र- 9

आलोचना – इस सिद्धान्त की प्रमुख आलोचनाएँ निम्न हैं –

(1) **गलत मान्यता पर आधारित** – यह सिद्धान्त इस बात पर निर्भर करता है कि गत वर्ष मूल्यों की स्थिति क्या थी, परन्तु वास्तव में उत्पादन सम्बन्धी निर्णय कभी भी इस बात पर निर्भर नहीं होते हैं।

(2) **सिद्धान्त की सीमाएँ** – इस सिद्धान्त की प्रमुख सीमाएँ निम्न प्रकार हैं–

(i) **उपज कीमत पर निर्भर** – यह सिद्धान्त पूर्ण प्रतियोगिता की भाँति केवल उसी समय लागू होता है जबकि उपज पूर्ण रूप से केवल मूल्यों से ही प्रभावित हो।

(ii) **गत वर्ष के उत्पादन में परिवर्तन न होना** – सिद्धान्त में यह माना गया है कि गत वर्ष के बीतने से पूर्व उत्पादन में कोई परिवर्तन नहीं हो पाता।

(iii) **मूल्य पूर्ति द्वारा प्रभावित** – यह सिद्धान्त केवल उन परिस्थितियों में ही लागू होता है, जबकि मूल्य केवल पूर्ति द्वारा ही प्रभावित हुआ हो।

NOTES

वास्तव में इन तीनों में से कोई भी बात व्यवहार में लागू नहीं होती है और यह मान्यताएँ केवल कोरी कल्पना मात्र हैं।

(3) **निष्कर्ष भ्रमात्मक** – यह सिद्धान्त गलत एवं भ्रमात्मक निष्कर्षों पर आधारित है। इस सिद्धान्त में यह बताया गया है कि विपरीत दिशा वाला जाल सदैव बना रहता है और इसका एक क्रम बन जाता है जो लम्बे काल तक चलता रहता है, परन्तु यह मान्यता सामान्य अनुभव एवं वास्तविकता के विरुद्ध है। व्यवहार में पाया गया है कि उत्पादक एक वर्ष लाभ तो अगले वर्ष हानि उठाते हैं, फलस्वरूप कुछ उत्पादक दिवालिया हो जाते हैं और इस प्रकार निरन्तर जाल समाप्त हो जाता है।

(4) **असन्तोषप्रद व्याख्या** – यह सिद्धान्त व्यापार-चक्रों की सन्तोषप्रद व्याख्या करने में असमर्थ रहता है क्योंकि मूल्यों पर आय, रुचि, फैशन तथा अन्य पूरक व प्रतियोगी कीमत का भी प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार मूल्यों को सरकार द्वारा भी नियंत्रित किया जा सकता है।

7. **टिनबर्जन का व्यापार-चक्र सिद्धान्त** (Tinbergen's Theory of Trade Cycle) – टिनबर्जन का व्यापार-चक्र सिद्धान्त मन्दी काल से प्रारम्भ हुआ माना जाता है। मन्दी काल में निम्न उत्पादन स्तर, निम्न कीमतें एवं बेरोजगारी आदि पाई जाती है। यह निम्न स्तर थोड़े काल तक बना रहता है और उसके बाद अनुकूल विकासों पर अधिक ध्यान देता है। इसके अनुकूल परिस्थितियाँ धीरे-धीरे अपने आप विकसित हो जाती हैं जिसमें उत्पत्ति के साधनों का पुनर्स्थापन, श्रमिक की उत्पादकता में वृद्धि, लाभ की मात्रा व दरों में वृद्धि नवीन घटनाओं का घटित होना, परिकल्पनात्मक आय का शून्य हो जाना व बट्टा दरों का गिर जाना आदि सम्मिलित हैं। इस प्रकार शनैः-शनैः पुनरुद्धार का काल प्रारम्भ हो जाता है और आर्थिक अर्थव्यवस्था अभिवृद्धि की ओर अग्रसित होने लगती है।

पुनरोद्धार में एक बार अभिवृद्धि की स्थिति प्रारम्भ हो जाने पर धीरे-धीरे वह बल पकड़ती जाती है जिससे आय एवं लाभ में वृद्धि होने लगती है। बाजार में माँग में यकायक वृद्धि होने लगती है, जिससे मूल्यों में भी वृद्धि होकर आय बढ़ जाती है। मूल्यों में वृद्धि होने से मजदूरी एवं पूँजी की माँग में वृद्धि होकर तरल साधनों का अधिकतम मात्रा में उपयोग किया जाता है। पूँजी की माँग को प्रारम्भ में अल्पकालीन साख द्वारा पूर्ण किया जायेगा जिससे अल्पकालीन व्याज की दरें ऊपर होंगी। धीरे-धीरे लाभ बढ़ने के साथ-साथ उत्पादन एवं स्टाक में वृद्धि होगी व अभिवृद्धि काल का आगमन होगा। इस काल में ऊँचा उत्पादन, ऊँची आय, ऊँची कीमतें होकर बेरोजगारी में कमी हो जायेगी। यह स्थिति धीरे-धीरे शिखर तक पहुँचकर आगे उत्पादन का विस्तार सम्भव नहीं हो सकेगा क्योंकि एक ओर तो बैंक अपनी साख नीति के अन्तर्गत साख का राशनिंग करना प्रारम्भ कर देते हैं तथा दूसरे पर्याप्त मात्रा में श्रम उपलब्ध नहीं हो पाता। पूँजी की मात्रा में वृद्धि होने से लाभ दर पर विपरीत प्रभाव पड़ता है तथा परिकाल्पनिक आय घटने लगती है, श्रम की उत्पादकता घटकर देश की अर्थव्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ने लगते हैं। इस दिशा में अर्थव्यवस्था विपरीत दिशा में मुड़ जाती है तथा यहीं से उसका पतन शीघ्र गति से होने लगता है। यह क्रम निरन्तर बढ़ते हुए वेग से आगे बढ़ता है तथा विनियोग व आय घटती जाती है। इस प्रकार यह घटनाएँ क्रमिक गति से बढ़ती रहती हैं और मन्दी के पश्चात् पुनरोद्धार व तेजी के बाद फिर मन्दी का क्रम निरन्तर चलता रहता है तथा व्यापार-चक्र दिखाई देने लगते हैं।

व्यापार-चक्र के विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर यह कहा जाता है कि व्यापार-चक्रों की समस्या जटिल है तथा कोई पूर्णरूपेण सिद्धान्त बनाना कठिन है। व्यापार-चक्र अनेक समस्याओं को उत्पन्न करते हैं, जिनके अध्ययन के लिए पर्याप्त तथ्यों एवं आँकड़ों की आवश्यकता होती है। व्यापार-चक्र एक प्राकृतिक एवं क्रमिक प्रक्रिया का रूप धारण चुका है तथा इसका निदान करना तो असम्भव है, परन्तु इसकी गहनता को रोका जा सकता है और अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास को प्रोत्साहित किया जा सकता है। विश्व के विकासशील राष्ट्रों को इस ओर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है।

4.5 सारांश

व्यापार चक्र के विभिन्न सिद्धान्तों के आधार पर यह कहा जाता है कि व्यापार चक्रों की समस्या जटिल है तथा कोई पूर्णरूपेण सिद्धान्त बनाना कठिन है। व्यापार चक्र अनेक समस्याओं को उत्पन्न करते हैं जिनके अध्ययन के लिए पर्याप्त तथ्यों एवं आँकड़ों की आवश्यकता होती है व्यापार चक्र एक प्राकृतिक एवं क्रमिक प्रक्रिया का रूप धारण कर चुका है तथा इसका निदान करना तो असंभव है, परन्तु इसकी गहनता को रोका जा सकता है और अर्थव्यवस्था में आर्थिक विकास को प्रोत्साहित किया जा सकता है। विश्व के विकासशील राष्ट्रों को इस ओर विशेष रूप से ध्यान देना आवश्यक है।

बोध प्रश्न

1. व्यापार चक्र से आप क्या समझते हैं।

.....

.....

.....

2. व्यापार चक्र के प्रकार बताइये एवं व्यापार चक्र की मुख्य अवस्थाओं की विशेषताएँ दीजिए।

.....

.....

.....

NOTES

4.6 अभ्यास प्रश्न

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. व्यापार-चक्र से क्या आशय है? व्यापार चक्र की विशेषताएँ दीजिए।
   What is meant by business cycles? Give the features of business.
   [**संकेत** – व्यापार-चक्र का अर्थ व विशेषताएँ दीजिए।]
2. व्यापार-चक्र के प्रकार बताइए एवं व्यापार चक्र की मुख्य अवस्थाओं की विशेषताएँ दीजिए।
   Mention the kinds of business cycles and give the feature of stages of business cycles.
   [**संकेत** – व्यापार चक्र के प्रकार व अवस्थाएँ दीजिए।]
3. व्यापार चक्र के मौद्रिक सिद्धान्तों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।
   Critically examine the various monetary theories of business cycles.
   [**संकेत** – व्यापार चक्र के मौद्रिक सिद्धान्त दें व उनकी आलोचनाएँ दें।]
4. यदि गुणक एवं त्वरक एक दूसरे के साथ प्रतिक्रिया करते हैं तो अर्थव्यवस्था में एक चक्रीय प्रवृत्ति रहती है। इस कथन की समीक्षा कीजिए।
   If the multiplier and accelerator interact. There is an inherent cycling tendency in the economy.
   [**संकेत**– हिक्स का सिद्धान्त दें व आलोचना दें।]
5. व्यापार चक्र के अमौद्रिक सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
   Explain the non-monetary theories of business cycle.
   [**संकेत** – व्यापार चक्र में अमौद्रिक सिद्धान्त दें।]
6. व्यापार चक्र से आप क्या समझते हैं? व्यापार चक्र को नियंत्रित करने के उपाय दीजिए।
   What do you mean by business cycle? Give the measures of controlling business cycles.
   [**संकेत**– व्यापार चक्र का अर्थ व नियंत्रण करने के ढंग दीजिये।]
7. केन्स के व्यापार सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
   Ciritically explain the keyne's theory of business cycle.
   [**संकेत**– केन्स का व्यापार चक्र सिद्धान्त दें व आलोचनाएँ लिखें।]
8. हेयक का व्यापार चक्र सिद्धान्त बताइए व उसकी मुख्य आलोचनाएँ दें।
   Mention the Hayek theory of business cycle and give its criticism also.
   [**संकेत**– हेयक का व्यापार चक्र का सिद्धान्त देकर उसकी आलोचनाएँ दीजिए।]
9. हाट्रे के मौद्रिक सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या दें।
   Critically explain the Hantery's theory of Business cycle.
   [**संकेत**– हाट्रे का सिद्धान्त व उसकी आलोचना दें।]

NOTES

10. सेम्युलसन द्वारा की गई व्यापार चक्र की व्याख्या किस प्रकार गुणक-त्वरक अन्तःक्रिया पर आधारित है। स्पष्ट करें।
"How does Samuelson's Business cycle theory depend on interaction of multiplier and accelerator." Discuss.

11. संक्षिप्त टिप्पणी लिखें :
(i) हॉयक का अति विनियोग पर आधारित व्यापार चक्र का सिद्धान्त
(Hayek's Over-investment Theory of Business Cycle)
(ii) व्यापार चक्र का मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त
(Psychological Theory of Business Cycle)
(iii) व्यापार चक्र की विभिन्न अवस्थाएँ
(Various Phases of Business Cycle)

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. व्यापार चक्र से क्या समझते हैं?
What do you mean by Business Cycle?
2. व्यापार चक्र की अवस्थाएँ बताइए।
Mention the stages of Business Cycle.
3. किस अर्थशास्त्री ने व्यापार चक्र को मौद्रिक घटना माना?
Which economist treated Business Cycle as a monetary phenomenon?
4. सेम्युलसन ने व्यापार चक्र की व्याख्या किस आधार पर की है?
On which basis Samuelson explained the Business Cycle?
5. व्यापार चक्र पर हिक्स ने क्या निष्कर्ष दिये हैं?
What conclusions have Hicks presented on Business Cycle?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. व्यापार चक्र की कौन-सी अवस्था नहीं होती?
(अ) समृद्धि (ब) अवसाद (स) पुनरुद्धार (द) अल्परोजगार
2. व्यापार चक्र का विशुद्ध मौद्रिक सिद्धान्त किसने प्रस्तुत किया?
(अ) हायक (ब) हाट्रे (स) शुम्पीटर (द) हिक्स
3. व्यापार चक्र का नवप्रवर्तन सिद्धान्त देने वाले अर्थशास्त्री हैं:
(अ) शुम्पीटर (ब) टिनवर्जन (स) कीन्स (द) सैम्युलसन
4. किन अर्थशास्त्रियों ने व्यापार चक्र की व्याख्या में गुणक एवं त्वरक दोनों का प्रयोग किया है?
(अ) सैम्युलसन (ब) हिक्स (स) उपर्युक्त दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

5. हिक्स की व्यापार चक्र व्याख्या आधारित है–
(अ) हैरोड द्वारा प्रतिपादित विकास की वांछनीय दर पर
(ब) हैरोड द्वारा प्रतिपादित विकास की वास्तविक दर पर
(स) हैरोड द्वारा प्रतिपादित विकास की प्राकृतिक दर पर
(द) उपर्युक्त किसी पर नहीं

उत्तर- 1. (द), 2. (ब), 3. (अ), 4. (स), 5. (अ)

4.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

डॉ. एस.सी. जैन, प्रबंधकीय अर्थशास्त्र–कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल

अध्याय–5 लाभ प्रबन्ध (PROFIT MANAGEMENT)

NOTES

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 कुल लाभ एवं शुद्ध लाभ

5.2.1 लाभ का वर्गीकरण

5.3 लाभ के सिद्धान्त

5.4 लाभ का मापन

5.5 सारांश

5.6 अभ्यास प्रश्न

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के निम्नांकित उद्देश्य हैं–

1. लाभ प्रबंध के मूलभूतों को समझाना
2. लाभ का वर्गीकरण समझाना
3. जोखिम एवं अनिश्चितता का अर्थ समझना।

5.1 प्रस्तावना

उत्पादन में जोखिम उठाने के लिए साहसी को जो प्रतिफल प्राप्त होता है उसे लाभ कहते हैं। इस प्रकार से राष्ट्रीय आय का वह भाग जो उत्पादन कार्य में जोखिम सहन करने के लिए साहसी को दिया जाता है, उसे लाभ कहते हैं। उत्पत्ति के 5 साधनों (भूमि, श्रम, पूँजी, संगठन एवं साहस) में से समस्त साधनों को प्रतिफल दे देने के उपरान्त जो शेष बचता है उसे साहसी को पुरस्कार के रूप में दे दिया जाता है जो लाभ कहलाता है। लाभ पर केवल साहसी का ही अधिकार माना गया है। वर्तमान समय में, लाभ शब्द का कोई एक अर्थ नहीं है। इसे अनेक अर्थों में प्रयोग किया जाता है। कुछ लेखकों ने इसे पूँजी के विनियोग पर प्रतिशत प्रतिफल माना है तो अन्य ने इसे स्वामित्व का इनाम माना है।

परिभाषाएँ – लाभ की मुख्य परिभाषाएँ निम्न हैं :–

(1) **एच. एम. क्रुमे** – "लाभ असीमित जोखिम का पुरस्कार है।"

(2) **प्रो. लेफ्टविच** – "आर्थिक लाभ फर्म द्वारा उत्पादन लागत पर किए गए व्यय का कुल प्राप्ति पर शुद्ध आधिक्य है।"

(3) **प्रो. जे. के. मेहता** – "गतिशील संसार में मनुष्य के उत्पादन कार्यों में अनिश्चितता तत्व चतुर्थ किस्म का त्याग प्रस्तुत करता है। यह त्याग ही जोखिम उठाना या अनिश्चितता वहन करना है। इसे लाभ से पुरस्कृत करते हैं।"

(4) **प्रो. हेनरी ग्रेसन** – "लाभ नवप्रवर्त, जोखिम एवं अनिश्चितता स्वीकार करने का पुरस्कार है और यह बाजार के ढाँचे की अपूर्णताओं का परिणाम है।"

अतः स्पष्ट है कि लाभ प्रावैगिक परिवर्तनों के कारण उत्पन्न होता है जो कि अनिश्चितताओं एवं जोखिम को उत्पन्न करते हैं। बाजार संरचना में अपूर्णता होने पर ही लाभ उत्पन्न होता है। पूर्ण प्रतियोगिता में उत्पादक को पूर्ण ज्ञान रहने से कोई अनिश्चितता नहीं रहती और उसे लाभ प्राप्त नहीं होता।

NOTES

5.2 कुल लाभ एवं शुद्ध लाभ (Gross Profit and Net Profit)

कुल लाभ – उत्पादन की कुल बिक्री में कुल व्यय घटाने के उपरान्त शेष राशि कुल लाभ कहलाती है। इसमें साहसी के जोखिम उठाने के पुरस्कार के अतिरिक्त अन्य प्रकार की आय भी सम्मिलित रहती है। लाभ एक गत्यात्मक अर्थव्यवस्था में ही उत्पन्न होते हैं तथा एक स्थिर अर्थव्यवस्था में लाभ उत्पन्न नहीं हो पाते हैं। कुल लाभ के प्रायः प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं :-

(i) निजी साधनों का प्रतिफल – साहसी उत्पादन कार्यों में उन साधनों को भी लगा देता है जो उसके स्वयं के होते हैं। इस प्रकार से कुल लाभ में इन साधनों का प्रतिफल भी सम्मिलित रहता है। इसमें निम्न साधनों को सम्मिलित किया जाता है :-

(अ) साहसी का निरीक्षक के रूप में वेतन।

(ब) साहसी की निजी भूमि का लगान।

(स) साहसी की अपनी पूँजी पर ब्याज।

साहसी के निजी साधनों का प्रतिफल भी कुल लाभ में सम्मिलित रहता है और शुद्ध लाभ का अनुमान लगाते समय इनके पारितोषिक को घटा दिया जाता है।

(ii) अव्यक्तिगत लाभ – कुल लाभ में अव्यक्तिगत लाभों को भी सम्मिलित किया जाता है जो निम्न प्रकार के होते हैं :-

(अ) **आकस्मिक आय** – अनुकूल परिस्थितियों के कारण साहसी को जो लाभ प्राप्त होते हैं वह आकस्मिक आय कहलाती है और उसे भी कुल लाभ में ही सम्मिलित करते हैं। जैसे बाढ़ आने या लड़ाई छिड़ जाने पर बिना आशा के लाभ प्राप्त होने लगे।

(ब) **एकाधिकार लाभ** – यदि उत्पादक को एकाधिकारी की सुविधाएँ प्राप्त हों तो वह अधिक मूल्य लेकर विशेष लाभ अर्जित करता है और यह लाभ भी उसके कुल लाभ में सम्मिलित रहता है।

(iii) रख-रखाव व्यय – साहसी के कुल लाभ में रख-रखाव व्यय भी सम्मिलित रहते हैं जो कि उत्पादन कार्य को सुगमता से चलाने के लिए आवश्यक होते हैं। इसमें निम्न दो प्रकार के व्यय सम्मिलित किए जाते हैं :-

(अ) बीमा सम्बन्धी व्यय जो आग, चोरी आदि के विरुद्ध किए जाते हैं।

(ब) अचल सम्पत्ति पर होने वाले ह्रास की राशि।

शुद्ध लाभ – कुल लाभ में से साहसी के पुरस्कार के अतिरिक्त अन्य प्रकार के व्ययों को घटाने के पश्चात् शेष राशि ही शुद्ध लाभ होती है, जिसमें निम्न कार्यों के प्रतिफल को सम्मिलित करते हैं :-

(i) सौदा करने की योग्यता का पुरस्कार।

(ii) जोखिम उठाने का पारितोषिक।

अतः कुल लाभ = शुद्ध लाभ + साहसी के निजी साधनों का प्रतिफल + अव्यक्तिगत लाभ + रख-रखाव व्यय।

शुद्ध लाभ = कुल लाभ – (साहसी के निजी साधनों का प्रतिफल + आकस्मिक लाभ + एकाधिकार लाभ + बीमा व्यय + ह्रास)।

लाभ के अनेक प्रमुख सामाजिक कार्य होते हैं जो कि एक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में पाये जाते हैं।

लाभ का वर्गीकरण
(Classification of Profits)

लाभ के वर्गीकरण को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है :-

(1) **एकाधिकार लाभ एवं आकस्मिक लाभ** (Monopoly profit and Casual profit) – यदि व्यापारी को उसकी विशेष परिस्थितियों के कारण लाभ प्राप्त हो तो उसे एकाधिकारी लाभ कहेंगे। प्राकृतिक या अन्य कारणों से व्यवसाय में एकाधिकारी स्थिति उत्पन्न हो सकती है। एकाधिकार में पूर्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होने के कारण वस्तु का

मूल्य ऊँचा रखा जा सकता है और यह एकाधिकारी शक्ति के कारण असामान्य लाभ अर्जित करता है जिससे उसे एकाधिकारी लाभ प्राप्त होते हैं।

आकस्मिक लाभ वे लाभ हैं जो संयोग के कारण उत्पन्न हो जाते हैं और जिनके निर्धारण में किसी भी प्रकार के आर्थिक नियम लागू नहीं हो पाते हैं जैसे दैवी प्रकोप के कारण या अकस्मात युद्ध छिड़ने से स्टॉक के मूल्य में वृद्धि होने से अप्रत्याशित लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

NOTES

(2) **सामान्य लाभ एवं असामान्य लाभ** (Normal Profit and Super-normal Profit) :-

सामान्य लाभ – सामान्य लाभ का विचार पूर्ण प्रतियोगिता एवं दीर्घकाल की मान्यताओं पर आधारित है। प्रतियोगी बाजार में दीर्घकाल में बाजार मूल्य सीमान्त लागत के बराबर रहता है। प्रत्येक व्यापारी लाभ प्राप्त करने की लालसा से ही जोखिम उठाने को तत्पर होता है। वह उत्पादन कार्य लाभ की आकांक्षा से ही करता है। लाभ की इस मात्रा को ही अर्थशास्त्र में सामान्य लाभ कहा गया है। यह लाभ दीर्घकालीन होता है और इसकी आशा पर ही व्यवसायी अपना व्यवसाय करता रहता है। **हेन्सन** का मत है कि सामान्य लाभ से आशय उस भुगतान से लगाया जाता है जो कि उत्पत्ति के साधनों को उत्पादन कार्य में लगाए रखने के लिए आवश्यक होता है। **प्रो. मार्शल** का मत है कि प्रत्येक वस्तु का दीर्घकालीन मूल्य उद्योग की प्रतिनिधि फर्म के उत्पादन लागत के बराबर रहता है। इस लागत में सामान्य लाभ भी सम्मिलित रहता है। **श्रीमती जॉन राबिन्सन** का मत है कि सामान्य लाभ ऐसा लाभ है जिसके प्राप्त होने पर (i) नवीन फर्में उद्योग में प्रवेश नहीं करती हैं और पुरानी फर्में उद्योग को छोड़कर नहीं जाती हैं तथा (ii) कोई भी फर्म अपने उत्पादन में कमी या वृद्धि नहीं करती है। सामान्य लाभ उत्पत्ति लागत से पृथक न होने वाला एक अंग है। सामान्य लाभ सभी प्रकार के उपक्रमों में उदित होता है और जो सीमान्त उत्पादकों को भी प्राप्त हो जाता है।

सामान्य लाभ की विशेषताएँ – सामान्य लाभ की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं :-

(i) **काल्पनिक धारणा** – सामान्य लाभ की धारणा काल्पनिक है, क्योंकि गतिशील अर्थव्यवस्था से दीर्घकालीन साम्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

(ii) **मूल्य में सम्मिलित** – सामान्य लाभ उत्पादन लागत एवं मूल्य में सम्मिलित रहता है।

(iii) **समान होना** – दीर्घकाल में सामान्य लाभ सभी फर्मों में समान हो जाता है।

(iv) **सीमान्त साहसी को प्राप्त** – सीमान्त लाभ सीमान्त साहसी को भी प्राप्त होता है क्योंकि इससे भी कम लाभ होने पर वह उत्पादन कार्य ही बन्द कर देता है।

(v) **माँग व पूर्ति द्वारा निर्धारित** – सामान्य लाभ का निर्धारण साहसी की माँग व पूर्ति की शक्तियों द्वारा निर्धारित किया जाता है।

असामान्य लाभ – सामान्य लाभ से अधिक प्राप्त होने वाले लाभ को असामान्य लाभ कहते हैं। यह एक अतिरेक है जो साहसी को उत्पादन व्यय के अतिरिक्त प्राप्त होता है। सीमान्त साहसी को केवल सामान्य लाभ ही प्राप्त होते हैं। यह असामान्य लाभ को प्रभावित नहीं करता। **प्रो. हेन्सन** के अनुसार, सामान्य लाभ के अतिरिक्त जो लाभ प्राप्त होता है उसे असामान्य लाभ कहते हैं। अतिरिक्त लाभ ही उद्योग में नवीन फर्मों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। **प्रो. नाइट** का मत है कि ज्ञात जोखिम के लिए जो लाभ प्राप्त होता है उसे सामान्य लाभ एवं अज्ञात जोखिम के लिए जो लाभ प्राप्त होता है उसे असामान्य लाभ कहेंगे।

सामान्य लाभ एवं असामान्य लाभ में अन्तर :-

सामान्य लाभ एवं असामान्य लाभ में मुख्य अन्तर निम्न हैं :-

(i) **धनात्मक एवं ऋणात्मक** – सामान्य लाभ सदैव धनात्मक होता है, जबकि असामान्य लाभ ऋणात्मक होता है।

(ii) **उत्पादन लागत में सम्मिलित** – सामान्य लाभ उत्पादन व्यय में सम्मिलित रहता है, जबकि असामान्य लाभ उत्पादन लागत में सम्मिलित नहीं रहता है।

(iii) **ज्ञात एवं अज्ञात जोखिम** – ज्ञात जोखिम का पुरस्कार सामान्य लाभ होता है तथा अज्ञात जोखिम का पुरस्कार असामान्य लाभ होता है।

(iv) **स्थिरता का अन्तर** – सामान्य लाभ में स्थिरता रहती है, जबकि असामान्य लाभ में तीव्रता से परिवर्तन होते रहते हैं।

NOTES

(v) **अधिसीमान्त उद्यमियों को प्राप्त** – असामान्य लाभ केवल अधिसीमान्त उद्यमियों को ही प्राप्त होता है, जबकि सामान्य लाभ सीमान्त उद्यमियों को भी प्राप्त होता है।

(3) **प्रतिवर्ष लाभ व क्रय शक्ति पर लाभ** (Per year profit and profit on purchase) – कुल लगायी हुई पूँजी के वार्षिक लाभ को प्रतिवर्ष लाभ कहते हैं जैसे यदि किसी व्यापार में 5000 रु. की पूँजी पर 500 रु. लाभ होता हो तो उस पूँजी पर 10% लाभ होता है।

पूँजी के प्रत्येक फेर पर जो लाभ प्राप्त होता है उसे क्रय राशि पर लाभ कहते हैं जैसे 5000 रु. की पूँजी की फिरती एक बार हुई और लाभ 500 रु. हो तो कहा जाएगा कि लाभ फिरती पर 10% हुआ। यदि पूँजी वर्ष में दस बार फिरती हुई हो तो लाभ 10% होगा। इस प्रकार लगाई गई पूँजी पर जो लाभ प्राप्त होता है उसी के आधार पर निर्धारण किया जाता है।

5.3 लाभ के सिद्धान्त (Theories of Profit)

लाभ के विभिन्न सिद्धान्त निम्न हैं :–

(1) लाभ का जोखिम-सहन सिद्धान्त।

(2) लाभ का प्रावैगिक सिद्धान्त।

(3) शुम्पीटर का नवप्रवर्तन पुरस्कार सिद्धान्त।

(4) लाभ का लगान सिद्धान्त।

(5) लाभ का अनिश्चितता-सहन सिद्धान्त।

(6) सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त।

(7) लाभ की माँग एवं पूर्ति का सिद्धान्त।

(8) लाभ का मजदूरी सिद्धान्त।

(9) लाभ का समाजवादी सिद्धान्त।

(1) **लाभ का जोखिम-सहन सिद्धान्त** (Risk-bearing Theory of Profit) – अमेरिका के अर्थशास्त्री **प्रो. हाले** ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। हाले का मत है कि लाभ साहसी द्वारा कदम उठाने एवं उसके उत्तरदायित्व का पुरस्कार है। प्रत्येक व्यवसाय में कुछ न कुछ जोखिम अवश्य रहता है और कोई भी व्यक्ति जोखिम उठाना नहीं चाहता और जोखिम के बदले में लाभ अवश्य प्राप्त करता है। अतः जोखिम का पुरस्कार ही लाभ होता है। जिस व्यवसाय में जितनी अधिक जोखिम होगी, उसमें लाभ की आशा उतनी ही अधिक होगी। यदि व्यवसाय में लाभ नहीं होगा तो व्यवसायी भी व्यापार करने का साहस नहीं करेगा। लाभ सदैव व्यवसाय की जोखिम की मात्रा पर निर्भर करता है। प्रत्येक व्यवसाय में कुछ न कुछ जोखिम अवश्य होता है। उत्पादन के अन्य साधनों के प्रतिफल की भाँति लाभ की राशि पूर्व निश्चित नहीं होती है।

आलोचनायें – हाब्ले के लाभ के जोखिम सिद्धान्त की निम्न आधारों पर आलोचना की गयी हैं :–

(i) **व्यवसाय की स्वतन्त्रता** – सभी व्यक्ति केवल लाभ के लालच में ही व्यवसाय में जोखिम नहीं उठाते, बल्कि अपने व्यवसाय की स्वतन्त्रता के लिए भी व्यापार प्रारम्भ करते हैं।

(ii) **अज्ञात जोखिम का पुरस्कार** – **प्रो. नाइट** का मत है कि लाभ केवल जोखिम उठाने का पुरस्कार है और यह समस्त प्रकार के जोखिम का पुरस्कार नहीं होता है।

(iii) **चतुराई का फल** – **कारवर** का मत है कि जोखिम के लिए ही लाभ उत्पन्न नहीं होता, बल्कि साहसी को अपनी चतुरता द्वारा जोखिम कम करने के बदले में लाभ प्राप्त होता है।

(iv) **योग्यता का पुरस्कार** – लाभ जोखिम के अतिरिक्त साहसी की योग्यता का पुरस्कार माना जाता है।

(2) **लाभ का प्रावैगिक सिद्धान्त** (Dynamic Theory of Profit) – इस सिद्धान्त का प्रतिपादन **जे. बी. क्लार्क** ने किया जिनके अनुसार लाभ की उत्पत्ति समाज में परिवर्तनों के कारण उदय होती है। समाज में स्थैतिक एवं प्रावैगिक दो प्रकार की स्थितियाँ पायी जाती हैं। स्थैतिक स्थिति से आशय उस स्थिति से है जहाँ पर जनसंख्या, पूँजी की पूर्ति, उत्पादन विधियों, मानवीय आवश्यकताओं एवं व्यावसायिक संगठन में कोई परिवर्तन नहीं होता। प्रावैगिक

स्थिति में इन तत्वों में कुछ न कुछ परिवर्तन प्रत्येक समय में होते रहते हैं। बिक्री मूल्य एवं लागत के अन्तर को लाभ माना जाता है। पूर्ण प्रतियोगिता में मूल्य लागत के बराबर होने के कारण लाभ नहीं होता। प्रावैगिक स्थिति में अनिश्चितता बनी रहती है, जिसके कारण लाभ उत्पन्न हो जाते हैं। लाभ कभी भी स्थैतिक समाज में उदय नहीं होता है। ऐसे समाज में, समय का तत्व विद्यमान नहीं होता है।

वर्तमान में प्रावैगिक अवस्था में साहसी का कार्य श्रमिकों के प्रबन्ध करने या जोखिम उठाने का नहीं, बल्कि उत्पादन लागत को कम करके, बिक्री को बढ़ाना एवं लाभ में वृद्धि करना है। यदि कोई नवीन आविष्कार हो जाता है तो उत्पादन में वृद्धि हो जाती है, परन्तु मजदूरी व ब्याज दर में स्थिरता होने के कारण लागत व आय में अन्तर हो जाता है जो कि लाभ को उत्पन्न करता है। शीघ्र ही नए साहसी प्रवेश करके उत्पादन बढ़ा देते हैं जिससे मूल्य कम होकर लाभ समाप्त हो जाते हैं, परन्तु गतिशील परिस्थितियों में चतुर साहसी अपनी स्थिति के अनुकूल समायोजन करके लाभ कमाने के अवसर प्राप्त करता है, जिससे लाभ उत्पन्न हो जाते हैं। अतः स्पष्ट है कि लाभ मूल्य एवं लागत के अन्तर के बराबर होता है। स्थैतिक स्थिति में साहसी को लाभ प्राप्त नहीं हो पाते। लाभ गतिशील परिस्थितियों में ही उत्पन्न हो पाते हैं तथा परिवर्तित समाज में साहसी को निरन्तर लाभ प्राप्त होते रहते हैं।

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :–

(i) **कृत्रिम भेद** – टॉजिग का मत है कि यह सिद्धान्त लाभ व प्रबन्धक की आय के मध्य एक कृत्रिम भेद उपस्थित करता है।

(ii) **लाभ का निर्धारण न होना** – इस सिद्धान्त द्वारा लाभ के परिणाम का निर्धारण सम्भव नहीं होता।

(iii) **लाभ का प्रादुर्भाव – प्रो. नाइट** का मत है कि लाभ का प्रादुर्भाव गतिशील परिस्थितियों के कारण उदय न होकर अन्य कारणों से उदय होता है।

(iv) **साहस का पुरस्कार** – लाभ साहसी के संगठन, शक्ति एवं साहस के कारण उदय होता है न कि प्रावैगिक परिस्थितियों के कारण।

(v) **स्थैतिक दशा में पुरस्कार** – गतिहीन समाज में भी जोखिम रहता है जिससे स्थैतिक दशाओं में भी साहसी को जोखिम का पुरस्कार प्राप्त होना चाहिए।

(3) **शुम्पीटर का नव-प्रवर्तन पुरस्कार सिद्धान्त** (Schumpeter's Theory of Profit of Innovation) – यह सिद्धान्त **शुम्पीटर** ने प्रतिपादित किया। उनके अनुसार प्रावैगिक अर्थव्यवस्था में नवीन आविष्कारों के कारण ही लाभ उत्पन्न हो जाते हैं। यह सिद्धान्त भी गतिशील परिवर्तनों पर आधारित रहता है। नव-प्रवर्तनों के कारण ही उत्पादन व्यय में ह्रास होने के फलस्वरूप लाभ उत्पन्न होता है। आविष्कारों में तीन अवस्थाएँ सम्मिलित की जाती हैं :– (i) व्यक्ति अपनी जोखिम पर नवीन मशीनों पर उत्पादन कार्य करता है। (ii) आविष्कारक नवीन मशीन की योजना निर्माण करता है। (iii) योजना को कार्यरूप में परिणत करने हेतु साधनों को एकत्रित किया जाता है। नवीन आविष्कार के कारण जो लाभ प्राप्त होते हैं उनका उचित बँटवारा किया जाना चाहिए। प्रायः लाभ अर्जित करने की इच्छा ही नवीन आविष्कारों को जन्म देती है। आविष्कार के सफल होने पर ही लाभ की प्राप्ति होती है। अतः लाभ नवीन आविष्कारों का ही परिणाम एवं कारण है। नवीन पद्धति के कारण प्राप्त होने वाले लाभ अस्थायी प्रकृति के होते हैं, क्योंकि उन पद्धतियों का ज्ञान होने पर अन्य प्रतियोगी फर्में उस नवीन पद्धति का उपयोग करने लगती हैं। नवीन फर्मों द्वारा उत्पादन विधि को अपनाने से लाभ की मात्रा कम होने लगती है और लाभ क्रमशः समाप्त हो जाते हैं। यदि किसी नवीन पद्धति का विकास कर लिया जाता है तो यह लाभ भी समाप्त हो जाते हैं।

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :–

(i) **लाभ निर्धारण में असमर्थ** – यह सिद्धान्त लाभ के निर्धारण में असमर्थ रहता है।

(ii) **गतिहीन समाज में भी लाभ** – सिद्धान्त में माना गया है कि गतिशील समाज में ही लाभ प्राप्त होते हैं, जबकि गतिहीन समाज में भी लाभ प्राप्त हो सकते हैं।

(iii) **जोखिम का पुरस्कार** – आलोचकों का मत है कि लाभ जोखिम उठाने का पुरस्कार होता है न कि नवीन प्रवर्तन के कारण लाभ उदय होता हो।

(iv) **एकपक्षीय** – यह सिद्धान्त एकपक्षीय है क्योंकि यह केवल नवप्रवर्तन एवं पूर्ति पक्ष पर ही ध्यान देता है, जिससे यह सिद्धान्त अधूरा है।

NOTES

(4) **लाभ का लगान सिद्धान्त** (Rent Theory of Profit) – इस सिद्धान्त का विकास **वाकर** ने किया, जबकि **सीनियर एवं मिल** ने इस सिद्धान्त का बीजारोपण किया था। लाभ व्यक्ति की योग्यता का लगान है। इस आधार पर किराया व लाभ में समानता पायी जाती है। किराया भूमि के उपयोग के बदले प्राप्त होता है, जबकि लाभ उपक्रमी की योग्यता का पुरस्कार है। जैसे भूमि की उत्पादकता भिन्न-भिन्न होती है, वैसे ही साहसी की व्यावसायिक योग्यता भी भिन्न होती है। **वाकर** के सिद्धान्त की मुख्य बातें निम्न हैं :-

(i) **प्रबन्ध का पुरस्कार लाभ नहीं है** – प्रबन्ध-कार्य श्रम के समान होने के कारण उसका पारितोषण मजदूरी होता है। अतः प्रबन्ध का पुरस्कार लाभ नहीं हो सकता। सीमान्त साहसी को केवल प्रबन्ध करने के बदले ही पुरस्कार प्राप्त होता है।

(ii) **लाभ मूल्य को प्रभावित नहीं करता** – लगान की ही भाँति लाभ एक बचत है और जिस प्रकार लगान वस्तुओं के मूल्य को प्रभावित नहीं करता है उसी प्रकार से लाभ भी मूल्यों को प्रभावित नहीं कर सकता, बल्कि वह स्वयं मूल्य द्वारा प्रभावित होता है। यदि मूल्य अधिक है तो लाभ भी अधिक होगा और मूल्य कम होने पर लाभ भी कम होगा।

(iii) **लाभ योग्यता का लगान है** – लाभ को योग्यता का लगान माना है जो अधिक योग्य साहसी को अधिक एवं कम योग्य साहसी को कम प्राप्त होता है। **वाकर** का मत है कि जिस प्रकार सीमान्त एवं पूर्व-सीमान्त भूमि होती है, उसी प्रकार सीमान्त एवं पूर्व-सीमान्त साहसी होते हैं। चूँकि सीमान्त भूमि पर कोई लगान प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार से सीमान्त साहसी को कोई लाभ प्राप्त नहीं होता क्योंकि उसकी लागत ही मूल्य के बराबर होती है। श्रेष्ठ साहसी या पूर्व-सीमान्त साहसी कम लागत पर वस्तु का उत्पादन कर लेते हैं अतः लागत व मूल्य का अन्तर ही लाभ होगा। सीमान्त साहसी लाभ अर्जित नहीं कर सकता और वह अपनी वस्तु को लागत मूल्य पर ही बेचता है। पूर्व-सीमान्त साहसी के लाभ का निर्धारण सीमान्त साहसी से ही किया जाता है और उसे जो अतिरिक्त आय प्राप्त होती है वही उसका लाभ होता है। इस प्रकार लगान की ही भाँति पूर्व सीमान्त साहसियों की आय सीमान्त साहसी की आय पर आधिक्य है। लाभ एक भेदात्मक बचत है। इसे चित्र-1 द्वारा समझाया जा सकता है :-

चित्र-1 में MC सीमान्त लागत AC औसत लागत तथा DD मूल्य रेखा है। चित्र में C सबसे कुशल साहसी है क्योंकि उसे अपनी योग्यता के कारण अधिक लाभ प्राप्त होता है जो कि OP के बराबर है। A सीमान्त साहसी है जिसे कोई भी लाभ प्राप्त नहीं होता है और B को भी लाभ प्राप्त होता है परन्तु वह A की तुलना में कम है। अतः लाभ केवल अधिसीमान्त उद्यमियों को ही प्राप्त होता है। इसमें लाभरहित उद्यमी भी होते हैं।

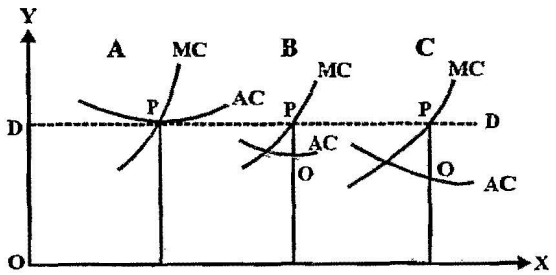

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :-

(i) **लाभ व लगान समान न होना** – लाभ व लगान को आधिक्य के आधार पर ही स्वीकार करना उचित नहीं माना जाता क्योंकि (अ) लगान स्थिर व प्रावैगिक अर्थव्यवस्था में लागू होता है, जबकि लाभ प्रावैगिक अर्थव्यवस्था में ही लागू हो सकता है। (ब) लगान एक निश्चित आय होती है, जबकि लाभ एक अनिश्चित आय है। (स) लगान सदैव धनात्मक होता है जबकि लाभ ऋणात्मक भी हो सकता है।

(ii) **जोखिम के तत्व की उपेक्षा** – यह सिद्धान्त जोखिम के सिद्धान्त की उपेक्षा करता है, जबकि लाभ योग्यता का लगान न होकर जोखिम का पुरस्कार होता है।

(iii) **रिकार्डो के लगान सिद्धान्त के दोष** – यह सिद्धान्त रिकार्डो के लगान सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें वे समस्त दोष भी पाए जाते हैं जो कि रिकार्डो के सिद्धान्त में पाए जाते हैं।

(iv) **वास्तविक कारणों की उपेक्षा** – यह सिद्धान्त लाभ के वास्तविक कारणों पर पर्याप्त प्रकाश नहीं डालता और यह अधिक से अधिक लाभ माँग करता है।

(v) **गलत धारणा** – सिद्धान्त की धारणा गलत है जिसमें कि लाभ द्वारा मूल्य को प्रभावित माना गया है।

(5) **लाभ का अनिश्चितता-सहन सिद्धान्त** (Uncertainity-bearing Theory of Profit) – प्रो. नाइट ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। नाइट का मत है कि साहसी को लाभ अनिश्चितता सहन करने के कारण प्राप्त होता है न कि जोखिम सहन करने के कारण। उनके अनुसार जोखिम दो प्रकार की होती है –

(i) ज्ञात जोखिम एवं (ii) अज्ञात जोखिम।

ज्ञात जोखिम का अनुमान पूर्व से लगाया जा सकता है और उनका बीमा करके हानि से बचा जा सकता है। बीमा करके साहसी निश्चित हो जाता है और उसके बदले साहसी को कोई पुरस्कार प्राप्त नहीं होता। बीमा के प्रीमियम को भी लागत व्यय में जोड़ दिया जाता है।

अज्ञात जोखिम में उस जोखिम को सम्मिलित करते हैं जिसका कोई पूर्व ज्ञान नहीं हो पाता और उसकी व्यापकता को नहीं नापा जा सकता जिससे उनका बीमा नहीं किया जा सकता जैसे बिक्री का जोखिम, व्यापारिक चक्र सम्बन्धी भय, सरकारी नीति में परिवर्तन का भय एवं प्राविधिक भय आदि।

नाइट का मत है कि जोखिम उन खतरों को कहा जाता है जिनके बारे में पूर्व ज्ञान होता है। अज्ञात जोखिम ही अनिश्चितता होती है जिसके बारे में कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। अतः साहसी को लाभ अनिश्चितता को सहन करने के बदले में ही प्राप्त होता है। **प्रो. नाइट** ने अनिश्चितता को उत्पत्ति का एक साधन माना है, जिसका अन्य साधनों की भाँति माँग मूल्य तथा पूर्ति मूल्य भी होता है।

अनिश्चितता को सहन करना भी उत्पत्ति का एक साधन माना जाता है और इसे भी माँग के आधार पर मूल्य प्राप्त होता है। अनिश्चितता की प्रत्येक इकाई उत्पादक होती है, इसी कारण से इसकी भी माँग होती है। अनिश्चितता-सहन की पूर्ति मूल्य भी होता है जो कि निम्न बातों पर निर्भर करती है :–

(i) साहसी के अपने कुल साधनों का अंश।

(ii) मनुष्य प्रायः ऊँचे लाभ से ही आकर्षित हो पाते हैं।

(iii) पूँजी लगाने वाले साधनों की मात्रा पर भी पूर्ति निर्भर करती है।

अनिश्चितता- सहन की पूर्ति उसकी माँग के बराबर होने पर ही साम्य की स्थिति उत्पन्न होती है। अनिश्चितता-सहन एवं पूँजी, दोनों ही पारितोषण पाते हैं और दोनों ही एक-दूसरे पर निर्भर करते हैं। अतः लाभ अनिश्चितता को सहन करने का ही प्रतिफल होता है। इस सम्बन्ध में **प्रो. बोल्डिंग** का मत है कि 'लाभ स्वामित्व सम्बन्धी कठिनाइयों को सहन करने एवं अनिश्चितता को उठाने के कारण ही प्राप्त होता है।'

आलोचनायें – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :–

(i) **अनिश्चितता में भी हानि** – कभी-कभी साहसी को भी अनिश्चितता सहन करने के बदले में लाभ के स्थान पर हानि सहन करनी होती है।

(ii) **माप करना कठिन** – अनिश्चितता को मापा नहीं जा सकता, जिससे लाभ की गणना करना भी सम्भव नहीं हो पाता।

(iii) **पूर्ति सम्बन्धी तत्व** – केवल अनिश्चितता ही साहसी की पूर्ति को प्रभावित नहीं करती, बल्कि लगान एवं पूँजी के अभाव आदि का भी प्रभाव पड़ता है।

(iv) **व्यावसायिक योग्यता** – लाभ अनिश्चितता का ही पुरस्कार न होकर व्यावसायिक योग्यता का पुरस्कार होता है।

(v) **स्वतन्त्रत साधन न होना** – अनिश्चितता को उत्पादन का स्वतंत्र साधन नहीं माना जा सकता। अनिश्चितता में अज्ञात जोखिम को भी सम्मिलित किया जाता है, जिससे उसका पुरस्कार ज्ञात करना कठिन माना जाता है।

(vi) **शुद्ध लाभ की व्याख्या नहीं** – इस सिद्धान्त में केवल आकस्मिक लाभ की व्याख्या की गयी है और शुद्ध लाभ की व्याख्या नहीं की गयी।

(vii) **अपूर्ण विचार** – **प्रो. नाइट** का लाभ विचार अपूर्ण है, क्योंकि उद्यम की पूर्ति केवल अनिश्चितता पर ही निर्भर नहीं होती।

NOTES

(6) **सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त** (Marginal Productivity Theory) – **प्रो. मार्शल** ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। साहस को भी उत्पादन का एक साधन माना गया है अतः अन्य साधनों की ही भाँति इसका पारिश्रमिक भी सीमान्त उत्पादकता के आधार पर ही निर्धारित किया जाता है। सीमान्त उत्पादन से आशय साहसी के अभाव में होने वाले उत्पादन एवं साहसी की सहायता से होने वाले उत्पादन के अन्तर से है। इसी सीमान्त उत्पादन के बराबर लाभ का निर्धारण होता है और सीमान्त उत्पादकता जितनी अधिक होगी लाभ की मात्रा भी उतनी अधिक मानी जाएगी। उत्पत्ति के साधन का पुरस्कार उसकी सीमान्त उत्पादकता से निश्चित होता है। यही सिद्धान्त उपक्रमी के बारे में भी लागू होता है। इसे चित्र- 2 से स्पष्ट कर सकते हैं:-

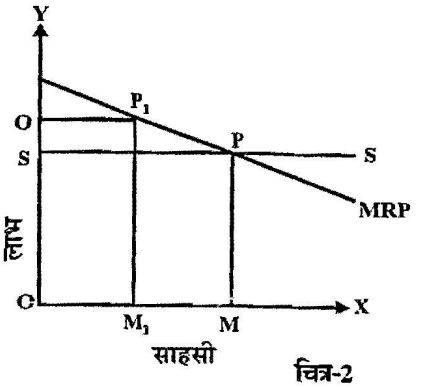

चित्र-2

आलोचनाएँ – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनायें निम्न हैं :-

(i) **अप्रत्याशित लाभ का अभाव** – इस सिद्धान्त में अप्रत्याशित लाभ की व्याख्या नहीं की जाती, क्योंकि इस लाभ का उत्पादकता से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है।

(ii) **सीमान्त उत्पादकता ज्ञात करना कठिन** – साहसी की सीमान्त उत्पादकता को ज्ञात करना कठिन होता है क्योंकि यदि व्यवसाय में एक ही साहसी हुआ तो उसे हटाने से तो सीमान्त उत्पादकता का पता लगाने के स्थान पर व्यवसाय ही बन्द हो जाएगा।

(iii) **एकपक्षीय** – यह सिद्धान्त साहसी की माँग पर ही ध्यान देने के कारण एकपक्षीय माना जाता है।

(iv) **निश्चित करना कठिन** – उत्पत्ति के अन्य समस्त साधनों का पुरस्कार साहसी तय करता है, परन्तु साहसी का पुरस्कार कैसे व कौन निश्चित करेगा यह कहना कठिन होगा।

(7) **लाभ की माँग एवं पूर्ति का सिद्धान्त** (Demand and Supply Theory of Profit) – लाभ का निर्धारण यह आधुनिक सिद्धान्त है जिसमें लाभ का निर्धारण साहसी की माँग पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है, जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य उसकी माँग एवं पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है उसी प्रकार से उद्यम के लाभ का निर्धारण भी माँग एवं पूर्ति के सिद्धान्त द्वारा होता है। इस सिद्धान्त के मुख्य पहलू निम्न हैं :-

(i) **साहसी की माँग** – साहसी की सीमान्त आगम उत्पादकता पर ही साहसी की माँग निर्भर करती है। सीमान्त उत्पादकता अधिक होने पर माँग भी अधिक होगी। इसके अतिरिक्त माँग पर निम्न बातों का भी प्रभाव पड़ता है :-

(अ) उद्योग एवं व्यवसाय में जोखिम की मात्रा।

(ब) औद्योगिक विकास की अवस्था।

(स) उत्पत्ति का पैमाना।

उद्योग का संगठन जटिल होने पर साहसी की माँग अधिक होगी। देश का तीव्र औद्योगिक विकास होने पर उत्पादन होने पर उत्पादन का आकार उतना ही अधिक होगा।

(ii) **साहसी की पूर्ति** – साहसी की पूर्ति भी अनेक बातों पर निर्भर करती है जैसे कि (अ) व्यवसाय में जोखिम की मात्रा, (ब) पूँजी की उपलब्धि, (स) औद्योगिक अनुभव, (द) समाज की स्थिति, (इ) साहसी की संख्या, (फ) जनसंख्या का आकार, (ज) आय का वितरण।

यदि समाज में सावधान व्यक्ति हैं तो जोखिम सहन करने वालों की संख्या सीमित होगी। इससे लाभ की दर भी कम होगी। इसके विपरीत यदि साहसी सावधान प्रकृति का नहीं है तो प्रतिफल की दर भी अधिक होगी।

पूर्ण प्रतियोगिता होने पर प्रतिफल एक ही होगा और पूर्ति रेखा एक पड़ी हुई रेखा होगी। चित्र-3 में असावधान प्रकृति के व्यक्तियों से पूर्ति AB है। इसी प्रकार से सावधान प्रकृति के व्यक्तियों के लिए पूर्ति रेखा C बिन्दु से प्रारम्भ होती है। इस प्रकार AB रेखा असावधान प्रकृति के व्यक्तियों से सम्बन्धित रहती है। बाजार में सावधान एवं असावधान दोनों ही प्रकार के व्यक्ति पाए जाते हैं।

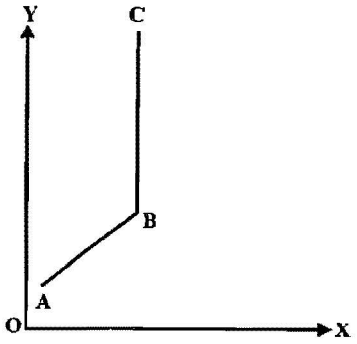

चित्र-3

चित्र-4

अपूर्ण प्रतियोगिता में जोखिम की पूर्ति रेखा दाहिनी ओर उठती हुई रहती है जैसा कि चित्र-4 में दिया है। यदि समाज में सावधान प्रकृति के लोग हैं तो उन्हें अधिक प्रतिफल प्राप्त होगा जो कि DC रेखा के रूप में है। इसके विपरीत समाज में असावधान प्रकृति के व्यक्तियों के रहने पर प्रतिफल कम प्राप्त होगा और पूर्ति रेखा नीचे रहेगी जैसी कि चित्र-4 में AB रेखा है।

(iii) **साम्य की स्थिति** – साहसी की माँग रेखा एवं साहसी की पूर्ति रेखा एक दूसरे को जिस बिन्दु पर काटती हों वहीं लाभ का सामान्य स्तर होता है। चित्र-5 में MR साहसी की माँग रेखा एवं SS साहसी की पूर्ति रेखा है। ये दोनों रेखायें एक दूसरे को P बिन्दु पर काटती हैं। अतः सभी उद्योग में AP लाभ का सामान्य स्तर है। अतः सभी साहसियों द्वारा केवल लाभ अर्जित करने पर ही सन्तुलन की अवस्था को प्राप्त किया जाता है। दीर्घकाल में साहसी उद्योग में उस समय तक प्रवेश करते या उसे छोड़ देते हैं जब तक कि उन्हें सामान्य लाभ प्राप्त नहीं हो जाता है। अल्पकाल में साहसी असामान्य लाभ भी अर्जित कर सकता है। अल्पकाल में NM साहसी होने पर उन्हें MR के बराबर लाभ प्राप्त होता है जिसमें से OR उनका असामान्य लाभ है, परन्तु दीर्घकाल में पूर्ण प्रतियोगिता की दशा में यह असामान्य लाभ समाप्त हो जाते हैं, परन्तु अपूर्ण प्रतियोगिता में साहसी दीर्घकाल में भी असामान्य लाभ अर्जित कर सकता है।

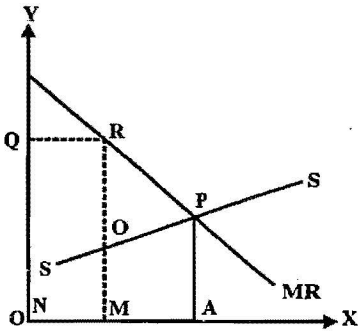

चित्र-5

सिद्धान्त की विशेषतायें – (Features of the theory) :– इस सिद्धान्त की मुख्य विशेषतायें निम्न हैं:–

(i) **सन्तुलित सिद्धान्त** – इसमें माँग एवं पूर्ति दोनों ही समान रूप से महत्वपूर्ण होने के कारण इसे एक सन्तुलित सिद्धान्त माना गया है।

(ii) **साधनों का प्रतिफल** – वितरण के क्षेत्र में उत्पादन के साधनों का प्रतिफल निश्चित करने में यह सिद्धान्त अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

(iii) **जोखिम का प्रतिफल** – इस सिद्धान्त में ये स्पष्ट हो जाता है कि लाभ जोखिम का प्रतिफल है।

(8) **लाभ का मजदूरी सिद्धान्त** (Wages Theory of Profit) – इस सिद्धान्त का प्रतिपादन टॉजिग (Taussig) एवं डेवनपोर्ट (Devenport) ने किया। इस सिद्धान्त के अनुसार लाभ मजदूरी का एक रूप माना जाता है। लाभ साहसी की एक प्रकार की मजदूरी है जो उसे उसकी विशेष योग्यता के कारण प्राप्त होता है। लाभ प्राप्त करने हेतु संगठन की कुशलता, जोखिम सहन करने की निपुणता आदि की आवश्यकता होती है, लाभ इन सभी गुणों का पुरस्कार होता है। जिस प्रकार श्रमिक को मजदूरी प्राप्त होती है, उसी प्रकार से साहसी को अपने कार्य के बदले जो मजदूरी प्राप्त होती है उसी को लाभ माना गया है। लाभ प्राप्ति में अनेक गुणों का होना आवश्यक है, लाभ इन्हीं गुणों का पुरस्कार होता है, अर्थात लाभ इन सभी गुणों की मजदूरी होता है। टॉजिग का मत है कि लाभ किसी संयोग के कारण प्राप्त नहीं होता, बल्कि यह व्यक्ति की विशेष योग्यता एवं गुणों के कारण प्राप्त होता है। वकील के श्रम की ही भाँति यह एक प्रकार का मानसिक श्रम है जिसके प्रतिफल को मजदूरी ही कहना चाहिए।

NOTES

लाभ के मजदूरी होनें के मुख्य कारण निम्न प्रकार हैं :-

(i) प्रायः वेतन प्राप्त मैनेजर, निरीक्षक आदि साहसी बन जाते हैं तथा कभी-कभी स्वतन्त्र साहसी ऊँचे वेतन प्राप्त करने वाले मैनेजर बन जाते हैं। अतः इन लोगों के श्रम में कोई अन्तर न होने से साहसी के श्रम का पुरस्कार मजदूरी का ही एक रूप होता है।

(ii) साहसी का कार्य भी श्रम की ही भाँति होता है जो कि शारीरिक श्रम न होकर मानसिक श्रम होता है जो कि मानसिक कुशलता एवं योग्यता पर निर्भर करता है। डॉक्टर, वकील, अध्यापक आय आदि अपने मानसिक गुणों के कारण ही प्राप्त करते हैं, जिसे वेतन कहा जाता है। साहसी की आय भी मानसिक गुणों का ही परिणाम होती है अतः उसकी आय को लाभ की मजदूरी ही कहा जाता है।

आलोचनायें – यह सिद्धान्त लाभ के औचित्य पर प्रकाश डालता है, परन्तु यह दोषपूर्ण है। इस सिद्धान्त का मुख्य दोष यह है कि यह लाभ व मजदूरी के अन्तर पर ध्यान नहीं देता। लाभ व मजदूरी में मुख्य अन्तर निम्न है जिस पर यह सिद्धान्त ध्यान नहीं देता :-

(i) अपूर्ण प्रतियोगिता में लाभ बढ़ता है, जबकि मजदूरी की प्रवृत्ति कम होने की होती है और यह श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता से कम ही रहती है।

(ii) साहसी का मुख्य कार्य जोखिमों व अनिश्चितताओं को झेलना होता है, जबकि मजदूरी व वेतन पाने वालों को किसी जोखिम या खतरे का सामना नहीं करना पड़ता। इसके विपरीत साहसी के खतरे संख्या में बहुत अधिक होते हैं।

(iii) लाभ में संयोग का तत्व अधिक रहता है, जबकि मजदूरी में वास्तविक प्रयासों की आय का ही भाग अधिक मात्रा में पाया जाता है।

(iv) असंगत तर्क – यह सिद्धान्त असंगत तर्कों पर आधारित है जिसमें लाभ व मजदूरी की मूल प्रकृति की उपेक्षा करके दोनों की समानता स्थापित करने का प्रयास किया गया है। अतः लाभ मजदूरी को पृथक रखना ही वैज्ञानिक रीति से उचित माना जाता है।

(9) **लाभ का समाजवादी सिद्धान्त** (Socialistic Theory of Profit) – यह सिद्धान्त कार्ल मार्क्स द्वारा प्रतिपादित किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार वस्तु का मूल्य उसमें प्रयोग हुए श्रम के द्वारा निर्धारित किया जाता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में श्रमिकों को पुरस्कार के रूप में उत्पादन का एक छोटा-सा हिस्सा ही प्राप्त हो पाता है और उत्पादन के अधिकांश भाग को लाभ के रूप में पूँजीपति स्वयं हड़प लेते हैं। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार लाभ प्राप्त होने का मुख्य कारण श्रमिकों का शोषण ही है, जो श्रमिकों के पुरस्कार से बचाकर प्राप्त किया जाता है। मार्क्स ने इसे कानूनी डाका (Legalised Robbery) माना है। मार्क्स ने लाभ को समाप्त करने का सुझाव दिया, क्योंकि इसके कारण श्रमिकों का शोषण किया जाता है।

आलोचनाएँ – इस सिद्धान्त की मुख्य आलोचनाएँ निम्न हैं :-

(i) लाभ साहसी के जोखिमों एवं अनिश्चितताओं के उठाने की योग्यता का प्रतिफल होने से सदैव साहसी की योग्यता पर निर्भर करता है। अतः लाभ श्रमिकों के शोषण का परिणाम नहीं होता है।

(ii) समाजवादी देश में भी लाभ को समाप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि वहाँ पर निजी उत्पादक के स्थान पर सरकार द्वारा लाभ प्राप्त किया जाता है।

(iii) वस्तु के मूल्य का एकमात्र कारण केवल श्रम ही नहीं होता, बल्कि उत्पत्ति के अन्य साधन भी वस्तु के उत्पादन में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

(iv) आलोचकों का मत है कि साहसी की महत्वपूर्ण सेवाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती, क्योंकि इनका भी महत्व बना रहता है।

(v) आलोचकों के अनुसार लाभ को कानूनी डाका मानना भी सर्वथा अनुचित है।

5.4 लाभ का मापन (Measurement of Profit)

NOTES

प्रबन्धकीय लेखांकन के अन्तर्गत कुल विक्रय आय और कुल लागतों का अन्तर लाभ कहलाता है, किन्तु अर्थशास्त्र में आर्थिक लाभ की गणना के लिए कुल आयों में से व्यक्त (Explicit) अथवा वास्तविक व्ययों के अतिरिक्त अन्तर्निहित अथवा गर्भित लागतों को भी घटाना पड़ता है।

प्रबन्धकीय दृष्टिकोण से लाभ की अर्थशास्त्री धारणा लेखांकन धारणा की तुलना में अधिक उपयुक्त एवं उपयोगी है, क्योंकि यही व्यवसाय की लाभदायकता का सच्चा पाप होता है। कारण यह हो सकता है कि एक फर्म वित्तीय लेखांकन के आधार पर लाभ कम रही हो किन्तु अर्थशास्त्री धारणा के आधार पर उसे हानि हो रही हो। दीर्घकाल में ऐसी फर्म को बाध्य होकर अपना व्यवसाय बन्द करना पड़ेगा।

वित्तीय लेखांकन में लाभ गणना में अल्पविधियाँ अपनायी जाने और सर्वमान्य सिद्धान्तों के अभाव में एक ही फर्म के लाभ की मात्रा अलग-अलग हो सकती है। अतः लाभ को आर्थिक लाभ में बदलने के लिए कुछ समायोजन करना अनिवार्य हो जाता है। जो निम्न प्रकार है:-

(1) **अन्तर्निहित लागतें** (Implicit Costs)- ये वे लागतें हैं जो किसी बाहरी साधन को भुगतान नहीं की जातीं बल्कि साहसी या उद्योगपति के स्वयं के उत्पादन साधनों, जैसे- स्वयं की पूँजी व भवन आदि के लिए देय मानी जाती हैं। वित्तीय लेखांकन में तो इन लागतों को सम्मिलित नहीं किया जाता है क्योंकि ये लागतें बाह्य साधनों को चुकाई नहीं जातीं, अतः मौद्रिक व्यय नहीं है किन्तु आर्थिक लाभ की गणना करने के लिए इन लागतों को घटाना आवश्यक है। अतः आर्थिक लाभ = लेखा लाभ (Accounting Profit) - अव्यक्त लागतें।

(2) **मूल्य ह्रास** (Depreciation)- ह्रास का आशय मूल्य में कमी से होता है। लेखांकन में इस शब्द का प्रयोग स्थायी सम्पत्तियों को पुस्तक मूल्य में कमी के लिए किया जाता है। ह्रास आयोजन के दो प्रमुख उद्देश्य होते हैं- (अ) मूल्य पूँजी को कम न होने देना और (ब) सम्पत्ति के प्रतिस्थापन की व्याख्या करना।

मूल्य ह्रास के प्रावधान के लिए निम्न पद्धतियाँ उल्लेखनीय हैं-

(1) **स्थायी किश्त पद्धति** (Fixed Instalment Method)- इस पद्धति के अन्तर्गत सम्पत्ति अपने जीवनकाल में समान रूप से घिसती है। अतः ह्रास प्रतिवर्ष एक समान आधार पर अनुमानित किया जाता है।

(2) **ह्रासमान शेष की पद्धति** (Diminishing Balance Method)- इस पद्धति के अन्तर्गत सम्पत्ति पर प्रतिवर्ष एक निश्चित प्रतिशत की दर से ह्रास काटा जाता है। चूँकि इस पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष ह्रास सम्पत्ति के घटते हुए शेष पर निकाला जाता है इसलिए इसे हासमान शेष पद्धति कहते हैं। उदाहरण के लिए, यदि सम्पत्ति की कीमत 1,000 रुपये है और ह्रास की दर 10% है तो प्रथम वर्ष में ह्रास 100 रुपये होगा। दूसरे वर्ष के प्रारम्भ में सम्पत्ति का अपलिखित मूल्य 1,000 - 100 = 900 रुपये होगा।

(3) **वर्षों के अंकों के योग की पद्धति** (Sum of the Years Digits Method)- इस पद्धति का मूल उद्देश्य भी ह्रासमान शेष पद्धति की भाँति ही है अर्थात् ऐसी व्यवस्था करना है कि सम्पत्ति की परिचालन लागत समान हो। सम्पत्ति के प्रारम्भिक जीवनकाल में ह्रास की राशि अपेक्षाकृत अधिक होती है और समय बीतने के साथ यह उत्तरोत्तर कम होती जाती है, जैसा कि ह्रासमान शेष पद्धति में होती है परन्तु ह्रासमान शेष पद्धति से यह विधि इसलिए भिन्न है क्योंकि यहाँ पर ह्रास का निर्धारण करने के लिए हर वर्ष सम्पत्ति का प्रारम्भिक मूल्य ही लिया जाता है। केवल ह्रास की वार्षिक दर में परिवर्तन होता है। ह्रास की यह परिवर्तनशील दर निम्न प्रकार से मालूम की जाती है-

(i) सम्पत्ति के जीवनकाल के अंकों को विपरीत क्रम में रखा जाता है जो कि प्रत्येक वर्ष के ह्रास के अनुपात का अंश (Numerator) होता है।

(ii) सम्पत्ति के आर्थिक जीवन के वर्षों का योग लगाया जाता है। यह प्रत्येक वर्ष के ह्रास के अनुपात का हर (Denominator) होता है।

NOTES

ह्रास पद्धतियों के लाभ पर पड़ने वाले प्रभाव की तुलना
(Comparison of Effect on Profits of Depreciation Methods)

यद्यपि ह्रास की उपर्युक्त तीनों विधियाँ वित्तीय लेखांकन की सामान्य स्वीकृत वैकल्पनिक विधियाँ है, किन्तु तीनों की लाभ की मात्रा पर पड़ने वाला प्रभाव अलग-अलग होता है। स्थायी किश्त पद्धति के अन्तर्गत सम्पत्ति के जीवनकाल में ह्रास की राशि प्रति वर्ष समान रहती है। अतः लाभों पर सम्पत्ति के प्रयोग का भार प्रतिवर्ष समान रहेगा, लेकिन ह्रासमान शेष पद्धति के जीवनकाल के प्रारम्भिक वर्षों में ह्रास का प्रभाव (Charge) अधिक होता है और बाद के वर्षों में निरन्तर घटता जाता है, जबकि वर्षों के योग की पद्धति के अन्तर्गत सम्पत्ति का ह्रास प्रारम्भिक वर्षों में अधिक और बाद के जीवनकाल में बहुत कम हो जाता है।

उदाहरण- किसी सम्पत्ति का मूल्य 20,000 रु. है और उसका जीवन काल 5 वर्ष है तथा सम्पत्ति का अवशेष मूल्य 2,000 रु. आँका गया है तो तीनों पद्धतियों में ह्रास की वार्षिक राशि सम्पत्ति के जीवनकाल में अग्रलिखित होगी-

ह्रास पद्धतियों के अन्तर्गत ह्रास राशि की तुलना

वर्ष	सरल रेखा पद्धति $D = \frac{C-S}{n}$	ह्रासमान शेष पद्धति $D = 100\left(1-\frac{\sqrt{S}}{C}\right)$	वर्ष के अंकों की योग की पद्धति $\frac{5\ 4\ 3\ 2}{15,15,15,15}$ तथा $\frac{1}{15}$ of net
प्रथम	3,600	7,380.8	6,000
द्वितीय	3,600	4,657.0	4,800
तृतीय	3,600	2,938.4	3,600
चतुर्थ	3,600	1,854.0	2,400
पाँचवाँ	3,600	1,169.8	1,200
ह्रास की कुल राशि	18,000	18,000.0	18,000

उपरोक्त सारणी से स्पष्ट होता है कि प्रथम वर्ष में ह्रास की राशि सरल रेखा पद्धति में 3,600 रु. है, जबकि ह्रासमान शेष पद्धति में ह्रास की राशि 7,380.8 रु. है और वर्षों के अंकों की योग पद्धति में 6,000 रु. ही है किन्तु द्वितीय वर्ष सरल रेखा पद्धति में राशि 3,600 रु. ही है जबकि ह्रासमान शेष पद्धति में 4,657.0 रु. जो कि वर्षों के अंकों के योग की पद्धति की अपेक्षा कम है और पाँचवें वर्ष में जहाँ सरल रेखा पद्धति में 3,600 रु. सबसे अधिक है, जबकि ह्रासमान शेष पद्धति में वर्षों के अंकों की योग पद्धति की अपेक्षा ह्रास राशि कम है।

लाभ पर प्रभाव- चूँकि फर्म का लाभ ह्रास की राशि घटाने के उपरान्त ही निकाला जाता है, इसलिए वित्तीय लेखांकन में सम्पत्ति का ह्रास लाभ-हानि खाते के नाम (Debit) में लिखा जाता है। अतः यदि फर्म का लाभ ह्रास की राशि घटाने के पूर्व प्रतिवर्ष 10,000 रु. हो तो ह्रास की विभिन्न पद्धतियों का लाभ पर प्रभाव निम्न प्रकार होगा-

लाभ पर विभिन्न ह्रास विधियों का तुलनात्मक प्रभाव

वर्ष	सरल रेखा विधि	ह्रासमान शेष पद्धति	वर्ष के अंकों के योग की पद्धति
प्रथम	10,000 - 3,600 = 6,400	10,000 - 7,380.8 = 2,619.2	10,000 - 6,000 = 4,000
द्वितीय	10,000 - 3,600 = 6,400	10,000 - 4,657.0 = 5,343	10,000 - 4,800 = 5,200
तृतीय	10,000 - 3,600 = 6,400	10,000 - 2,938.4 = 7,061.6	10,000 - 3,600 = 6,400
चतुर्थ	10,000 - 3,600 = 6,400	10,000 - 1,854.0 = 8,146	10,000 - 2,400 = 7,600
पाँचवाँ	10,000 - 3,600 = 6,400	10,000 - 1,169.8 = 8,830.2	10,000 - 1,200 = 8,800

शेष पद्धति में लाभ 2,619.2 रु. है, जबकि सम्पत्ति के जीवनकाल के अन्तिम वर्ष में सरल रेखा पद्धति में लाभ 6,400 रु. है, जबकि ह्रासमान शेष की पद्धति में लाभ राशि 8,830.2 रु. है और वर्षों के अंकों की योग पद्धति में उससे भी कम 8,800 रु. है। एक-सी मशीन होने पर भी भिन्न-भिन्न ह्रास पद्धतियाँ अपनाकर लेखा लाभ में लेखांकन विधि के कारण परिवर्तन सम्भव है।

सारांश में यही कहा जा सकता है कि सरल रेखा पद्धति के अपनाने से प्रारम्भिक वर्षों में लाभ अधिक दर्शाया जायेगा और बाद के वर्षों में कम होगा, जबकि ह्रासमान शेषों की पद्धति और वर्षों के अंकों के योग की पद्धति के अन्तर्गत लाभ प्रारम्भिक जीवनकाल में कम तथा बाद के जीवनकाल में अधिक होगा।

स्टॉक स्कन्ध मूल्यांकन
(Stock and Inventory Valuation)

व्यावसायिक फर्म के आर्थिक लाभ की गणना करने के लिए फर्म में स्टॉक तथा बचे हुए माल की मूल्यांकन विधि पर भी ध्यान देना पड़ता है, ताकि लेखाशास्त्रीय लाभ में आवश्यक समायोजन करना सम्भव हो सके। वित्तीय लेखों में स्टॉक मूल्यांकन की पद्धतियाँ निम्नलिखित हैं-

(1) **प्रथम आगमन प्रथम निर्गमन पद्धति** (FIFO Method)- इस पद्धति में भण्डारी उत्पादन के लिए पहले उस माल का निर्गमन करता है जो कि पहले आया हुआ होता है और जब तक पहले आया हुआ माल समाप्त नहीं हो जाता, तब तक नए आए हुए माल का निर्गमन नहीं किया जाता। इसके अन्तर्गत बचे हुए माल का मूल्यांकन अन्तिम मूल्यों पर किया जाता है क्योंकि इसमें यह मान्यता है कि पहले आने वाला माल पहले काम में आया, अतः जो शेष माल रह गया है, वह अन्तिम सौदों का शेष माल है, अतः उसका उसी क्रय मूल्य पर मूल्यांकन किया जाता है।

(2) **अन्तिम आगमन प्रथम निर्गमन पद्धति** (LIFO Method)- इस पद्धति में सबसे अन्त में आया माल सबसे पहले निर्गमन किया जाता है तथा बचे हुए स्टॉक का मूल्यांकन क्रय लागत पर किया जाता है क्योंकि यह पद्धति इस मान्यता पर आधारित है कि जो माल बाद में आया, वह पहले निर्गमित हुआ और जो शेष माल है, वह प्रारम्भिक क्रम का शेष है। इस पद्धति में निर्मित माल की लागत में वर्तमान प्रचलित क्रय लागत को जोड़ा जाता है जो वास्तविकता के निकट है।

(3) **भारित औसत पद्धति** (Weighted Average Method)- इस पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक खरीद मात्रा को उसके तात्कालिक मूल्य से गुणा करके उन सबका योग कर दिया जाता है और फिर कुल लागत मूल्य में कुल इकाइयों का भाग देने से भारित औसत मूल्य निकल आता है।

(4) **प्रतिस्थापन लागत पद्धति** (Replacement Cost Method)- इसके अन्तर्गत निर्गमित माल को उस लागत पर लिखा जाता है जिस पर उसे पुनः खरीद करके उसका प्रतिस्थापन किया जा सके। अतः अन्तिम स्टॉक की लागत की गणना के लिए कुल प्राप्त लागत में से बिक्री किए गए माल की लागत को घटा लेते हैं।

अमूर्त सम्पत्तियों व स्थगित व्ययों का समापन
(Amortization of Intangible Assets and Deferred Expenditure)

सामान्यतया व्यावसायिक फर्मों में कुछ अमूर्त सम्पत्तियाँ और स्थगित भुगतान होते हैं जिनका लाभ की गणना करते समय ध्यान रखना आवश्यक है। इन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-

(अ) **सीमित जीवन वाली सम्पत्तियाँ**- इस प्रकार की अमूर्त सम्पत्तियाँ, जैसे- लाइसेंस, कापीराइट, पेटेंट्स आदि का अधिकतम जीवनकाल विधान, अनुबन्ध अथवा सम्पत्ति की प्रकृति द्वारा निर्धारित होता है। इन सम्पत्तियों को इनके उपयोगी जीवनकाल में ही अपलिखित कर देना उचित रहता है, क्योंकि व्यवहार में इन सम्पत्तियों का उपयोगी जीवनकाल इनके कानूनी जीवनकाल से कम ही होता है।

(ब) **असीमित जीवन वाली सम्पत्तियाँ**- जहाँ तक असीमित जीवन वाली अमूर्त सम्पत्तियों और स्थगित व्ययों का प्रश्न है, जैसे- ट्रेड मार्क, व्यावसायिक ख्याति तथा प्रारम्भ में किया गया व्यय इनके निपटारे एवं अप्रलेखन के बारे में विद्वानों में मतभेद पाया जाता है, पर सामान्य धारणा इनके धीरे-धीरे अपलेखन की है। अतः प्रतिवर्ष हानि-लाभ खाते में एक निश्चित राशि डेबिट कर देनी चाहिए।

NOTES

5.5 सारांश

लाभ या प्रतिफल उत्पादन में जोखिम उठाने के फलस्वरूप का परिणाम है। प्रबंधकीय दृष्टिकोण से लाभ की अर्थशास्त्री धारणा लेखांकन धारणा की तुलना में अधिक उपयुक्त एवं उपयोगी है, क्योंकि यही व्यवसाय की लाभदायकता का सच्चा पाप होता है। वित्तीय लेखांकन में लाभ गणना में अल्पविधियाँ अपनायी जाने और सर्वमान्य सिद्धान्तों के अभाव में ___ ही फर्म के लाभ की मात्रा अलग-अलग हो सकती है।

बोध प्रश्न

1. लाभ की परिभाषा दीजिए तथा लाभ के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।

.....

.....

.....

2. लाभ के वर्गीकरण को समझाइए।

.....

.....

.....

5.6 अभ्यास प्रश्न

दीर्घउत्तरीय प्रश्न (Long Answer Type Questions)

1. लाभ किसे कहते हैं? कुल लाभ और शुद्ध लाभ के मध्य अन्तर बताइये।
   What is profit? Distinguish between gross profit and net profit.
2. कुल लाभ एवं शुद्ध लाभ में अन्तर बताइये। शुद्ध लाभ कैसे निर्धारित किया जाता है? व्याख्या कीजिए।
   Distinguish between gross profit and net profit. How is net profit determined? Explain.
3. लाभ के विभिन्न सिद्धान्तों पर विस्तृत टिप्पणी लिखिए।
   Write a detailed note on different theories of profit.
4. "लाभ के सिद्धान्त का उचित आधार अनिश्चितता है न कि जोखिम।" समीक्षा कीजिए।
   "Real base of the Theory of profit is uncertainity, not the bearing of risks." Discuss.
5. "लाभ का आधुनिक सिद्धान्त उत्पादन प्रक्रिया में साहसी का यह योगदान बताता है कि वह बीमा अयोग्य जोखिमों तथा अनिश्चितताओं को सहन करता है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए।
   "The contribution of entrepreneur in the process of production of modern theory of profit that profits is a payment of uncertainty bearing." Discuss this statement.
6. लाभ की परिभाषा कीजिए तथा लाभ के विभिन्न सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए।
   Define profits and explain various theories of profit.
7. लाभ कैसे निर्धारित किया जाता है? क्या इसको योग्यता का लगान कहा जा सकता है? समझाइये।
   How is profit determined? Can it be called the rent of ability? Explain.
8. "लाभ अनिश्चितता वहन करने का पुरस्कार है।" समझाइये।
   "Profit is payment for uncertainty bearing." Discuss.
9. लाभ की सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त को समझाइये।
   Critically examine the marginal productivity theory of profit.
10. लाभ के सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए तथा निम्नलिखित सिद्धान्तों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए-
    Mention the various theories of profits and criticially examine:

(a) The Innovative Theory of profit and

(ब) लाभ का जोखिम सिद्धान्त।

(b) The Risk Theory of profit.

11. लाभ के स्वभाव और आवश्यकता की विवेचना कीजिए। क्या यह उत्पादन लागत में प्रवेश करता है?
Discuss the nature and necessity of profit. Does it enter into cost of production?

12. सामान्य लाभ तथा अतिरिक्त लाभ में अन्तर बताइये। क्या साहसी का पुरस्कार उत्पादन लागत में प्रवेश करता है?
Distinguish between normal profit and surplus profit. Does the remuneration of the entrepreneur enter into the cost of production?

13. निम्न को विस्तार से समझाइए-
Discuss in detail the following:

(i) लाभ का सम्भाव्य विस्मय सिद्धान्त एवं

(i) Potential Surprise Theory of Profit and

(ii) प्राकृतिक लाभ का सिद्धान्त।

(ii) Naive Theory of Profit.

14. लाभ का अर्थ एवं प्रकृति स्पष्ट कीजिए। कुल लाभ और शुद्ध लाभ में अन्तर कीजिए।
Explain the meaning and nature of profit. Distinguish between Gross Profit and Net Profit.

15. लाभ का वर्गीकरण कीजिए।
Give the classification of profit.

16. लाभ नीति तथा लाभ निर्धारण की समस्या पर एक निबन्ध लिखिए।
Write an essay on 'Profit Policy and Problem of Determination of Profit.'

17. लाभ मापन की विधियों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।
Evaluate critically the methods of measurement of profit.

18. लाभ के पूर्वानुमान की विधियाँ स्पष्ट कीजिए।
Explain clearly the methods of profit forecasting.

लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Type Questions)

1. लाभ की परिभाषा कीजिये।
Define profits.

2. लाभ के सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिये।
Explain theories of profit.

3. लाभ कैसे निर्धारित किया जाता है?
How is profit determined?

4. लाभ का अर्थ एवं प्रकृति स्पष्ट कीजिये।
Explain the meaning and nature of profit.

5. लाभ मापन की विधियों का मूल्यांकन कीजिये।
Evaluate the methods of measurement of profit.

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (Objective Type Questions)

1. "लाभ प्रबंध की कमाई है" इस कथन के लेखक हैं?

(i) प्रो. हाले (ii) प्रो. नाइट (iii) प्रो. मार्शल (iv) प्रो. क्लार्क

NOTES

2. कुल लाभ में शामिल होता है–

(i) शुद्ध लाभ (ii) मजदूरी

(iii) लगान (iv) ब्याज

3. लाभ सदैव होता है–

(i) धनात्मक (ii) ऋणात्मक

(iii) धनात्मक व ऋणात्मक दोनों (iv) सभी गलत

4. लाभ के लगान सिद्धान्त के प्रतिपादक का नाम है–

(i) प्रो. क्लार्क (ii) प्रो. वाकर

(iii) प्रो. हाले (iv) प्रो.मार्शल

5. प्रो. नाइट के लाभ के सिद्धान्त का नाम है–

(i) लाभ का जोखिम वहन सिद्धान्त (ii) लाभ का माँग व पूर्ति का सिद्धान्त

(iii) लाभ का लगान सिद्धान्त (iv) उपरोक्त कोई नहीं

उत्तर 1 .(iii), 2.(i), 3.(i), 4 .(ii), 5 (iv).

4.7 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

डॉ. एस.सी. जैन, प्रबंधकीय अर्थशास्त्र–कैलाश पुस्तक सदन, भोपाल

अपनी प्रगति की जाँच करें
Test your Progress

सुझाव पत्र (विद्यार्थियों के लिये)

नाम — कार्यक्रम का नाम —

नामांकन नं. — कोर्स का नाम —

फोन नं.— सत्र —

ई–मेल आईडी —

प्रिय छात्र–छात्राओं,

विश्वविद्यालय के द्वारा दूरस्थ शिक्षण संस्था में पंजीकृत छात्र–छात्राओं को दी जाने वाली पाठ्यसामग्री को हमेशा बेहतर बनाने का प्रयास रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपके विचार एवं सुझाव आंमत्रित है, कृपया आपको प्रदान की जाने वाली पाठ्य–सामग्री के संबंध में अपने विचार एवं सुझाव 500 शब्दों में लिखकर प्रेषित करें, ताकि उक्त विचार एवं सुझाव का अमल करते हुये हम अपने पाठ्य सामग्री को और अधिक सरल, सहज एवं रोचक बनाया जा सकें।

सुझाव –

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

छात्र का नाम एवं हस्ताक्षर

सुझाव पत्र (विषय विशेषज्ञ/पाठ्यक्रम समन्वयक/कार्यक्रम समन्वयक के लिये)

नाम – पद –

विभाग/विषय – पता –

फोन नं.– सत्र –

ई–मेल आईडी –

प्रिय विषय विशेषज्ञ/पाठ्यक्रम समन्वयक/कार्यक्रम समन्वयक,

विश्वविद्यालय के द्वारा दूरस्थ शिक्षण संस्था में पंजीकृत छात्र–छात्राओं को दी जाने वाली पाठ्यसामग्री को हमेशा बेहतर बनाने का प्रयास रहा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु आपके विचार एवं सुझाव प्रार्थनीय है, कृपया आप इस पाठ्य–सामग्री के संबंध में अपने विचार एवं सुझाव 500 शब्दों में लिखकर प्रेषित करें, ताकि उक्त विचार एवं सुझाव का अमल करते हुये हम अपने पाठ्य सामग्री को और अधिक सरल, सहज एवं रोचक बनाया जा सकें।

सुझाव –

धन्यवाद,

नाम एवं हस्ताक्षर